ला.द. ग्रंथमाला : १६९

जैन धर्म में पर्याय की अवधारणा

संपादक:
डॉ. सिद्धेश्वर भट्ट
डॉ. जितेन्द्र बी. शाह

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर
अहमदाबाद

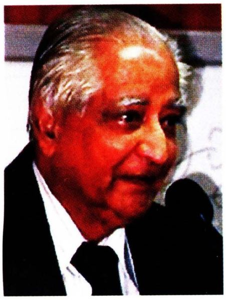

प्रो. एस. आर भट्ट – संस्कृत एवं दर्शनशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान हैं। आपने दिल्ली विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप में अविस्मरणीय सेवाएँ प्रदान की हैं। प्रो. भट्ट अखिल भारतीय दर्शन परिषद तथा ओल इण्डिया फिलोसोफिकल कांग्रेस के अध्यक्ष भी हैं। आपने ५० से अधिक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किये हैं। प्रो. भट्ट ने महाराजा-सयाजीराव गायकवाड़ विश्वविद्यालय, बडौदा में भी कुछ समय तक प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर सेवाएँ दी हैं। समग्र भारत सहित श्रीलंका, चीन, जापान, साउथ कोरिया, नोर्थ कोरिया, तुर्की, जर्मनी, अमेरिका आदि देशो में प्रो. भट्ट ने भारतीय धर्म दर्शन, तर्कशास्त्र, तुलनात्मक धर्मदर्शन का विविध पहलूओं पर संशोधन परक व्याख्यान दिए हैं। २१ पुस्तकों एवं २५० से अधिक शोधपत्रों के लेखक प्रो. एस. आर. भट्ट सम्प्रति दिल्ली स्थित भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद के चेयरमेन हैं।

ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर ग्रंथमाला - १६९

जैन धर्म में पर्याय की अवधारणा

संपादकः
डो. सिद्धेश्वर भट्ट
डो. जितेन्द्र बी. शाह

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर
नवरंगपुरा, अहमदाबाद ३८० ००९

जैन धर्म में पर्याय की अवधारणा
Jain Dharma me Paryaay kī avadhāraṇā

Editors :
Dr. S. R. Bhatt
Dr. J. B. Shah

Published by
Dr. J. B. Shah
Director
L. D. Institute of Indology
Ahmedabad 380 009 (India)
Phone : (079) 26302463 Fax : 26307326
ldindology@gmail.com

© L. D. Institute of Indology

Copies : 500

Price : Rs. 300/-

ISBN : 81-85857-53-9

Printed by
Navprabhat Printing Press
Ahmedabad 380 016
M : 9825598855

प्रकाशकीय

दो वर्ष पूर्व भोगीलाल लहेरचन्द इन्स्टिटयूट ऑफ इन्डोलोजी, दिल्ली में आयोजित प्रमाण मीमांसा की कार्यशाला के उद्‌घाटन समारोह में परमादरणीय प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट साहेब के साथ संवाद के दौरान जैन दर्शन् में पर्याय पुस्तक के विषय में चर्चा हुई थी। इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिए मैंने प्रो. भट्ट साहेब से विनंती की थी और साथ में साग्रह निवेदन किया कि इस ग्रंथ का प्रकाशन हमारे संस्थान लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर के द्वारा करने की अनुमति प्रदान करेंगे जो विद्वानों के लिए बहूपयोगी सिद्ध होगा। प्रो. भट्ट साहेब ने मेरे आग्रह को स्वीकार करने का अनुग्रह किया तथा यह ग्रंथ 20 विशिष्ट शोध आलेखों के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे आनंद की अनुभूति हो रही है। इस ग्रंथ में जैन दर्शन में पर्याय के संदर्भ में जैन दर्शन के विद्वानों ने सूक्ष्म चिन्तन किया है।

तेरापंथ के गणाधीश, विद्वान् जैन आचार्य महाप्रज्ञजी के "नय, अनेकान्त और विचार के नियम" शीर्षक आलेख में चिन्तन के दो बड़े क्षेत्रों भेद-अभेद की चर्चा है। जैन दार्शनिकों ने अभेद और भेद को समन्वित कर वैचारिक संघर्ष को कम करने का प्रयास किया है।

प्रो. भट्ट साहेब के आलेख में जैन दार्शनिक सिद्धान्तों की सुन्दर-समीक्षा की गई है। आज के विषादग्रस्त मानव एवं हिंसा से त्रस्त विश्व के लिए जैन आचार-विचार के सिद्धान्त नितान्त उपयोगी एवं लाभप्रद बताये हैं।

समणी मंगलप्रज्ञाजी ने जैन दर्शन में अस्तित्व की अवधारणा पर विवक्षा करते हुये बहुत ही सुन्दर कहा है कि अस्तित्व परिवर्तन एवं अपरिवर्तन का समवाय है। जैन परिणामवाद के सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य और पर्याय दोनों में परिवर्तन होता है। द्रव्य परिवर्तन से होते हुए भी अपने अस्तित्व को नहीं छोड़ता। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य का नवीनीकरण होने पर भी वह स्थिर रहता है।

समणी ऋजुप्रज्ञाजी ने द्रव्य-गुण-पर्याय अन्तर्गत भेदाभेद की चर्चा की है। वे कहती हैं कि यह निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है कि द्रव्य-गुण-पर्याय में मौलिक भेद नहीं है। व्यवहार से भेद व परमार्थ से अभेद अर्थात् भेदाभेद है।

प्रो. सागरमलजी जैन ने अपनी प्रस्तुति में जैन दर्शन की द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा का समीक्षात्मक अवलोकन किया है।

इस ग्रंथ में समाविष्ट सभी शोध-आलेख जैन धर्म में पर्याय की अवधारणा को विभिन्न आयामों से अध्ययन करते हैं ।

ज्ञातव्य हो कि द्रव्य एवं गुण के विषय में भारतीय दार्शनिकों ने गंभीर चिन्तन किया है किन्तु पर्याय के विशिष्ट सिद्धान्त का मात्र जैन धर्म-दर्शन में ही अनुशीलन हुआ है । प्रस्तुत ग्रंथ आधुनिक विद्वद् समाज के समक्ष 'जैन धर्म में पर्याय की अवधारणा'' के रूप में प्रथम प्रस्तुति है जिससे दार्शनिक विद्वानों एवं चिन्तकों को महत्तम लाभ मिल सकेगा । इस क्षेत्र में और अधिक चिन्तन एवं संशोधन हो ऐसी कामना !

ग्रंथ प्रकाशन में संस्थान के सभी कर्मचारियों के सक्रिय सहयोग के लिए धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ ।

अहमदाबाद **जितेन्द्र बी. शाह**

रथयात्रा, 2017

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति का पट विविध रंगी है जिसमें अनेक आचार और विचार, दर्शन और नीति की परम्पराओं का सम्मिश्रण एवं समन्वय है । इस सन्धात में जैन नय का महनीय स्थान है । आज के विषाद ग्रस्त मानव तथा हिंसा से त्रस्त विश्व के लिए जैन आचार-विचार के सिद्धान्त नितान्त सार्थक, उपयोगी एवं लाभप्रद हैं । इनका परिपालन विश्व में अहिंसा, शांति, सुख और समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

इस दृष्टि से भारत सरकार द्वारा संस्थापित भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् जैन नय के मौलिक ग्रन्थों एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर कार्यशालाओं तथा गोष्ठियों का आयोजन कर रही है । ऐसी एक गोष्ठी कुछ समय पूर्व दिल्ली के आध्यात्म साधना केन्द्र में 'पर्याय' के सिद्धान्त को लेकर आयोजित की गई थी जिसमें देश के अनेक सुप्रसिद्ध संतों एवं सुविद् जनों ने भाग लिया था । गोष्ठी में 20 संशोधन परक लेख हिंदी तथा 15 लेख अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत हुए थे । वर्तमान ग्रन्थ में हिन्दी भाषा में प्रस्तुत लेखों का समावेश हुआ है । अंग्रेजी भाषा के लेख पृथक् रूप से प्रकाशित हो रहे हैं ।

पर्याय की अवधारणा जैन दर्शन की विशिष्ट एवं अनूठी देन है । यह जैन मत के केन्द्रीभूत सिद्धान्त अनेकान्तवाद को आधार प्रदान करती है । जैन मत में अस्तित्व का स्वरूप द्रव्य, गुण और पर्याय के समन्वित रूप में प्रतिपादित हुआ है । पर्याय के ही कारण द्रव्य और गुण अनेकानेक रूपों में अभिव्यक्त होते हैं और अवस्था विशेष को प्राप्त होते हैं । द्रव्य, गुण और पर्याय में भेदाभेद संबंध है जिसे अविनाभाव के रूप में भी अभिहित किया गया है । पर्याय नित्यता और परिवर्तन के बीच समन्वय का काम करता है । पर्याय के ही कारण वस्तु या सत् में प्रतिक्षण परिणमन होता है । अतः यह अस्तित्व की क्रियाशीलता का द्योतक है । इसी से उत्पाद और व्यय संभव होता है ।

पर्याय का सिद्धान्त बहु-आयामी है । यह न केवल अनेकांतवाद तथा नयवाद को आधार प्रदान करता है और नित्यानित्य के समन्वय को प्रस्तुत करता है वरन् ज्ञानमीमांसा तथा मूल्य मीमांसा में भी नया योगदान देता है । इसके आधार पर प्रमाण और नय का भेद ज्ञानमीमांसा में होता है । इसी के परिणाम स्वरूप स्याद्वाद तथा सप्तभंगी नय की प्रस्तुति होती है । भाषाकीय विश्लेषण में द्रव्यार्थिक और नयार्थिक का भेद इसी का प्रकल्प है । आचार एवं मूल्य मीमांसा में महाव्रत तथा अणुव्रत के वर्गीकरण को इसी आधार पर भलीभांति समझा जा सकता है ।

पर्याय के सिद्धान्त का सबसे महत्वपूर्ण और विशिष्ट योगदान गणित एवं सांख्यिकी संभावित अभिवृद्धि को लेकर है । इन दोनों विधाओं में अभी तक परिमाणात्मक स्वरूप ही विद्यमान है परन्तु

पर्याय के सिद्धान्त के आधार पर इन्हें गुणात्मक स्वरूप प्रदान किया जा सकता है जो एक मौलिक एवं वांछित योगदान होगा। सांख्यिकी के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर महालनबीस ने इस दिशा में इंगित किया था। मैंने भी सन् 1985 में आयोजित तृतीय इन्टरनेशनल जैन कान्फरेन्स में अपने लेख में इस ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था। (द्रष्टव्य – The concept of Paryaya – A singular contribution of Jainism to world Philosophy, in proceedings of the Third International Jain conference, Ahinsa International, New Delhi, 1985) बाद में दिवंगत आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने भी इसी बात को अपने ग्रन्थ 'अनेकान्तवाद' में सूचित किया था। परन्तु अभी तक इस विषय पर अधिक विचार नहीं हो पाया है। देश-विदेश के गणितज्ञ एवं सांख्यिकी के विशेषज्ञों से अपेक्षा है कि इस पर शोधकर पाश्चात्यदृष्टि से प्रस्तुत परिमाणात्मक पक्ष को गुणात्मक आयाम देकर अभिवृद्धि करें। इससे कर्म के सिद्धान्त और विश्व के वैविध्य को भलीभाँति समझने में सहायता मिलेगी।

जैन आचार्यों ने पर्याय के सिद्धान्त की विशद व्याख्या की है और इसके अनेकानेक भेद-प्रभेद बताये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में समाविष्ट लेखों में इस बिन्दू विस्तार से विचार हुआ है। आशा है इस ग्रन्थ से इसके दार्शनिक पक्ष एवं ऐतिहासिक विकास को समझने में सहायता मिलेगी।

जैन नय में द्रव्य की तरह गुण और पर्याय वास्तविक हैं, प्रातिभाषिक नहीं। इनकी प्रतीति यथार्थ है और इनकी अनुभूति की प्रत्ययात्मक अभिव्यक्ति भी यथार्थ है। अतः उत्पाद-व्यय धर्मा होते हुए भी पर्याय वास्तविक हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में इस विषय पर विस्तार से विचार हुआ है। पर्यायों की क्रमबद्धता तथा पुरुषार्थ एवं सर्वज्ञता के सन्दर्भ में इस संबंध में उठे प्रश्नों पर भी यहाँ विचार हुआ है तथा जैन मत मान्य पंचकारण समवाय के आधार पर समुचित समाधान भी प्रस्तुत हुआ है। मेरी दृष्टि में ये प्रश्न पर्यायों के परिणमन को भली भाँति दृष्टि में नहीं रखने के कारण उठे हैं।

पर्याय की महत्वपूर्ण एवं अनूठी अवधारणा पर अभी तक कोई व्यवस्थित एवं प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। मैंने जैन दर्शन के अध्ययन और अध्यापन में इस विषय पर चिन्तन किया है। इसी विचार को लेकर अध्यात्म साधना केन्द्र, दिल्ली में मैंने एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की थी। इसमें जिन संतों एवं विद्वान-विदुषियों ने अपने आलेख प्रस्तुत किए इसके लिए उन्हें आभारपूर्वक धन्यवाद देता हूँ। इस ग्रन्थ को व्यवस्थित रूप प्रदान करने में आदरणीय जितेन्द्रभाई शाह की महत्वपूर्ण भूमिका एवं योगदान रहा है। इसके लिए इनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य सम्पन्न किया है एतदर्थ इसके पदाधिकारियों को धन्यवाद ज्ञापित करना चाहूँगा। आशा है सुधी पाठकों को तथा विद्याप्रेमियों को इससे ज्ञानलाभ होगा और इस विषय पर अधिक शोध करने की प्रेरणा मिलेगी।

01.01.2017

सिद्धेश्वर भट्ट
भूतपूर्व आचार्य एवं विभागाध्यक्ष,
दर्शनशास्त्र विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय

अनुक्रमणिका

१. नय, अनेकान्त और विचार के नियम	आचार्य श्री महाप्रज्ञजी	१
२. जैन दार्शनिक सिद्धान्त	सिद्धेश्वर भट्ट	६
३. जैन दर्शन में अस्तित्व की अवधारणा	समणी मंगलप्रज्ञा	२४
४. द्रव्य-गुण पर्याय : भेदाभेद	समणी ऋजुप्रज्ञा	३०
५. जैन दर्शन की द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा का समीक्षात्मक विवेचन	सागरमल जैन	३८
६. पर्याय की अवधारणा व स्वरूप	देवेन्द्रकुमार शास्त्री	५२
७. जैनदर्शन में पर्याय का स्वरूप	वीरसागर जैन	६८
८. शुद्धपर्याय का स्वरूप क्या है ?	नीतू जैन	७४
९. 'पर्याय' की अवधारणा में निहित दार्शनिक मौलिकता एवं विशेषता	सुदीप जैन	७८
१०. जैनदर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय भेदाभेदवाद की अवधारणा	अशोक कुमार जैन	८७
११. सत्ता का द्रव्यपर्यायात्मक पर्याय	राजकुमारी जैन	९७
१२. द्रव्य, गुण और पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध : सिद्धसेन दिवाकरकृत 'सन्मति-प्रकरण' के विशेष सन्दर्भ में	श्रीप्रकाश पाण्डेय	११४
१३. निश्चयनय और व्यवहारनय के आलोक में वर्णित पर्याय की अवधारणा	जयकुमार उपाध्ये	१२७
१४. पर्याय मात्र को ग्रहण करने वाला नय : ऋजुसूत्रनय	अनेकान्त कुमार जैन	१३४
१५. जैन दर्शन में पर्याय	कुलदीप कुमार	१४२
१६. पज्जमूढा हि परसमया	राकेश कुमार जैन	१४९
१७. पर्यायाधिकार	ब्र० कु० कौशल	१६५
१८. क्रमबद्धपर्याय	हुकमचन्द भारिल्ल	१७७
१९. जैनदर्शन में बौद्धसम्मत 'पर्याय' की समीक्षा	भागचन्द्र जैन	१८५
२०. जैन साधना पद्धति : मनोऽनुशासनम्	हेमलता बोलिया	१९५

१
नय, अनेकान्त और विचार के नियम

आचार्य श्री महाप्रज्ञजी

जैन दर्शन की विचार-सरणि पर चिन्तन करते समय हम सम्यक् दर्शन की उपेक्षा नहीं कर सकते। विचार ज्ञान का एक आयाम है। सम्यक् दर्शन मोह-विलय की चेतना का एक आयाम है।

हमारे पास जानने के दो स्रोत हैं — इन्द्रिय-चेतना और अतीन्द्रिय-चेतना। विचार का सम्बन्ध इन्द्रिय-चेतना से है। अतीन्द्रिय चेतना में दर्शन है, साक्षात्कार है, वहाँ विचार नहीं है।

जैन दृष्टि के अनुसार इन्द्रिय-चेतना से होने वाला ज्ञान द्रव्य के अंश का ज्ञान है, समग्र द्रव्य का ज्ञान नहीं है। इन्द्रिय-चेतना वाला व्यक्ति द्रव्यांश को जानता है। वह अंशज्ञान विवाद का विषय भी बनता है। पांच व्यक्ति किसी एक द्रव्य के पांच अंशों का ज्ञान करते हैं और अपने-अपने ज्ञान को सम्यक् मान दूसरे के ज्ञान को मिथ्या मान लेते हैं। इस मिथ्यावाद को सम्यग्वाद बनाने का एक उपाय खोजा गया, वह है नयवाद।

नय एक दृष्टि है, एक विचार है। **सिद्धसेन दिवाकर** ने लिखा-जितने वचन के पथ हैं, उतने ही नय हैं —

जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया।

यह विस्तारवादी दृष्टिकोण चिन्तन के क्षेत्र को दुर्गम बना देता है। श्रोता अथवा जिज्ञासु के लिए किसी निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन हो जाता है। इस समस्या को सुलझाने के लिए जैन आचार्यों ने संपूर्ण विचार के क्षेत्र निर्धारित किए —

१. **द्रव्यार्थिक नय** — ध्रौव्य अथवा नित्य के विषय में होने वाला चिन्तन।

२. **पर्यायार्थिक नय** — उत्पाद-व्यय अथवा अनित्य के विषय में होने वाला चिन्तन।

विचार की सुविधा और सत्यपरक के लिए इन दो क्षेत्रों का निर्धारण किया गया। वास्तव में ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय अथवा नित्य और अनित्य को सर्वथा विभक्त कर विचार को सत्यपरक नहीं बनाया जा सकता। ध्रौव्य का प्रतिपादन करने के लिए द्रव्यार्थिक नय और परिवर्तन का प्रतिपादन करने

के लिए पर्यायार्थिक नय की व्यवस्था की गई। ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष हैं। ध्रौव्य से विमुक्त परिवर्तन और परिवर्तन से विमुक्त ध्रौव्य कहीं भी नहीं है। फिर भी अस्तित्व के समग्र स्वरूप को समझने के लिए यह व्यवस्था अत्यंत समीचीन है। द्रव्यार्थिक नय ध्रौव्य अथवा अभेद का विचार करता है, किन्तु परिवर्तन का निरसन नहीं करता, प्रत्येक नय की अपनी सीमा है। वह अपने प्रतिपाद्य विषय के आगे किसी खंडन-मंडन में नहीं जाता। सापेक्षता का तात्पर्य यह है – नय समग्रता का आग्रह नहीं करता। वह समग्र के एक अंश का प्रतिपादन करता है। वह एकांश का विचार करता है, इसीलिए दूसरा अंश उससे जुड़ा हुआ है। यह जोड़ ही सापेक्षता है।

'जितने विचार, उतने नय' – इस वाक्य में सापेक्षता का सत्य अभिव्यक्त हुआ है। विचार का आधार कोई पर्याय है। पर्याय संख्यातीत होते हैं, इसलिए नय भी असंख्य हैं। असंख्य अंशों का समन्वय करने पर द्रव्य की समग्रता का बोध होता है। एक पर्याय को समग्र मानने का आग्रह मिथ्या दृष्टिकोण है। नय एकांतवाद है, फिर भी वह दृष्टि का मिथ्या कोण नहीं है। इसलिए नय की भूमिका में स्वस्थ चिन्तन का अवकाश है।

चिन्तन के दो बड़े क्षेत्र हैं – अभेद और भेद। अभेद के द्वारा व्यवहार का संचालन नहीं होता। भेद विवाद और संघर्ष का हेतु बनता है। तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में यह भेद ही संघर्ष को जन्म दे रहा है।

जैन दार्शनिकों ने अभेद और भेद का समन्वय कर वैचारिक संघर्ष को कम करने का प्रयत्न किया है। जीव और पुद्गल अथवा चेतन और अचेतन में भी सर्वथा भेद नहीं है। चैतन्य जीव का विशेष गुण है और पुद्गल चैतन्य-शून्य है। उसका विशेष गुण है – वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का चतुष्टय। विशेष गुण की दृष्टि से जीव और पुद्गल-दोनों भिन्न हैं। किन्तु प्रदेश की दृष्टि से दोनों भिन्न नहीं हैं। जीव के भी प्रदेश हैं और पुद्गल-स्कंध के भी प्रदेश हैं। ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व और परिणामित्व की दृष्टि से भी दोनों भिन्न नहीं हैं। अनेकान्त चिन्तन के अनुसार सर्वथा अभेद और सर्वथा भेद एकान्तवादी दृष्टिकोण हैं। उनके द्वारा सत्य की समीचीन व्याख्या नहीं की जा सकती।

अनेकान्त चिन्तन के आठ मुख्य क्षेत्र हैं –

१. सत्	२. असत्
३. नित्य	४. अनित्य
५. सदृश	६. विसदृश
७. वाच्य	८. अवाच्य

सत्-असत्

सत् की व्याख्या द्रव्य के आधार पर की जा सकती है। द्रव्य का ध्रौव्यांश सत् है। वह त्रैकालिक है-अतीत में भी था, वर्तमान में है और भविष्य में भी होगा। जहाँ ध्रौव्यांश का प्रश्न है, वहाँ केवल सत् है, असत् कुछ भी नहीं।

द्रव्य के पर्यायांश में सत् और असत् दोनों की व्यवस्था है। वर्तमान पर्याय सत् है। भूत और भावी पर्याय असत् हैं। इस सत्-असत् की सापेक्षता का विचार के विकास में बहुत योगदान है।

द्रव्य में दो प्रकार की क्रियाएं होती हैं –

१. **प्रतिक्षण होने वाली क्रिया** – इसके अनुसार निरन्तर परिवर्तन होता है। पहले क्षण में जो है, दूसरे क्षण में वह नहीं होता, उसका नय रूप बन जाता है। इस परिवर्तन का नाम है अर्थपर्याय।

२. **दूसरी क्रिया क्षण के अन्तराल से होने वाली क्रिया है**। इसकी संज्ञा व्यञ्जनपर्याय है।

अर्थपर्याय सूक्ष्म और क्षणिक होता है। व्यञ्जनपर्याय स्थूल और दीर्घकालिक होता है। अर्थ पर्याय द्रव्य को दूसरे क्षण के सांचे में ढालने का काम करता है। परिवर्तन के बिना पहले क्षण का द्रव्य दूसरे क्षण में अपने अस्तित्व को टिकाए नहीं रख सकता, इसलिए दार्शनिक दृष्टि से अर्थ पर्याय का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – ये तीनों समन्वित होकर सत् का बोध कराते हैं। इनका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि ध्रौव्य की दृष्टि में असत् कुछ भी नहीं है। असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता। असत् कभी सत् नहीं बनता और सत् कभी असत् नहीं बनता। उत्पाद-व्यय की दृष्टि में सत् असत् की व्याख्या कारण-कार्य सापेक्ष है। जो कारण रूप में सत् और कार्य रूप में असत् है, वह सत्-असत्-कार्यवाद है। मिट्टी के परमाणु-स्कंध मिट्टी के रूप में सत् हैं और घट के रूप में असत्। मिट्टी का घट बन जाता है, तब असत् से सत् के निर्माण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जा सकता है। जैन चिन्तन में असत् कार्यवाद और सत् कार्यवाद ये दोनों विकल्प मान्य नहीं हैं। तीसरा विकल्प-सत्-*असत्-कार्यवाद* को मान्य किया गया। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है, द्रव्यार्थिक नय को असत् कार्यवाद और सत् कार्यवाद दोनों मान्य नहीं हैं। कारण-कार्य का नियम पर्याय पर ही लागू होता है। पर्यायार्थिक नय कारण की दृष्टि से सत् और कार्य की दृष्टि से असत्-दोनों को मान्य कर सत्-असत् कार्यवाद की स्थापना करता है।

नित्य-अनित्य

नित्य और अनित्य के विचार का आधार सत् और असत् है। सत् का एक अंश है ध्रौव्य। उसका कभी उत्पाद और व्यय नहीं होता, इसलिए वह नित्य है। सत् का दूसरा अंश है पर्याय। उसमें उत्पाद-व्यय दोनों होते हैं, इसलिए वह अनित्य है। ध्रौव्य पर्याय से वियुत नहीं होता और पर्याय ध्रौव्य से वियुत नहीं होते, इसलिए सत् अथवा द्रव्य नित्यानित्य होता है। केवल नित्य और केवल अनित्य के आधार पर सत् व्याख्येय नहीं है। आकाश सत् है, इसलिए वह केवल नित्य नहीं है। पर्याययुत् होने के कारण वह अनित्य भी है। घट एक पर्याय है, इसलिए वह अनित्य है, किन्तु वह जिन परमाणुओं से बना है, वह परमाणुपुञ्ज सत् है, इसलिए घट नित्य भी है।

सदृश-विसदृश

द्रव्य में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण होते हैं। विशेष गुण के कारण द्रव्य विसदृश होता है। जीव में चैतन्य नामक विशेष गुण है, इसलिए वह परमाणु पुद्गल से विसदृश है। अनेकान्त दर्शन में सदृश और विसदृश सापेक्ष है। विशेष गुण की अपेक्षा विसदृश और सामान्य गुण के अपेक्षा सदृश इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से सर्वथा विसदृश नहीं होता। सामान्य गुण की अपेक्षा जीव और परमाणु पुद्गल में वैसदृश्य नहीं खोजा जा सकता। इस सिद्धान्त को व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा भी समझा जा सकता है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के सदृश नहीं है। 'जीव' की भिन्नता के कारण प्रत्येक मनुष्य, दूसरे मनुष्य से भिन्न है, किन्तु पांच इन्द्रियाँ, मन आदि सामान्य गुणों के कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों के तुल्य है।

वाच्य-अवाच्य

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध किए बिना व्यवहार का सम्यक् संचालन नहीं होता। अर्थ वाच्य है और शब्द वाचक। हम वाचक के द्वारा वाच्य का ज्ञान करते हैं। वाचक का सम्यक् प्रयोग होता है तो वाच्य का सम्यग् ज्ञान हो जाता है। वाचक का मिथ्या प्रयोग होने पर अर्थ का अवबोध नहीं हो सकता। नय की विचारणा में वाचक के सम्यक् प्रयोग पर सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया।

अर्थ के अनेक पर्याय हैं। सब पर्यायों को एक साथ नहीं कहा जा सकता। अनन्त पर्यायों को पूरे जीवन में भी नहीं कहा जा सकता। अनन्त पर्यायों का प्रतिपादन करने के लिए अनन्त वाचक चाहिए। हमारा शब्दकोश इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए बहुत छोटा है। इस दृष्टिकोण के आधार पर कहा जा सकता है – द्रव्य वाच्य नहीं है। हम द्रव्य के साथ एक पर्याय का कथन करते हैं। एक पर्याय के वचन के आधार पर उसे वाच्य नहीं कहा जा सकता।

वचन का व्यवहार विशेष या भेद के आधार पर होता है। अर्थ नय के द्वारा अभेद या सामान्य का अवबोध होता है। अभेद में शब्द प्रधान नहीं होता, अर्थ प्रधान होता है। शब्द नय में अर्थ का बोध शब्द के माध्यम से होता है। उसमें शब्द प्रधान होता है, अर्थ प्रधान नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान में वाच्य-वाचक का सम्बन्ध खोजना आवश्यक नहीं है। परोक्ष ज्ञान में वाच्य-वाचक के सम्बन्ध की खोज अनिवार्य है। अर्थ का शब्दाश्रयी ज्ञान चिन्तन और भाषा-दोनों को नया आयाम देता है। शब्दाश्रयी अर्थ ज्ञान का एक दृष्टिकोण है – दीर्घकालिक पर्याय की एक रूप में स्वीकृति, जैसे – अमुक मनुष्य था, है, और होगा।

कोशकारों ने एक अर्थ का ज्ञान कराने के लिए पर्यायवाची या एकार्थक शब्दों का संकलन किया है। समभिरूढ नय की दृष्टि में यह प्रयत्न निरर्थक है। एक अर्थ या पर्याय का ज्ञान एक शब्द के द्वारा हो सकता है। दूसरा शब्द वाचक नहीं हो सकता। तड़ितवान् और धाराधर-दोनों मेघ के पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु तड़ितवान् शब्द का निर्माण विद्युत के कारण हुआ है और धाराधर शब्द का निर्माण धारा निपात

के कारण हुआ है। इसलिए ये दो पर्याय हैं। एक शब्द इन दोनों पर्यायों का वाचक नहीं हो सकता। हर पर्याय की अभिव्यक्ति के लिए एक नए शब्द की अपेक्षा होती है।

शब्द अर्थ का बोध कराने के लिए जिस समय अर्थक्रियाकारी हो, उसका जो पर्याय विद्यमान हो, उसका वाचक शब्द सम्यक् अर्थ ज्ञान करा सकता है। मनुष्य शब्द के द्वारा मनुष्य संज्ञक अर्थ का बोध होता है। शब्द नय की दृष्टि में यह सम्यक् प्रयोग है। एवंभूत नय अर्थक्रियाकारी पर्याय को ग्रहण करता है, इसलिए मनन क्रिया के अभाव में मनुष्य नामक प्राणी को मनुष्य नहीं मानता। जो मनन करता है, वह मनुष्य है, इसलिए मनुष्य शब्द मनन क्रिया के क्षण में मनुष्य का वाचक बनता है। घट का उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। शब्द नय की विचारणा में एक निश्चित आकार वाला मिट्टी का पात्र घट कहलाता है। जलाहरण और जलधारण की क्रिया में जो प्रवृत्त नहीं है, एवंभूत नय, उसे घट शब्द का वाच्य नहीं मानता।

शब्द नय – घट घट है, भले फिर वह जलाहरण की क्रिया में प्रवृत्त हो या नहीं।

एवंभूत नय – घट इसलिए घट है कि वह जलाहरण की क्रिया कर रहा है। जिस क्षण वह जलाहरण की क्रिया नहीं कर रहा है, उस समय वह घट नहीं है।

एवंभूत नय का दृष्टिकोण अर्थज्ञान का विशुद्ध दृष्टिकोण है। उसके आधार पर रुढि से मुक्त होकर, गतिशील चिन्तन का विकास किया जा सकता है।

विचार के नियम

नय के आधार पर विचार के आठ नियम बनते हैं –

१. द्रव्य वास्तविक है। उसी के आधार पर विचार का विकास हुआ है।

२. द्रव्य शून्य विचार अवास्तविक है। उसे कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जिसका अर्थक्रियाकारित्व स्पष्ट है, उसे काल्पनिक नहीं माना जा सकता।

३. समग्र द्रव्य को जाना नहीं जा सकता-द्रव्य के सब पर्यायों को एक साथ जानने की हमारे ज्ञान में सामर्थ्य नहीं है।

४. समग्र द्रव्य को अभेद वृत्ति और अभेदोपचार से ही जाना जा सकता है।

५. द्रव्य को साक्षात् जानने का सामर्थ्य नहीं है। उसे पर्याय के माध्यम से ही जाना जा सकता है।

६. एक समय में एक पर्याय को ही जाना जा सकता है।

७. एक पर्याय के ज्ञान के आधार पर भावी अनन्त पर्यायों की व्याख्या नहीं की जा सकती, इसलिए सापेक्ष सत्य की व्याख्या करना उचित है।

८. अस्तित्व निरपेक्ष सत्य है। उसका पर्याय के आधार पर अनुमान किया जा सकता है, किन्तु उसका साक्षात् ज्ञान नहीं किया जा सकता।

२
जैन दार्शनिक सिद्धान्त

सिद्धेश्वर भट्ट

जैन दर्शन के सिद्धान्तों को तात्त्विक और नैतिक इन दो प्रकारों में वर्गीकृत कर पृथक्-पृथक् रूप से देखा जा सकता है, तथापि इन दोनों के अन्योन्याश्रित होने तथा एक-दूसरें में घुले मिले होने से हम एक साथ ही इनका विचार करेंगे । इस विश्व के निर्माण के कारण-रूप दो चरम पदार्थों को जैन दर्शन में स्वीकार किया गया है, जो जीव और अजीव के नाम से पुकारे गये हैं । पदार्थ को सत् या द्रव्य कहा गया है । दोनों द्रव्य पृथक् गुण-युक्त होने से यहाँ तात्त्विक द्वैतवाद मिलता है, परन्तु संग्रहनय की दृष्टि से, क्योंकि सब द्रव्यात्मक ही है, एकतत्त्ववाद को भी स्वीकार किया जा सकता है । जैन तत्त्वज्ञान की बौद्ध ज्ञान तत्त्व की तरह यह विशेषता है कि इसमें ईश्वर के रूप में किसी विश्वेतर चरम सत्ता को विश्व का कारण नहीं माना गया है । विश्व अनादि है, ईश्वर-निर्मित नहीं । जैन तत्त्वज्ञान की दूसरी विशेषता समन्वयात्मक दृष्टि है, जिसके अन्तर्गत एकतत्त्ववाद, द्वैतवाद, बहुतत्त्ववाद आदि समस्त विरोधों का सामञ्जस्यपूर्ण समाधान हो जाता है । इसमें औपनिषदिक नित्यवाद और बौद्ध क्षणिकवाद, चार्वाक का जड़वाद और वेदान्त के अध्यात्मवाद आदि का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है ।

जैन तत्त्वज्ञान में पदार्थ को अनन्तधर्मात्मक माना गया है । पदार्थ अपने अस्तित्व में नित्य है, परन्तु यह नित्यता परिवर्तनहीनता या अविनाशिता की द्योतक नहीं । नित्य का तात्पर्य है, पदार्थ के मौलिक स्वरूप का शाश्वत रहना — **तद्भावाव्ययं नित्यम्** । पदार्थ का गुण-रूप शाश्वत नहीं, अपितु परिवर्तनशील है । शाश्वत होने के कारण प्रत्येक पदार्थ ध्रौव्यात्मक अर्थात् नित्य है और अशाश्वत होने के कारण उसका गुणरूप उत्पाद-व्ययात्मक अर्थात् उत्पन्न और नष्ट होने वाला है । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है । इसी को जैन धर्म में त्रिपदी कहते हैं । पदार्थ में व्यय और ध्रौव्य दोनों का होना आत्मविरोध नहीं है, क्योंकि एक ही पदार्थ एक दृष्टि से स्थायी और दूसरी दृष्टि से परिवर्तनशील होता है । कोई भी पदार्थ न तो पूर्णतः स्थायी है और न पूर्णतः क्षणिक ।

तात्त्विक दृष्टि से मूलतः दो पदार्थ हैं — जीव और अजीव । अजीव के पुनः पाँच प्रकार हैं — पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इन सबका आगे विस्तार से विवेचन किया जाएगा । काल

को छोड़कर शेष सब द्रव्य स्कन्ध रूप हैं और इसीलिये अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय से तात्पर्य उस पदार्थ से है, जिसका अस्तित्व हो और जो 'प्रदेश-युक्त' हो, अर्थात् स्थान घेरता हो। इस दृष्टि से पदार्थों का द्विविध वर्गीकरण हो सकता है – अस्तिकाय और अनस्तिकाय, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है –

पदार्थ
- अनस्तिकाय
  - काल
- अस्तिकाय
  - जीव
  - अजीव
    - पुद्गल
    - १. धर्म
      २. अधर्म
      ३. आकाश

पुद्गल रूपवान् और इन्द्रियगत है, जबकि धर्म, अधर्म और आकाश रूपरहित हैं।

चेतना और भौतिकता की दृष्टि से भी मूलतः पदार्थों का द्विविध वर्गीकरण होता है, जो निम्न तालिका द्वारा व्यक्त है –

पदार्थ
- चेतन (जीव)
  - भौतिक (पुद्गल)
- अचेतन (अजीव)
  - अभौतिक
    १. धर्म
    २. अधर्म
    ३. आकाश
    ४. काल

उपरिलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि पदार्थ मात्र चेतन और अचेतन न होकर, अचेतन के अन्तर्गत पुनः भौतिक और अभौतिक रूप होते हैं। समस्त विश्व केवल इन पदार्थों से ही निर्मित है। जीव और अजीव तत्त्व कर्म के माध्यम से परस्पर संयुक्त हो सृष्टि-क्रम का निर्माण करते हैं।

यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से पदार्थों का द्विविध वर्गीकरण किया गया है, नैतिक दृष्टि से नौ प्रकार के तत्त्वों का भेद किया गया है – (१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) पुण्य (५) पाप (६) बन्ध (७) संवर (८) निर्जरा (९) मोक्ष। इन नौ तत्त्वों में जीव और अजीव के पदार्थों को समाविष्ट कर लिया गया है। हम इन नौ तत्त्वों पर क्रमशः विचार करेंगे।

जीव

जैन दर्शन में चेतन द्रव्य या पदार्थ को जीव के नाम से पुकारा जाता है – **चेतना लक्षणो जीवः।** वैसे, जीव की अपेक्षा आत्मा शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त है । आत्मा को बन्धन की अवस्था में ही जीव कहा जाता है । परन्तु आत्मा और जीव का यह भेद सदा ध्यान में नहीं रखा गया है । जीव की 'चेतना' को उपयोग या बोध के नाम से भी पुकारा गया है । जीव संख्या में असंख्य हैं, परन्तु सब गुणों में समान हैं । इस तरह जैन दर्शन में बहुजीववाद में गुणात्मक सारूप्य और परिमाणात्मक बाहुल्य मिलता है । जैन मान्यता के अनुसार सम्पूर्ण विश्व असंख्य जीवों से भरा पड़ा है । इसे हम जैन दर्शन में सर्वजीववाद का तत्त्व कह सकते हैं । प्रत्येक जीव यद्यपि स्वतन्त्र और पृथक् है, पर वह अन्य जीवों और तत्त्वों के साथ सम्बन्ध रख सकता है । बन्धन की अवस्था में जीव-अजीव अर्थात् देह से सम्बन्धित रहता है । देह जीव से जनित नहीं पर मात्र उसका तटस्थ गुण है । उसका देह के साथ समवाय सम्बन्ध है । वह और उसका विशिष्ट गुण दोनों देह के साथ समव्यापी हैं । जिस तरह दीपक का प्रकाश एक घड़े में सर्वत्र व्याप्त होता है, वैसे ही जीव देह में सर्वव्यापी होता है । यदि घड़ा छोटा होता है तो रोशनी का विस्तार छोटा और यदि घड़ा बड़ा होता है तो रोशनी का विस्तार बड़ा होता है, इसी तरह जीव भी देह के विस्तार के अनुसार संकुचन-विस्तार प्राप्त करता है । जीव का देहानुसार संकुचन-विस्तरण जैन दर्शन की एक अनोखी मान्यता है । जीव को एक अस्तिकाय माना गया है, जिसमें असंख्य प्रदेश होते हैं । यही कारण है कि वह घट-बढ़ सकता है। अन्य सब पदार्थों की तरह जीव भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की प्रक्रिया के अधीन है । जीव के दो पक्ष होते हैं, जिन्हें द्रव्य-पर्याय और गुण-पर्याय कहते हैं। द्रव्य-पर्याय शाश्वत रहता है, जब कि गुण-पर्याय परिवर्तनशील है।

प्रत्येक जीव अपने मूल स्वरूप में शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है । इस अवस्था में वह निर्मल दर्पण या स्वच्छ जल की तरह होता है । इस स्थिति में यह तीन रत्नों और चार अनन्तों से युक्त रहता है, जिन्हें क्रमशः सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र तथा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य कहा गया है । शुद्ध और मुक्त अवस्था में ये त्रिरत्न और अनन्त-चतुष्टय सभी जीवों में समान होते हैं । परन्तु बन्धन की अवस्था में ये कर्मों के आवरण से ढक जाने से उनमें भेद हो जाता है । वे अजीव के सम्पर्क में आकर, विभिन्न प्रकार की देह धारण कर लेते हैं । उनके ज्ञान में भी कर्मानुसार भेद हो जाता है । कर्मों के इस आवरण से, जिसे बन्ध की संज्ञा दी गई है, जीव के मौलिक गुण त्रिरत्न, अनन्त-चतुष्टय आदि कभी नष्ट नहीं होते । वे तो मात्र ढक जाते हैं, जिस तरह सूर्य बादलों से आच्छादित हो जाता है या मिट्टी के कण दर्पण के प्रकाश को ढक देते हैं । जीवगत ये विकृतियाँ और जीवों का पारस्परिक वैषम्य आगन्तुक है, कर्ममूलक है, स्वाभाविक नहीं है । इन वैषम्यों के कारण जीव के दो प्रकार माने जा सकते हैं – शुद्ध जीव जो मुक्त हैं, तथा संसारी जीव जो विकृत हैं । यह विकृति, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कर्म का परिणाम है । अज्ञान और राग-द्वेष कर्म के कारण हैं । सम्यक् दर्शन से सम्यक् ज्ञान की और सम्यक् ज्ञान से सम्यक् चरित्र की प्राप्ति होती है । इससे कर्म का क्षय होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

चेतना या उपयोग जीव का लक्षण हैं। उसके दो प्रकार हैं — निराकार और साकार। निराकार के चार प्रकार हैं — चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन। साकार के आठ प्रकार हैं — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और अवधि अज्ञान। जीव में क्रमानुसार इनकी क्रमिक उपस्थिति या अनुपस्थिति रहती है। केवलज्ञान ही पूर्ण सत्य ज्ञान है, जो केवल मुक्त जीव प्राप्त करता है। बद्ध जीव कर्म के बन्धन के कारण केवलज्ञान-सम्पन्न नहीं हो सकता।

बद्ध जीव के दो प्रकार हैं — स्थावर या अचल और त्रस या चल। वनस्पति आदि एकेन्द्रिय और अचल होने से स्थावर हैं। एकेन्द्रिय जीव या तो बृहत् या सूक्ष्म होते हैं। त्रस जीवों में दो या तीन या चार या पाँच इन्द्रियों से युक्त होने के आधार पर पुनः भेद हो जाता है। पँच-इन्द्रिय-सम्पन्न भी पुनः समनस्क और अमनस्क इन दो भेदों में विभाजित हैं।

जीवों में कर्मसंयोग से तीन प्रकार की शुभ और पाँच प्रकार की अशुभ विकृतियाँ होती हैं। शुभ विकृतियाँ निम्नलिखित हैं — (१) प्रशस्तराग अर्थात् सिद्धों, अर्हतों, साधुओं आदि के प्रति स्नेह एवं श्रद्धा तथा धार्मिक कार्यों को करने की इच्छा (२) अनुकम्पा अर्थात्, भूखे, प्यासे, दीन-दुःखी आदि जीवों के प्रति दया (३) क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से विमुक्ति। पाँच अशुभ विकृतियाँ निम्नलिखित हैं — (१) प्रमादबहुल चर्या (२) कालुष्य (३) विषयलौल्य (४) परपरिताप (५) परापवाद।

बद्ध जीवों के पाँच प्रकार के देहों की कल्पना की गई है — (१) औदारिक अर्थात् भौतिक (२) वैक्रिय अर्थात् लचीले द्रव्य से निर्मित (३) आहारक (४) तैजस् (५) कार्मण। इनमें से प्रत्येक परवर्ती देह अपने पूर्ववर्त्तियों से सूक्ष्मतर होता है। प्रथम चार के माध्यम से जीव अनुभव प्राप्त करता है, अतः इन्हें सोपयोग और अन्तिम को निरुपयोग कहते हैं।

अजीव

जिस पदार्थ में चेतना का अभाव हो, उसे अजीव कहते हैं। यह जीव की ही तरह नित्य और अनन्तधर्मा होता है। समस्त अचर विश्व अजीव का ही परिणाम है। जीव के सान्निध्य से अजीव विश्व की उत्पत्ति का कारण रूप है।

अजीव पाँच प्रकार के हैं — पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। भौतिक अणुओं को पुद्‌गल कहते हैं। इन्हें इसलिये पुद्‌गल कहा जाता है कि इनमें संयोग और वियोग की प्रक्रिया होती रहती है — **पुदयन्ति गलन्ति च**। स्वरूप की दृष्टि से पुद्‌गल दो प्रकार के होते हैं — अणु और स्कन्ध। जो अपने में ही आदि, मध्य और अन्त वाला हो तथा अविभक्त हो, उसे अणु या परमाणु कहते हैं। ये रूपरहित होने से इन्द्रियगत नहीं होते हैं। अणुभेद से उत्पन्न होते हैं (**भेदादणुः**)। अतः इन्हें कार्य-परमाणु कहते हैं। गुण की दृष्टि से अणु पाँच प्रकार के अणुओं का निर्माण करते हैं, कारण-परमाणु कहे जाते हैं। एक से अधिक अणुओं के संयोग से स्कन्ध अणु का निर्माण होता है। यह स्वरूपिन् और इन्द्रियगत होता है।

धर्म वह तत्त्व है जो जीव और पुद्गल तत्त्वों की स्वाभाविक गति को चलाये रखे । यह एक, सर्वव्यापी, स्थिर, शाश्वत और रूपहीन तत्त्व है । यह जीव और पुद्गलों की गति का कारण नहीं, अपितु सहकारी मात्र है । जिस तरह पानी मछली की गति का कारण नहीं, सहायक मात्र है, उसी तरह जीव व पुद्गल में गति का सामर्थ्य स्वाभाविक है, पर उसे कार्यान्वित धर्म की सहायता से ही किया जा सकता है ।

जीव और पुद्गलों की अगति या स्थिरता का आधार रूप तत्त्व अधर्म है । धर्म की तरह यह भी अगति का कारण न होकर सहायक मात्र है ।

अस्तिकाय द्रव्य प्रदेशवान् होने से स्थान घेरते हैं । जो द्रव्य अन्य समस्त द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है, आकाश कहा जाता है । आकाश के दो विभाग हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश । लोकाकाश वह है, जिसमें विश्व के समस्त पदार्थ समाहित हैं । विश्व से परे का आकाश अलोकाकाश है जो पदार्थ-शून्य है । धर्म और अधर्म लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं ।

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होता है । जो द्रव्य अन्य द्रव्यों के दशा-परिवर्तन में सहायक हो, काल कहलाता है । प्रत्येक पदार्थ अपने पर्याय रूप में परिवर्तनशील है । बिना काल परिवर्तन संभव नहीं है । काल के दो प्रकार हैं – पारमार्थिक और व्यावहारिक या समय । पारमार्थिक काल ही मूल काल है जो शाश्वत तत्त्व है । व्यावहारिक काल पारमार्थिक काल का सीमित रूप मात्र है, और उसका आदि और अन्त होता है । काल एकप्रदेशीय ही होने से अणु रूप है और अनन्त अणुओं से मिलकर बना है ।

आस्रव

जीव और अजीव स्वभावतः भिन्न, पृथक् एवं स्वतन्त्र द्रव्य हैं, परन्तु इस समस्त व्यावहारिक विश्व में दोनों संयुक्त पाये जाते हैं । यदि ये दोनों द्रव्य स्वतन्त्र एवं पृथक् हैं तो दोनों में समागम कैसे होता है ? इसी समस्या की व्याख्या के लिये आस्रव के तत्त्व को प्रस्तुत किया गया है । जीव और अजीव को जोड़ने वाला तत्त्व आस्रव कहलाता है । आस्रव ही आत्मा की विकृति और बन्ध का कारण है । **आश्रूयतेऽनेन कर्म इति ।** आस्रव ही आत्मा की विकृति और बन्ध का कारण है । इसमें कर्म के पुद्गल आत्मा से चिपक जाते हैं और उसके स्वभाव को आवृत कर देते हैं । कर्मों का जीव से संयुक्त होना ही आस्रव है । इस प्रक्रिया को समझाने के लिये दो प्रकार के दृष्टान्त दिये गये हैं । जिस तरह शहर का गंदा पानी नालियों में बहकर तालाब में एकत्रित होता है और तालाब की निर्मलता को नष्ट कर उसे गन्दा कर देता है, उसी तरह इस संसार की विषय-वासना का मल मन, वाचा और काया के माध्यम से आत्मा में एकत्रित हो, उसे विकृत कर देता है । अथवा, जिस तरह एक स्वच्छ धुले हुए गीले वस्त्र के ऊपर धूल के कण आकार चिपक जाते हैं और उसकी निर्मलता को आवृत कर देते हैं, उसी तरह कर्म के पुद्गल आत्मा से चिपककर, उसके शुद्ध स्वरूप को आवृत्त कर देते हैं ।

आस्रव दो प्रकार के होते हैं — भावाश्रव और द्रव्याश्रव। आत्मा की वह विकृति, जिससे उसमें कर्म-प्रवेश संभव हो, भावाश्रव है। द्रव्याश्रव कर्म पुद्‌गल है, जो आत्मा में प्रविष्ट होता है।

भावाश्रव के पाँच कारण होते हैं — (१) मिथ्यात्व (२) अविरत (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग। (१) जिसके कारण जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य, हित को अहित और अहित को हित तथा अजीव को ही जीव समझे, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। (२) इन्द्रियों और मन को वश में न रखकर दोषों से विरत न होना अविरत कहलाता है। (३) कर्त्तव्य के प्रति असावधानी प्रमाद कहलाती है। (४) कषाय उस भाव को कहते हैं जो जीव के स्वाभाविक गुणों का नाश करता है। यह चार प्रकार का होता है — क्रोध, मद, लोभ और माया। मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति को योग कहते हैं। तदनुसार तीन प्रकार के योग होते हैं — मनोयोग, कायायोग और वाचायोग। योग ही आस्रव का मूल कारण है। भावाश्रव कर्म पुद्‌गलों को आकर्षित करता है। इसके लिये कर्म करना पड़ता है। द्रव्याश्रव भावाश्रव से उत्तेजित कर्मों का फल है। ये आठ प्रकार के होते हैं, जिन्हें अन्तराय कहा जाता है। इनका विस्तृत विवेचन आगे कर्म के आठ प्रकारों के नाम से किया जावेगा।

पुण्य

शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप पुण्य का उपार्जन होता है। यह भी बन्धन को ही उत्पन्न करता है। पुण्य पाँच प्रकार के माने जाते हैं — दान पुण्य, मानसिक पुण्य, वाचा पुण्य, काया पुण्य और नमस्कार पुण्य। नमस्कार पुण्य के अन्तर्गत अन्न-पुण्य, पान-पुण्य, वस्त्र-पुण्य, लयन (आवास)-पुण्य और शयन-पुण्य आते हैं।

पाप

अशुभ कर्मों से पाप की प्राप्ति होती है। ये अठारह प्रकार के माने गये हैं — हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, माया, द्वेष, क्लेश, किसी पर झूठा दोष लगाना, चुगली करना, निन्दा, मिथ्यात्व, और वे सब क्रियाएँ जिनसे भय, शोक, किसी स्त्री या पुरुष से प्रेम या किसी वस्तु से आसक्ति उत्पन्न हो या जिसमें किसी की अनुचित हँसी हो। इन सब पापों में हिंसा सबसे बड़ा पाप मानी गयी है। इन पापों के परिणामस्वरूप जीव दुःख को प्राप्त करता है।

बन्ध

आस्रव, चाहे शुभ हो या अशुभ, बन्धन का कारण होता है। शुभ आस्रव से देवगति और अशुभ आस्रव से अधोगति प्राप्त होती है। शुभ और अशुभ आस्रव को ही क्रमशः पुण्य और पाप कहा जाता है। जब तक कर्मक्षय के द्वारा आस्रव का विनाश नहीं होता, तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

दो प्रकार के आस्रव पर आधारित दो प्रकार के बन्ध हैं — भाव-बन्ध और द्रव्य-बन्ध। वह चेतन की कषाय दशा, जिसके द्वारा जीव का कर्म से संसर्ग होता है, भावबन्ध है। कर्म के अणुओं का जीव में प्रवेश होने को द्रव्य-बन्ध कहते हैं।

चार प्रकार के बन्ध का वर्गीकरण किया गया है – प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभाग-बन्ध और प्रदेश-बन्ध । प्रकृति-बन्ध के अन्तर्गत आठ प्रकार के कर्मों द्वारा निसृत आवरण आता है । जीव के समस्त प्रदेशों में कर्म-अणुओं का प्रवेश प्रदेश-बन्ध कहा जाता है। कर्म-अणुओं का जीव में अनवरत आच्छादित करना बन्ध कहा जाता है। कर्म-अणुओं में प्रभावोत्पादक क्षमता, जिससे जीव को सुख दुःखादि के अनुभव प्राप्त होते हैं, अनुभाग-बन्ध कहा जाता है ।

जीव में, जैसा ऊपर कहा गया है, चार प्रकार के अनन्त होते हैं । इन्द्रिय विषय इन अनन्तों के उत्पादक नहीं वरन् अवच्छेक हैं । ये अनन्त जीव में नैसर्गिक रूप से निहित हैं, पर विषय-भोग इन्हें आवृत कर देता है। अजीव से संसर्ग जीव को विषयोन्मुखी बना देता है, क्योंकि अजीव इन्द्रियमय है और इन्द्रियाँ विषयोन्मुखी हैं । अतः जितना अधिक घना विषयों के प्रति राग होगा, उतना अधिक घना बन्ध होगा और आनन्त्य से उतनी ही दूरी होगी। उसके विपरीत जितना अधिक अजीव-जनित आवरण का विनाश होगा, उतना अधिक आनन्त्य से सामीप्य होगा ।

संवर

कर्म के क्षय से बन्धन का विच्छेद होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके लिये दो क्रमिक उपाय हैं – संवर और निर्जरा । कर्म के क्षय का तात्पर्य है, आस्रव के प्रवाह को रोकना और जिससे आस्रव रुकता है, उसे संवर कहते हैं । संवर-से नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है । संवर के अन्तर्गत जैन धर्म में अनेक विधि-निषेधों का विधान है, जिनकी चर्चा हम आगे जैन आचार धर्म के अन्तर्गत चरित्राचार में करेंगे ।

आस्रव एवं बन्ध की तरह संवर के भी दो प्रकार हैं – भावसंवर और द्रव्यसंवर। उस मानसिक वृत्ति का निरोध जो कर्मप्रवेश को संभव बनाती है, भावसंवर कहलाता है । कर्म के अणुओं के प्रवेश का रुकाव द्रव्यसंवर कहलाता है । संवर मोक्ष की प्राप्ति का सबसे महत्वपूर्ण साधन है ।

निर्जरा

संवर से नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, परन्तु संचित कर्म नष्ट नहीं होते। इसके लिये निर्जरा का विधान है । अकेला संवर मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं । नौका में छिद्रों द्वारा पानी आना आस्रव है। छिद्र बन्द करके पानी रोकना संवर है। जो पानी अन्दर आ चुका है – उसे उलीचना ही निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है – जर्जरित कर देना, झाड़ देना ।

निर्जरा के दो प्रकार हैं – औपक्रमिक या अविपाक तथा अनौपक्रमिक या सविपाक। कर्म का परिपाक होने के पहले ही तप आदि के द्वारा या विशिष्ट साधना से बलात् कर्मों को उदय में लाकर झाड़ देना औपक्रमिक निर्जरा है। अपनी नियत अवधि पूर्ण होने पर स्वतः कर्मों का उदय में आना और फल देकर हट जाना अनौपक्रमिक निर्जरा है । यह प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण होती रहती है ।

तपस्या द्वारा संचित कर्मों को क्षीण करना ही मुख्य निर्जरा है। परन्तु यह साधना सरल नहीं

है। इसके लिये समस्त पदार्थों में अनासक्ति व आत्मनिष्ठा अपेक्षित है। इस प्रकार की कठोर साधना को सकाम निर्जरा कहते हैं।

मोक्ष

जब कर्मक्षय से बन्ध को विनष्ट कर जीव अपने नैसर्गिक शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उस स्थिति को मोक्ष कहते हैं। ऐसा जीव सिद्ध कहलाता है। उसमें अनन्त चतुष्टयों – अनन्त श्रद्धा, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त शांति पुनः अभिव्यक्ति होने लगती है। वह लोक में निवास करता हुआ समाज के परम मंगल के सम्पादन में लगा रहता है। यह निष्कर्म दशा होती है, जिसमें समस्त कर्म-जनित बन्धन नष्ट हो जाते हैं। मुक्त दशा में आत्मा अशरीर, अनिन्द्रिय, अनन्त चैतन्यघन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि हो जाता है। वह समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है और फिर कभी भी विकारग्रस्त नहीं होता। इस तरह मोक्षदशा शाश्वत होती है। मोक्ष-लाभ ही मानव जीवन का चरम और परम पुरुषार्थ है। यही समस्त साधनाओं का सार है।

गुणस्थान

सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिये मुमुक्षु का आध्यात्मिक विकास उसी क्षण नहीं हो सकता, प्रत्युत उसे इस उत्क्रान्ति मार्ग में अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रमशः बढ़ना पड़ता है। मोक्ष-मार्ग के इन सोपानों को जैन धर्म में गुणस्थान कहा जाता है। गुण का तात्पर्य है – जीव की विशेषता या भाव और स्थान का तात्पर्य है – उनकी विभिन्न-स्तरीय स्थितियाँ। जीव के पाँच प्रकार के भाव हैं –

१. कर्मों के उदय से होने वाला भाव, जिसे औदयिक कहते हैं।

२. कर्मों के क्षय से होने वाला भाव, जिसे क्षायिक कहते हैं।

३. कषाय के शमन से होने वाला भाव, जिसे औपशमिक कहते हैं।

४. क्षयोपशम से होने वाला भाव, जिसे क्षयोपशमिक कहते हैं।

५. जो कर्मों के उदय आदि से न होकर स्वाभाविक हो, उसे पारिणामिक कहते हैं।

गुणस्थान १४ हैं, जो जीव की निम्नतम अवस्था से लेकर उच्चतम अवस्था तक का स्पर्श करते हैं। ये निम्नलिखित हैं –

१. **मिथ्यात्व** – जो जीव की भ्रमित एवं विवेकहीन दशा का सूचक है।

२. **सासादन ग्रन्थिभेद** – इसमें सदसद् का कुछ विवेक उदय होने लगता है।

३. **मिश्रदृष्टि** – इसमें मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की मिश्र दशा रहती है।

४. **अविरत सम्यग्दृष्टि** – इसमें सम्यग्दृष्टि या सत्यज्ञान होता है, पर आत्म-संयम नहीं होता।

५. **देशविरति** – इसमें आत्मसंयम आंशिक रूप से प्राप्त होता है।

६. **प्रमत्त संयत** – इसमें आत्मसंयम होता तो पूर्ण है, परन्तु कदाचित् च्युत होने की संभावना रहती है।

७. **अप्रमत्त संयत** – इसमें अच्युतपूर्ण आत्मसंयम होता है ।

८. **निवृत्ति बादर संपराय** – अपूर्वकरण का आचरण करने वाला वह जीव, जिसमें वासना स्थूल रूप में रहती है ।

९. **अनिवृत्ति बादर संपराय** – अनिवृत्तिकरण का आचरण करने वाला, जिसमें अपूर्वभावों का अनुभव होता है तथा वासना भी रहती है ।

१०. **सूक्ष्मसंपराय** – इस स्थिति में वासना सूक्ष्म रूप से रहती है ।

११. **उपशांतमोह** – इसमें वासना का दमन मात्र होता है और सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होती है ।

१२. **क्षीणमोह** – इसमे वासना का क्षय हो जाता है, पर सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होती ।

१३. **सयोगी केवली** – इसमें जीव सर्वज्ञ हो जाता है, पर कर्मरत रहता है ।

१४. **अयोगी केवली** – इसमें जीव सर्वज्ञ हो जाता है और कर्मविरत भी हो जाता है ।

ये गुणस्थान इस तथ्य पर आधारित हैं कि जीव पर कर्मों के आवरण की गहनता अनेक-स्तरीय है । अतः जीव के स्वाभाविक गुणों के ह्रास एवं विकास की दशाएँ भी अनेक हैं । मोटे तौर पर इन्हें तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है –

१. मिथ्यादर्शी – बहिरात्मा,

२. सम्यग्दर्शी – अन्तरात्मा,

३. सर्वदर्शी – परमात्मा ।

चौदह गुणस्थानों में से प्रथम तीन भूमिका तक का जीव बहिरात्मा कहलाता है, चौथी से बारहवीं तक का अन्तरात्मा और शेष दो भूमिका वाला परमात्मा कहलाता है । वैसे तो जीव का उत्थान-प्रवाह विभक्त नहीं किया जा सकता, तथापि सुगमता हेतु से १४ प्रकार के गुणस्थानों का विभाजन किया गया है। विश्व के समस्त जीवों का, उनकी चाहे कोई भी अवस्था क्यों न हो, अन्तर्भाव किसी न किसी गुणस्थान में अवश्य हो जाता है ।

आचार धर्म – ऊपर जैन धर्म के तत्त्वज्ञान पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है । अब हम उसके आचार पक्ष का विचार करेंगे । मुक्ति के मार्ग पर चलने के लिये जीव की सांसारिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए दो पृथक् मार्गों का विधान है – अगार धर्म और अनगार धर्म । गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए मुक्ति मार्ग की साधना करना अगार धर्म है, जिसे श्रावक धर्म भी कहते हैं । जो विशिष्ट साधक गृहत्याग कर साधु-जीवन अंगीकार करते हैं, उनका आचार अनगार धर्म कहलाता है । यद्यपि श्रावक और साधु मुक्ति की साधना के लिये जिन व्रतों का पालन करते हैं, वे मूलतः एक ही हैं, परन्तु दोनों की

परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं । अतः उनके व्रत-पालन की मर्यादा में भी भिन्नता होती है । जिन व्रतों का साधु कठोरतापूर्वक पालन कर सकता है, उन्हें श्रावक आंशिक रूप से ही पालन कर सकता है । यही कारण है कि साधुओं को महाव्रती और श्रावकों को अणुव्रती कहते हैं ।

रत्नत्रयी – जिस तरह हिन्दू धर्म श्रवण, मनन और निदिध्यासन को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते है, उसी तरह जैन धर्म भी सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चरित्र नामक रत्नत्रयी का प्रतिपादन करते है ।

दर्शन का तात्पर्य है जैन धर्मशास्त्रों एवं धर्माचार्यों तथा उनके उपदेशों में श्रद्धा । श्रद्धा ज्ञान को सार्थक करती है । बिना श्रद्धा ज्ञान का मूल्य नहीं और न ही श्रद्धा के बिना ज्ञान की प्राप्ति ही होती है। सद्विचार की दृढ़ता या स्थिरता ही श्रद्धा है । श्रद्धा में विवेक है, अन्धविश्वास नहीं । सम्यक् दृष्टि वाले मनुष्य की भावना नाटक के पात्र के समान हो जाती है । जो सुख-दुःख उठाते हुए भी अपने को सुखी या दुःखी नहीं समझता । उसे इहलोक-भय, परलोक-भय, वेदना-भय, मरण-भय, चोरी का भय, अपमान का भय और आकस्मिक भय नहीं होता । सम्यक्त्व प्राप्त होने पर उसकी भावना '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' जैसी हो जाती है ।

बन्ध का मूल कारण अज्ञान जनित कषाय है । अतः ज्ञान से ही बन्ध का निवारण संभव है। शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित समस्त सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का यथार्थ एवं गंभीर ज्ञान प्राप्त करना भी श्रद्धा के समान आवश्यक एवं उपादेय है । श्रवण किये गये सिद्धान्तों पर मनन कर सही ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है । सही ज्ञान वह है, जो मुक्तिदायक है । ज्ञान के दो प्रकार हैं – श्रुतज्ञान और केवलज्ञान । केवलज्ञान, श्रुतज्ञान की पराकाष्ठा है । इसके अन्तर्गत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग आते हैं। प्रथमानुयोग द्वारा जीवन के पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है । करणानुयोग द्वारा समय का परिवर्तन, स्थानों का विभाग और जीवन की चारों अवस्थाओं का ज्ञान होता है । चरणानुयोग से कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान होता है । द्रव्यानुयोग द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है ।

सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान की चरितार्थता सम्यग् चरित्र में होती है । जिस ज्ञान को चरित्र-निर्माण में उपयोग नहीं, वह सम्यग् ज्ञान नहीं कहा जा सकता । ज्ञान के सिद्धान्तों को यदि जीवन में नहीं उतारा जाए, व्यवहार में यदि उनका आचरण नहीं किया जाए तो वे व्यर्थ हैं । सम्यक् चरित्र सर्वोत्तम और सर्वाधिक महत्त्व का है, क्योंकि इस से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

धर्मविधि – सम्यग् दृष्टि, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की प्राप्ति के लिये जैन धर्म में कुछ विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया गया है, जिन्हें धर्मविधि और चरित्राचार कहते हैं । हम पहले धर्मविधि और बाद में चरित्राचार का वर्णन करेंगे । धर्मविधि के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के व्रतों का समावेश होता है । जीवन को संयमित करने वाली मर्यादाएँ नियम कहलाती हैं और सार्वभौम नियम व्रत कहे जाते हैं ।

१. **महाव्रत –** समस्त प्रकार के व्रतों में महाव्रत सर्वश्रेष्ठ हैं । ये पाँच हैं – (१) **अहिंसा –**

मन, वचन और कर्म से हिंसा नहीं करना, करवाना नहीं और न ही करने वालों का अनुमोदन करना। (२) **सत्य** – सत्य, हितकारी और प्रिय वचन बोलना, असत्य भाषण नहीं करना, करवाना नहीं और करने वालों का अनुमोदन करना नहीं। (३) **अस्तेय** – चोरी नहीं करना और दूसरों की गिरी हुई या भूली हुई वस्तु नहीं उठाना। वस्तु जीव के विकास का साधन है। अतः चोरी करना दूसरों के जीवन के विकास को अवरुद्ध करना है। (४) **ब्रह्मचर्य** – विवाह नहीं करना और इन्द्रियसंयम रखना। (५) **अपरिग्रह** – सांसारिक वस्तुओं में ममता न रखकर, उनका त्याग करना।

इन महाव्रतों के देश-काल से अबाधित होने से इनका अनिवार्य रूप से पालन होना चाहिये। इन व्रतों का संन्यासियों को दृढ़तापूर्वक पालन करना होता है, जबकि श्रावकों को यथाशक्ति इनका पालन करना चाहिये। इसीलिये श्रावकों के लिये इन्हें **अणुव्रत** कहते हैं। ये मूलव्रत हैं। इन मूल व्रतों को मद्य, मांस, मदिरा आदि के त्याग के साथ मूलगुण के नाम से पुकारते हैं।

२. **गुणव्रत** – महाव्रतों और अणुव्रतों का अच्छी तरह से पालन हो सके, इसके लिये कुछ और भी व्रत बताये गये हैं, जिन्हें गुणव्रत और शिक्षाव्रत कहते हैं। गुणव्रत निम्नलिखित हैं – (१) **दिग्व्रत** – अमुक दिशा में अमुक दूरी तक ही चलना इत्यादि पर्यटन पर नियन्त्रण इसमें आता है। इससे विचरण-क्षेत्र सीमित होने से तृष्णा और आवश्यकतायें घट जाती हैं। (२) **भोगोपभोग-संयमव्रत** – खाने, पीने, पहिनने आदि में संयम रखना, जिससे कि मन और इन्द्रियों को वश में रखा जा सके। उपयोग की वस्तुयें मर्यादित रखना और आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का उपयोग नहीं करना। (३) **अनर्थदंडत्यागव्रत** – जिन बातों या कार्यों से हिंसा होती हो, उनका परित्याग करना।

३. **शिक्षाव्रत** – गुणव्रतों के अलावा चार शिक्षाव्रत भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिनका लक्ष्य जीव को भौतिक मोह से छुड़ाकर, शान्ति एवं शुद्धि प्रदान करना है। ये निम्नलिखित हैं – (१) **सामायिक** – राग-द्वेष का परित्याग करना, दुःख में अनुद्विग्न और सुख में निःस्पृह होना। इसके लिये स्तुति, वन्दन, पाठ, ध्यान और तप करना चाहिये। (२) **प्रतिक्रमण** – पाप का प्रायश्चित करना और पुनः पाप नहीं करना। (३) **पौषध** – विशेष अवसरों पर उपवास करना (४) **वैयावृत्य** – पात्रों को दान आदि देना।

४. **चरित्राचार** – धर्मविधि का महत्त्व संचित कर्मों का क्षय कर मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करना है। यह निर्जरा के अन्तर्गत आता है। इससे पूर्व संवर की प्रक्रिया होती है, जिसमें चरित्राचार के नियमों का समावेश होता है। ये निम्नलिखित हैं –

(१) **यतिधर्म** – क्षमा, मार्दव (अमद), आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य और आकिंचन्य।

(२) **गुप्ति** – गुप्ति का तात्पर्य है रक्षा करना। तीन प्रकार के योगों – मनोयोग, वाचायोग और कायायोग – को वश में रखना तथा उन्हें असत्य प्रवृत्ति से हटाकर, आत्माभिमुख करना ही त्रिगुप्ति कहलाता है। मनोगुप्ति में मनोयोग पर संयम होता है। इसके अन्तर्गत किसी प्रकार के बुरे विचार मन में नहीं लाने

होते हैं। इससे एकाग्रता की प्राप्ति होती है। वाचागुप्ति के अन्तर्गत वाणी पर संयम रखना होता है। असत्य या अप्रिय वचन का निषेध इसके अन्तर्गत आता है। इससे निर्विकारता प्राप्त होती है। कायागुप्ति में शरीर पर नियन्त्रण रखा जाता है।

(३) **आचार** — पवित्र कार्य करना आचार कहलाता है। ये पाँच प्रकार के होते हैं — ज्ञानाचार (शास्त्रों को पढ़ना), दर्शनाचार (तत्त्वों का ज्ञान), चरित्राचार (अशुभ का परित्याग और शुभ का आचरण), तपाचार (तप करना) और वीर्याचार (अपनी शक्ति का सदुपयोग करना)।

(४) **भावना** — हृदय में पवित्र भाव रखना भावना कहलाती है। भावना से दोष सूक्ष्म हो जाते हैं। मन की कलुषता भावना से नष्ट हो जाती है। भावना चार प्रकार की होती है —

मैत्री — अहिंसा निषेधात्मक गुण है और मैत्री उसका विधायक पक्ष है। मनुष्य को न केवल *समस्त प्राणियों की हिंसा से ही विरत रहना चाहिये वरन् उनकी सहायता भी करनी चाहिये।*

प्रमोद — इसका तात्पर्य दूसरों के सुख, शान्ति, समृद्धि एवं ऐश्वर्य को देखकर, ईर्ष्या न करते हुए प्रसन्न होना है।

कारुण्य — इसका अर्थ दीन और दुःखी प्राणियों की सेवा करना है।

माध्यस्थ — जो अज्ञानी है, उनके प्रति उपेक्षा की भावना न रखना और क्रोध नहीं करना माध्यस्थ कहलाता है।

(५) **अनुप्रेक्षा** — इन चार भावनाओं के अतिरिक्त अन्य बारह प्रकार की भावनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनका चिन्तन आवश्यक माना गया है।

(६) **समितियाँ** — समिति का तात्पर्य सदाचार या उत्तम व्यवहार होता है। समितियाँ पाँच हैं — (१) **ईर्या समिति** — नीचे की ओर देखकर चलना, जिससे जीव हिंसा न हो (२) **भाषा-समिति** — सत्य, प्रिय एवं हितकारी वचन बोलना तथा वाणी में निष्कपट माधुर्य होना। (३) **एषणा-समिति** — अपवित्र वस्तुओं की इच्छा न करना। (४) **आदान-निक्षेपण-समिति** — वस्तुओं को झाड़-पोंछकर, उनका आदान-प्रदान करना। (५) **उत्सर्ग-समिति** — मलमूत्र का निक्षेपण इस प्रकार करना कि उसमें दोष या जीवहानि न हो।

(७) **अनाचीर्ण** — बावन ऐसे निषिद्ध कर्म हैं, जिनका आचरण नहीं करने का उपदेश दिया गया है। इन्हें अनाचीर्ण कहते हैं।

(८) **नित्यकर्म** — साधना में नित्य स्फूर्तता के लिये छः नित्यकर्मों का विधान है —

(१) **सामायिक** अर्थात् द्वन्द्व-विमुख समभाव (२) **स्तवन** — तीर्थंकरों का गुण-कीर्तन (३) **वन्दना** — पंच परमेष्ठियों का पूजन और पूजनीय पुरुषों का आदर करना (४) **प्रतिक्रमण** — अशुभ से

निवृत्ति और प्रायश्चित (५) **कायोत्सर्ग –** शरीर से ममत्व हटाने का अभ्यास (६) **प्रत्याख्यान –** बुरे कर्मों का त्याग ।

(९) **परिषह –** ऊपर बताये गये विधान साधारण लोगों के लिये हैं, पर संन्यासियों के लिये कुछ अधिक कठोर नियम बनाये गये हैं । प्रत्येक संन्यासी को बाईस प्रकार के कष्टों को सहन करना पड़ता है, जिन्हें परिषह कहते हैं । ये निम्नानुसार हैं – भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि को सहन करना, नग्न रहना, याचना नहीं करना, रति नहीं करना, किसी भी वस्तु का लोभ नहीं करना, मच्छर आदि जीव-जन्तुओं को काटने देना, रोग होने देना, दुःख नहीं करना, द्वेष नहीं करना, अच्छी जगह सोने को न मिले तो दुःख न करना, दूसरों के क्रोध करने पर भी क्षमा करना, कोई मारे तो दुःख नहीं करना, आवश्यक वस्तुयें न मिलें तो दुःख नहीं करना, चलने में कष्ट होने पर व पैरों में कंटकादि लगने पर दुःख न करना, शरीर पर मैल रहने का दुःख न मानना, कोई निन्दा करे तो उसे सहना, अपने ज्ञान के अभिमान को रोकना, सिद्धि न मिलने पर दुःख न करना, कोई अपनी प्रशंसा या आपकी निन्दा करे तो समान भाव रखना, किसी प्रकार की मुसीबत सामने आये तो सहन करना और कर्त्तव्य से च्युत न होना ।

जैन धर्म की मोक्ष-साधना-विधि विश्व की कठोरतम साधनाविधि है । इसमें जिन व्रतों, संयमों का विधान है, उनका पालन करने के लिये एक विशेष तरह की जीवन-पद्धति आवश्यक है ।

जैन साधु वैराग्य और त्याग की साक्षात् प्रतिमा होते है । उन्हें जीवन-पर्यन्त श्रमणत्व बनाये रखने के लिये निरन्तर जाग्रत रहने की आवश्यकता होती है ।

संलेखना व्रत – जैन धर्म का सबसे अनुपम व्रत स्वेच्छा से मृत्यु को अंगीकार करना है, जिसे संलेखना व्रत कहते हैं । यहाँ मृत्यु को मोक्ष-प्राप्ति में सहायक के रूप में स्वीकार किया गया है । महावीर स्वामी का कथन है, 'मृत्यु से भयभीत होना अज्ञान का फल है । मृत्यु कोई विकराल दैत्य नहीं है । मृत्यु मनुष्य का मित्र है, और उसके जीवन भर की कठोर साधना को सत्फल की ओर ले जाती है । मृत्यु सहायक न बने तो मनुष्य ऐहिक धर्मानुष्ठान का पारलौकिक फल – स्वर्ग और मोक्ष – कैसे प्राप्त *कर सकता है ? जैन धर्म का सन्देश यह है कि जब तक जीओ, विवेक और आनन्द से जीओ, ध्यान* और समाधि की तन्मयता में जीओ, अहिंसा और सत्य के प्रसार के लिये जीओ और जब मृत्यु आये तब आत्मसाधना की पूर्णता के लिए पुनर्जन्म में अपने आध्यात्मिक लक्ष्य सिद्धि के लिये मृत्यु का भी समाधिपूर्वक वरण करो ।' मृत्यु के समय यदि साधक मोह का त्याग नहीं कर पाया तो उसके समस्त *प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं और वह सिद्धि से वंचित रह जाता है । अतः इसके लिये अभ्यास करने का* विधान है । अठारह प्रकार की मृत्युओं में विभेद करके समाधि-मरण को सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है । समाधि-मरण अंगीकार करने वाला महासाधक सब प्रकार की मोह-ममता को दूर करके, शुद्ध आत्मा-स्वरूप के चिन्तन में लीन होकर समय-यापन करता है ।

कर्मवाद – सभी भारतीय धर्मों में एक ऐसे तत्त्व को स्वीकार किया गया है, जो जीव को प्रभावित करता है । उसे स्वीकार किये बिना जीवों में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली विषमता की, तथा एक ही जीव

में विभिन्न कालों में होने वाली विरूप अवस्थाओं की संगति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इस तत्त्व को 'कर्म' के नाम से पुकारा गया है। प्रत्येक धर्म में कर्म का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का है। परन्तु जैन धर्म में प्रतिपादित कर्म का सिद्धान्त अपने ढंग का अनूठा है। इसमें कर्म को पौद्गलिक माना गया है। कर्म-द्रव्य सम्पूर्ण विश्व में सूक्ष्म कण के रूप में व्याप्त है। वही कर्म-द्रव्य योग के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में सूक्ष्म कण के रूप में व्याप्त है। वही कर्म-द्रव्य योग के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं और 'कर्म' कहलाने लगते हैं। प्रत्येक जीव स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। कर्म विजातीय द्रव्य होने से जीव में विकृति उत्पन्न करते हैं और उसे पराधीन बनाते हैं। इस तरह कर्म के द्वारा आत्मा बन्धन को प्राप्त होता है। कर्म जीव को आच्छादित करने वाला सूक्ष्म आवरण है। यह अपने परमाणुओं द्वारा समस्त जीव को घेरे रहता है। कर्मबद्ध आत्मा विश्व की समस्त वस्तुओं को अनुकूल और प्रतिकूल मानकर दो भागों में बाँट लेता है। यही राग-द्वेषवृत्तियों का उद्गम-स्थल है। इन्हीं वृत्तियों से कर्म-द्रव्यों का आकर्षण होता है। जब तक आत्मा में राग-द्वेष की सत्ता है, तब तक प्रत्येक क्रिया कर्म का रूप धारण कर आत्मा के लिये बन्धनकारक बनती जाती है।

मूलतः कर्म दो प्रकार के हैं – द्रव्यकर्म और भावकर्म। पौद्गलिक अणु द्रव्यकर्म हैं। राग-द्वेष आदि विषय भावकर्म हैं। दोनों में द्विमुख कार्यकारणभाव है। द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है। आशय यह है कि पूर्वसंचित द्रव्यकर्म जब अपना विपाक देते हैं तो जीव में भावकर्म और उन भावकर्मों से पुनः द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं। यह क्रम अनादि है, परन्तु उसका अन्त हो सकता है।

जैन ग्रन्थों में कर्म के प्रभाव की दृष्टि से आठ भेदों और अनेक उपभेदों का वर्णन बड़े विस्तार में मिलता है। कर्म के आठ भेद निम्नलिखित हैं –

(१) **दर्शनावरणीय** – यह सामान्य अवलोकन को अवरूद्ध करता है।

(२) **ज्ञानावरणीय** – इससे यथार्थ तत्त्वज्ञान अवरुद्ध होता है।

(३) **वेदनीय** – इसके प्रभाव से सुख और दुःख की संवेदना होती है।

(४) **मोहनीय** – इसके प्रभाव से मनोविकार उत्पन्न होते हैं, जो सम्यग् दर्शन और सम्यक् चरित्र में बाधक होते हैं।

(५) **आयुकर्म** – इससे आयु या जीवन-अवधि निश्चित होती है।

(६) **नामकर्म** – इससे विभिन्न योनियाँ और गति निर्धारित होती हैं।

(७) **गोत्रकर्म** – इससे भावी जन्म का कुल, जाति, परिस्थिति आदि का निर्धारण होता है।

(८) **अन्तरायकर्म** – इससे सत्कर्म करने और अभीष्ट की प्राप्ति में बाधा पहुँचती है।

जीवों का कर्म से अनादि-काल से सम्बन्ध चला आया है। अलग-अलग समय में अलग-अलग कर्म के पुद्गल जीव के साथ सम्बन्धित होते रहते हैं। पुराने कर्मों का क्षय होता रहता है और नये कर्म संयोजित होते रहते हैं। इस तरह बन्धन की अवस्था में जीव कभी भी कर्म से मुक्त नहीं होता है। संवर और निर्जरा के विधानों के अन्तर्गत प्रतिपादित आचारों से कर्म का क्षय होता है। ज्यों-ज्यों कर्म का अधिकाधिक क्षय होता जाता है, त्यों-त्यों जीव का स्वाभाविक स्वरूप प्रकट होता जाता है। जब पूर्णतया कर्मक्षय होता है, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होता है, परन्तु कर्म का फल भोगने में कर्म के अधीन होता है। 'शुभ करो शुभ होगा', 'अशुभ करो अशुभ होगा' – यही कर्मवाद का सिद्धान्त है। 'आत्मा ही सुख और दुःख उत्पन्न करने और न करने वाला है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र है।'

फल देने के लिये कर्म स्वयं शक्तिमान् है। इसके लिये उसे किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं। किसी रहस्यात्मक या ईश्वरीय सत्ता की पराधीनता को जैन धर्म अस्वीकार करता है। शुभाशुभ फल देने की शक्ति कर्म स्वयं रखते हैं। परिवर्तित होना परमाणुओं का स्वयं का गुण है। यह किसी ईश्वर की शक्ति पर अवलम्बित नहीं है। हमारी क्रिया कर्म के परमाणुओं को हमारी आत्मा के साथ जोड़ती है।

निरीश्वरवाद – विश्व के अधिकांश धर्मों में एक सर्वोच्च, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक सत्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना की गई है। जैन धर्म में, इसके विपरीत, ईश्वर के अस्तित्व का ही खंड़न किया गया है। हिन्दूधर्म में जगत् के कर्त्ता एवं रक्षक के रूप में जो एक ईश्वर की कल्पना की गई है, उसका महावीर स्वामी ने सबल युक्तियों के आधार पर खंडन करने का प्रयास किया है। स्याद्वादमञ्जरी आदि परवर्ती जैन दर्शन-ग्रन्थों में ये युक्तियाँ पर्याप्त विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ व्यक्त हुई हैं। जैन दर्शन में विश्व के जड़ और चेतन पदार्थ अनादि और अनन्त माने गये हैं। इनका कोई कर्त्ता नहीं माना गया है। विश्व का वैचित्र्य कर्मों का फल माने गये है। यद्यपि यहाँ एक सर्वोच्च ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है, परन्तु ईश्वरत्व के गुण को अस्वीकार नहीं किया गया है। कर्म के बन्धन से रहित समस्त जीव ईश्वर माने गयें हैं – **परिक्षीण सकल कर्मा ईश्वरः**। ऐसे जीव वन्दनीय और पूजनीय होते हैं। चौबीस तीर्थङ्करों को इसी रूप में ईश्वर मानकर पूजा जाता है।

प्रार्थना–मन्त्र – वैसे तो जैन धर्म में अनेक प्रार्थना-मन्त्र हैं, परन्तु उन सबमें परमेष्टि-मन्त्र सबसे अधिक महत्त्व का माना गया है। यह निम्नलिखित है –

णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणम्।
णमो ऊवज्झायणं, णमो लोए सव्व साहूणम्॥

अर्थात्, अर्हतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, जगत् के सभी साधुओं को नमस्कार। इन पाँच परमेष्टियों की स्तुति करने वाला यह मंत्र सर्वपाप-विनाशक और मंगलदायक माना गया है।

पर्युषण पर्व – जैन धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव पर्युषण के नाम से जाना जाता है। इसे श्वेताम्बर एक सप्ताह और दिगम्बर दो सप्ताह तक मनाते हैं। इस समय व्रत, उपवास किये जाते हैं, उपाश्रयों में धार्मिक प्रवचन सुने जाते हैं और अन्य धार्मिक क्रियायें की जाती हैं। पर्युषण के अन्तिम दिन क्षमा-याचना की विधि की जाती है। वैसे, क्षमायाचना प्रतिदिन करने का विधान है, परन्तु इस समय उसके करने का विशेष महत्त्व माना गया है। क्षमायाचना करते समय निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण किया जाता है –

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ति मे सव्व भूयेसु वेरं मज्झं न केण वि ॥

अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। समस्त जीवों के प्रति मैं मैत्री भावना रखता हूँ, किसी के प्रति मेरा वैर नहीं है।

अहिंसा – जैन धर्म की अहिंसा का सिद्धान्त विश्व धर्म को एक विशिष्ट देन है। यद्यपि यह सिद्धान्त विश्व के अनेक धर्मों में प्रतिपादित किया गया है, लेकिन जितनी महत्ता से इसका प्रतिपादन और जितनी दृढ़ता से इसका पालन जैन धर्म में हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। '**अहिंसा परमो धर्मः**' यह जैन धर्म का सार है। यही भावना विचार के क्षेत्र में जैन दर्शन में अनेकान्तवाद में प्रतिफलित होती है, जिससे स्याद्वाद और नयवाद के सिद्धान्त निकलते हैं। इसी से जैन आचार में सहिष्णुता, समभाव और सह-अस्तित्व के गुण प्रकट हुए हैं।

अनेकान्तवाद – जैन दर्शन के अनुसार विचार अनेक हैं और बहुत बार वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु उनमें भी एक सामञ्जस्य है, अविरोध है और जो उसे भली भाँति देख सकता है, वही वास्तव में तत्त्वदर्शी है। परस्पर विरोधी विचारों में अविरोध का आधार वस्तु का अनन्तधर्मात्मक होना है। एक मनुष्य जिस रूप में वस्तु को देख रहा है, उसका स्वरूप उतना ही नहीं है। मनुष्य की दृष्टि सीमित है, परन्तु वस्तु का स्वरूप असीम है। उसमें अनन्त धर्म और अनन्त प्रदेश होते हैं। प्रत्येक वस्तु द्रव्यरूप में नित्य होने पर भी पर्यायरूप में असंख्य परिवर्तन प्राप्त करती है। अनेकान्तता यथार्थ में वस्तु की इस अनन्त धर्मात्मकता का भान है। अपने इस सिद्धान्त को समझाते हुए जैन आचार्य छः अन्धे और एक हाथी वाली कहावत को प्रस्तुत करते हैं। बद्ध मानव अन्धे व्यक्ति की तरह अल्पज्ञान के कारण वस्तु की समग्रता का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। सर्वज्ञ मुक्त जीव ही वस्तु का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त कर सकता। बद्ध जीव का ज्ञान और ज्ञानाभिव्यक्ति एकांगी होने से उसे 'स्याद्' शब्द का प्रयोग कर यह स्पष्ट करना चाहिये कि किसी एक विशेष दृष्टि से ही उसका कथन सत्य या असत्य या अवक्तव्य या अन्य किसी प्रकार का है। इसी को 'स्याद्वाद' के नाम से पुकारते हैं। स्याद्वादी जब वस्तु का अस्तित्व प्रकट करता है, तो वह केवल 'अस्ति' (है) न कहकर 'स्यादस्ति' कहता है। इससे वस्तु में रहे हुए नास्तित्व आदि का निषेध न होकर भी अस्तित्व का विधान हो जाता है, प्रत्येक वस्तु निजरूप से सत्ता है तो पररूप से असत्ता भी है। घट घट है। यह जितना सत्य है, उतना ही सत्य यह भी है

कि घट पट नहीं है। स्याद्वाद द्वारा यह सापेक्षता अच्छी तरह हो जाती है। इसके अन्तर्गत सभी दृष्टियों को सात प्रमुख दष्टियों में समाहित किया जाता है, जिसे सप्तभंगी नय कहते हैं। ये निम्नलिखित हैं – (१) स्यादस्ति (२) स्यादन्नास्ति (३) स्यादवक्तव्यम् (४) स्यादस्ति नास्ति च (५) स्यादस्ति अवक्तव्यञ्च (६) स्यादन्नास्ति अवक्तव्यम् (७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम्।

सत्ता के सर्वांगीण ज्ञान व कथन को 'प्रमाण' कहते हैं। इसमें सत्ता के सभी पक्षों का समावेश होना आवश्यक है जो काल,आत्मरूप (गुण), अर्थ (गुणों का आधाररूप द्रव्य), सम्बन्ध, उपकार (औपाधिक गुण), गुणी देश, संसर्ग और शब्द (अस्तित्व) आदि हैं।

अपूर्ण ज्ञान व एक दृष्टि से कथन को 'नय' कहते हैं। यह सर्वदेशीय न होकर एकदेशीय होता है तथा अनन्त दृष्टियों में से किसी एक या कुछ दृष्टियों में से किसी एक या कुछ दृष्टियों से ही कथन किया जाता है। परन्तु ऐसे कथन को पूर्ण कहना 'नयाभीस' कहलाता है।

नय के दो वर्गीकरण किये गये हैं – सामान्य की दृष्टि से द्रव्यार्थिक नय और विशेष की दृष्टि से पर्यायार्थिक नय। द्रव्य को ही लक्ष्य में रखने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय तथा पर्याय को दृष्टि में रखने वाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक के तीन प्रकार हैं – नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक के चार प्रकार हैं – ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

(१) **नैगम** – नैगम अर्थात् लोक-रूढ़ि या संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को नैगम कहते हैं। जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं है, उसे निष्पन्न मानकर व्यवहार करना नैगम नय है।

(२) **संग्रह** – सामान्य धर्म या तत्त्व को लक्ष्य में रखकर किया गया ज्ञान संग्रहनय है। समान धर्म के आधार पर वस्तुओं में एकत्व की स्थापना करना संग्रहनय है।

(३) **व्यवहार** – विशिष्ट धर्मों को दृष्टि में रखकर ज्ञान करना व्यवहारनय है।

(४) **ऋजुसूत्र** – भूत और भविष्य को ध्यान में न रखकर वर्तमान को ही लक्ष्य में रखकर किया गया ज्ञान ऋजुसूत्रनय है।

(५) **शब्द** – उर्पयुक्त चार नय वस्तु को ध्यान में रखकर विचार करते हैं, अतः इन्हें अर्थ नय कहते हैं। शब्द नय और शेष अन्य दो नय शब्द-सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करते हैं। अतः ये तीनों इस दृष्टि से शब्द नय कहलाते हैं।

शब्दनय पर्यायवाची शब्दों को एकार्थक स्वीकार करता है। मगर उनमें यदि काल, लिंग, कारक, वचन या उपसर्ग की भिन्नता हो तो, उन्हें एकार्थक नहीं माना जाता।

(६) **समभिरूढ़** – यह शब्दनय से भी आगे बढ़कर व्युत्पत्ति के भेद से भी वस्तु-भेद को स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ, इसमें नृप और भूप एकार्थक नहीं है। इसमें शब्द भेद से अर्थ भेद माना गया है।

(७) **एवंभूत** – इसके अनुसार समस्त पद क्रिया-बोधक हैं। अतः जब तक व्युत्पत्ति द्वारा व्यक्त क्रिया किसी वस्तु में न हो, उस वस्तु को उस शब्द से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति को अध्यापक तब ही कहा जा सकता है, जब वह पढ़ा रहा हो।

इस तरह जैन दर्शन के अनुसार वस्तु का प्रमाण और नय, दोनों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। नयों द्वारा प्रदर्शित सत्यांश और प्रमाण द्वारा व्यक्त अखंड सत्य मिलकर ही वस्तु के वास्तविक और सम्पूर्ण स्वरूप के बोधक होते हैं।

जैन धर्म का विचार एवं आचार का पक्ष बड़ा सबल है, परन्तु व्यवहार में इसका आचरण बड़ा कठिन है। सम्यग् ज्ञान और संयम के बिना यह संभव नहीं है। परन्तु इसका आंशिक आचरण भी विश्व में अहिंसा तथा शांति के प्रसार के लिये पर्याप्त है। आज के विषादग्रस्त मानव एवं हिंसा से त्रस्त विश्व के लिये जैन विचार-आचार के सिद्धान्त नितान्त उपयोगी एवं लाभप्रद हैं। यह एक प्रौढ़ धर्म है, जिसको समझना और उसके अनुसार आचरण करना आज के युग की आवश्यकता है।

३
जैन दर्शन में अस्तित्व की अवधारणा

समणी मंगलप्रज्ञा

अस्तित्व की अवधारणा के संदर्भ में सभी दर्शनों ने विमर्श किया है। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकों का मुख्य चिन्तनीय बिन्दु अस्तित्व-विमर्श ही रहा है। दर्शन की अन्य विचारणा इसके परिपार्श्व में ही केन्द्रित है। यह स्पष्ट ही है कि विभिन्न दर्शन एवं दार्शनिकों का अस्तित्व की विचारणा के संदर्भ में मत वैविध्य है।

अस्तित्व के सम्बन्ध में दर्शन जगत में हमें परस्पर विरोधी विचारधाराओं का अवबोध होता है। एक अवधारणा के अनुसार तत्त्व कूटस्थ है तथा इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थक क्षणिक/सर्वथा परिवर्तनशील को ही वास्तविक सत् मानते हैं। जो सत् को सर्वथा कूटस्थ नित्य मानते हैं, वे The Philosophy of Being के समर्थक हैं और इसके विपरीत जो सत् को, अस्तित्व को सवर्था अनित्य मानते हैं वे The Philosophy of Becoming के अनुगामी हैं। प्रथम विचारधारा के अनुसार परिवर्तन व्यावहारिक अथवा प्रतिभासिक सत् है, वह पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक नहीं है। इसके विपरीत द्वितीय विचारधारा के अनुसार परिवर्तन ही पारमार्थिक सत् है, नित्यता का अनुभव संवृति सत् है, काल्पनिक है, अज्ञानजन्य है, उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। प्रथम के अनुसार कूटस्थ द्रव्य की सत्ता ही वास्तविक है, जबकि दूसरे के अनुसार द्रव्यरहित पर्याय ही वास्तविक है।

The Philosophy of Being के समर्थकों का मन्तव्य है कि परिवर्तन भ्रान्ति है और वह अज्ञान अथवा माया के द्वारा निर्मित है। The Philosophy of Becoming अर्थात् क्षणिकता के समर्थकों का अभ्युपगम है कि द्रव्य की कल्पना अज्ञानजन्य है। स्वयं के एवं संसार के प्रति राग के कारण व्यक्ति द्रव्य की कल्पना करता है।

भारतीय चिंतन में Being की फिलासॉफी को कूटस्थ द्रव्यवाद एवं Becoming की फिलासॉफी को एकान्त पर्यायवाद के सम्बोधन से अभिहित किया जा सकता है। कूटस्थ द्रव्यवाद का समर्थक **शांकर वेदान्त** है। उनके अनुसार ब्रह्म ही सत्य है तथा वह कूटस्थ नित्य एवं एक है। संसार की विविधता

अवास्तविक है वह मायाजन्य है। "**ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या**" का सिद्धान्त उनके चिन्तन का महत्त्वपूर्ण घटक है। माया के कारण संसार का नानात्व दृष्टिगम्य होता है। माया ब्रह्म विरोधी है। सांख्य एवं योग द्वारा स्वीकृत पुरुष भी वेदान्त के ब्रह्म की तरह कूटस्थ नित्य एवं अपरिणामी है। उनके अनुसार परिणाम मात्र प्रकृति में होता है। क्षणिकवाद अर्थात् एकान्त पर्यायवाद के समर्थक बौद्ध हैं। इनके अनुसार परिवर्तन ही सत्य है। इनका द्रव्य जैसी किसी भी सत्ता में विश्वास नहीं हैं। ये द्रव्य को काल्पनिक/संवृत्ति सत् मानते हैं। वेदान्त दर्शन में परिवर्तन को विवर्त, बौद्ध में प्रतीत्य समुत्पाद, सांख्य में परिणाम एवं न्याय-वैशेषिक में उसे आरम्भवाद कहा जाता है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में ऐसे भी दार्शनिक हैं जो The Philosophy of Being और The Philosophy of Becoming दोनों का एक साथ सापेक्ष अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थक जैन चिंतक हैं। उनके अनुसार अस्तित्व द्रव्यपर्यायात्मक है। नित्यता एवं परिवर्तन दोनों युगपत् वस्तु के स्वभाव है। उत्पाद एवं व्यय भी उतने ही सत्य है, जितनी ध्रुवता। ध्रुवता भी उतनी ही सत्य जितने उत्पाद एवं व्यय। नित्यता एवं अनित्यता के एक साथ अस्तित्व के बिना वस्तु जगत की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। अस्तित्व उभयात्मक है। जैन विचारणा के अनुसार '**द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु**' (प्रमाणमीमांसा) वस्तु का स्वरूप द्रव्य पर्यायात्मक है। पर्याय से रहित द्रव्य एवं द्रव्य से रहित पर्याय का अस्तित्व नहीं है।

द्रव्यं पर्यायवर्जितं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरुपा दृष्टा मानेन केन वा ॥

(स्याद्वादमंजरी ५)

जैन दर्शन में सत्, द्रव्य, तत्त्व, तत्त्वार्थ एवं पदार्थ आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में होता रहा है। जो सत् रुप पदार्थ है, वही द्रव्य है। जैन परम्परा में सत् को परिभाषित करते हुए कहा गया '**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**' (**तत्त्वार्थसूत्र** ५/२९) उत्पाद, व्यय एवं ध्रुवता का सहावस्थान जिसमें है, वही सत् है एवं सत् ही द्रव्य का लक्षण है, "**सद् द्रव्यलक्षणम्**" जो द्रव्य है, वही सत् है, तथा जो सत् है, वही द्रव्य है। पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द भी इसी तथ्य को उद्घाटित करते हुए कहते हैं –

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥

सत्ता और द्रव्य परस्पर अनन्य है। गुण एवं पर्याय भी द्रव्य से पृथक् नहीं है। द्रव्य एवं पर्याय की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है। मात्र प्रज्ञा से उसकी पृथक् कल्पना की जा सकती है, द्रव्य एवं पर्याय दोनों ही वस्तु के स्वरूप हैं। द्रव्य के प्रदेश जितने हैं, उतने ही रहेंगे, द्रव्य के प्रदेश न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं, इसलिए वे ध्रुव हैं। द्रव्य के प्रदेशों में परिणमन होता है, वह उत्पाद एवं व्यय है। अतः वह अनित्य भी है।

वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायात्मक है, अतः उसकी अवगति के कारक नय भी दो स्वीकार किये गये हैं – द्रव्यार्थिकनय एवं पर्यायार्थिकनय। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक है। वस्तु के अभेद स्वरुप/सामान्य स्वरुप का ग्राहक नय द्रव्यार्थिक है। इस नय के अनुसार वस्तु सर्वथा उत्पाद-व्यय से रहित है। वस्तु न उत्पन्न होती है, न नष्ट होती है। सन्मतितर्क में कहा गया –

"**दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठं**" (१/११)

पर्यायार्थिक नय की वक्तव्य वस्तु द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में असद्भूत है। सन्मतितर्क में ही कहा गया – "**तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स**"

पर्यायार्थिक नय वस्तु के परिणमन स्वरुप का ग्राहक है। उसके अनुसार वस्तु उत्पाद-व्ययात्मक स्वरुप वाली ही है। परिवर्तन वस्तु का स्वभावगत स्वरुप है, वस्तु में परिवर्तन होना अवश्यंभावी है।

"**उप्पजंति वियंति य भावा णियेमेण पज्जवणस्स**" (स.१/११)

इस नय के अनुसार सामान्य, अभेद, द्रव्य जैसा वस्तु का कोई स्वरूप नहीं है। कहा भी है– "**दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स**"

पर्यायार्थिक नय के अनुसार ध्रुवता की अवधारणा अवास्तविक है। इन दोनों नय के विषय परस्पर विरोधी प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु वे वस्तु के मूल स्वरुप हैं। इन दोनों नयों का संयुक्त विषय ही वस्तु का मूल स्वरूप है। ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष होकर ही वस्तु रुप की व्यवस्था कर सकते हैं। परस्पर निरपेक्ष होकर ये स्वयं मिथ्या हो जाते हैं। दोनों नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि इसलिए हैं कि दोनों में से किसी भी एक नय का विषय सत् का लक्षण नहीं बनता। जब ये दोनों नय एक दूसरे से निरपेक्ष होकर केवल स्वविषय को ही सद्रुप मानने का आग्रह करते हैं, तब ये मिथ्यारुप हैं, परन्तु जब ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष रुप से प्रवृत होते हैं अर्थात् दूसरे प्रतिपक्षी का नय का निरसन किए बिना, उसके विषय में मात्र तटस्थ रहकर अपने वक्तव्य को प्रस्तुत करते हैं, तब ये सम्यक् कहे जाते हैं–

"**तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।**
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा॥

वस्तु का स्वरुप उभयात्मक है, द्रव्य पर्यायात्मक है, इसलिए उनके संबोधक नय भी द्विविध हैं। नय दो प्रकार के हैं। अतः वस्तु उभयात्मक है। यह वक्तव्य असंगत है। चूंकि वस्तु द्वयात्मक है, अतः नय भी द्विविध हैं, यह वक्तव्य समीचीन है। वस्तु तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत है, जबकि नय ज्ञानमीमांसीय तथ्य हैं।

अस्तित्व की मीमांसा द्रव्य एवं पर्याय के आधार पर ही की जा सकती है। अस्तित्व में परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों तरह के धर्म उपस्थित रहते हैं। ध्रुवता अस्तित्व के अपरिवर्तन धर्म की संवाहक है एवं उत्पाद एवं व्यय वस्तु के परिवर्तन स्वरुप के द्योतक हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के

शब्दों में – "प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है। ध्रुव परिणमन शून्य नहीं होता और परिणमन ध्रुव शून्य नहीं होता, इसलिए वह अनित्य है। .... उत्पाद और व्यय ये दोनों परिणमन के आधार पर बनते हैं और ध्रौव्य उनका अन्वयीसूत्र है। .... भगवान महावीर ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या परिणामी नित्यत्ववाद के आधार पर की। उनसे पूछा गया – 'आत्मा नित्य है, या अनित्य ? पुद्गल नित्य है, या अनित्य ? उन्होंने एक ही उत्तर दिया – अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता। इस अपेक्षा से वे नित्य हैं। परिणमन का क्रम कभी अवरुद्ध नहीं होता, इस दृष्टि से वे अनित्य हैं। समग्रता की भाषा में न नित्य हैं, न अनित्य, किंतु नित्यानित्य हैं।" **(जैन दर्शन और अनेकान्त पृ.१७-१८)**

जैन दर्शन नित्यवाद को स्वीकार करता है, किंतु उसका नित्य **'परिणामी नित्य'** है। परिवर्तन होने के बावजूद भी **'तद्भाव'** का नाश न होना ही नित्यता है – **"तद्भावाव्ययं नित्यम्" (तत्त्वार्थसूत्र ५/३०)** यह नित्यता परिवर्तन संयुक्त है, इसमें नित्यता का विशेष स्वरुप परिलक्षित हो रहा है। **"परिणामी नित्यत्ववाद"** जैन दर्शन का विशिष्ट अभ्युपगम है।

पाँच अस्तिकाय निरपेक्ष अस्तित्व हैं। उनका अस्तित्व किसी अन्य सत्ता के सापेक्ष नहीं है, वे स्वतः है। उनमें होने वाले पर्यायों का सापेक्ष अस्तित्व है। "अस्तित्व में परिवर्तित होने की क्षमता है। अस्तित्व दूसरे क्षण में रहने के लिए उसके अनुरूप अपने आप में परिवर्तन करता है, और तभी वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए रख सकता है।" **(जैन दर्शन और अनेकान्त २१)**

परिवर्तन स्वाभाविक एवं प्रायोगिक दो प्रकार के होते हैं। स्वाभाविक परिवर्तन में बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रहती। वह वस्तु का स्वरुपगत स्वभाव है। निरन्तर वस्तु में सहज परिणमन होता रहता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं मुक्त आत्मा में स्वाभाविक परिवर्तन ही होता है। उनमें प्रायोगिक परिवर्तन नहीं होता। पुद्गल तथा कर्मबद्ध जीव के स्वाभाविक एवं प्रायोगिक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन होते हैं। जैन पारिभाषिक शब्दावली में स्वाभाविक एवं प्रायोगिक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन होते हैं। जैन पारिभाषिक शब्दावली में स्वाभाविक परिवर्तन को अर्थपर्याय एवं प्रायोगिक परिवर्तन को व्यञ्जनपर्याय कहा जाता है।

द्रव्य, गुण एवं पर्याय का आश्रय स्थल है/आधार है। **'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' (तत्त्वार्थ सूत्र)** द्रव्य में सहभावी एवं क्रमभावी दो प्रकार के धर्म पाए जाते हैं। सहभावी धर्म को गुण एवं क्रमभावी धर्म को पर्याय कहा जाता है – **"सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः।"**

सामान्य एवं विशेष के भेद से गुण दो प्रकार के हैं। जो गुण सभी द्रव्यों में प्राप्त होते हैं, वे सामान्य गुण कहलाते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व एवं अगुरुलघुत्व ये छः सामान्य गुण माने जाते हैं। **"द्रव्यानुयोगतर्कणा"** में १० सामान्य गुणों का भी उल्लेख है। विशेष गुण प्रत्येक वस्तु के अपने-अपने होते हैं, उनकी संख्या १६ मानी जाती है। कुछ ग्रंथों में संख्या भेद भी हैं। सिद्धसेन दिवाकर आदि कुछ जैनाचार्य गुण और पर्याय का पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार

गुण वस्तु का पर्याय विशेष ही है, यदि गुण की पर्याय से पृथक् सत्ता होती तो द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय की तरह आगमों में गुणार्थिक नय का भी उल्लेख होता। आगमों में नय के दो ही प्रकार उपलब्ध है, अतः गुण का पर्याय से भिन्न अस्तित्व नहीं माना जा सकता। सिद्धसेन गुण और पर्याय के सम्बन्ध में अभेदवादी है। अधिकांश जैनाचार्यों ने गुण और पर्याय की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। गुण और पर्याय के स्वरुप के संदर्भ में विचार करते हैं, तब गुण और पर्याय का वैविध्य स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। गुण द्रव्य के साथ निरन्तर सहगामी है, इसके विपरीत पर्याय का द्रव्य के साथ उसी रुप में सहगमन नहीं है। उसका निरन्तर नया-नया उत्पाद होता रहता है। पर्याय, द्रव्य एवं गुण दोनों का आश्रय लेती है अर्थात् द्रव्य एवं गुण दोनों के ही पर्याय होती हैं।

वस्तु के अभेदात्मक स्वरुप का बोधक द्रव्य है, उसके भेदात्मक स्वरुप को पर्याय अभिव्यक्त करता है। भेद के बिना व्यवहार का संचालन नहीं हो सकता। व्यवहार जगत में वस्तु का भेदात्मक स्वरुप अधिक स्फुट होता है। वस्तु में भेद संक्षेप में दो प्रकार का होता है – '**व्यञ्जननियत**' और '**अर्थनियत**' **सन्मतितर्क प्रकरण** में इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया – "**जो उण समासओ च्चिय वंजणणिअओ य अत्थणिअओ य**" व्यञ्जननियत विभाग शब्द सापेक्ष होता हैं, तथा अर्थनियत विभाग शब्द निरपेक्ष होता है। अर्थनियत विभाग शब्द का वाच्य नहीं बन सकता।

वस्तु के शब्द नियत व्यवहार को **व्यञ्जनपर्याय** एवं **अर्थनियत** व्यवहार को **अर्थपर्याय** कहा जाता है। अर्थपर्याय सभी द्रव्यों में होती हैं, वह वस्तु मात्र का स्वाभाविक परिणमन है। व्यञ्जनपर्याय पुद्गल एवं कर्मबद्ध जीव के ही होती है, अन्य द्रव्यों में नहीं होती है। वस्तु का स्थूल एवं कालान्तर स्थायी भेद जो शब्द का वाच्य बन सकता है, वह व्यञ्जनपर्याय है – "**स्थूलः कालान्तरस्थायी शब्दानां संकेतविषयो व्यञ्जनपर्यायः**" **(जैन सिद्धान्त दीपिका)**

वस्तु के सामान्य स्वरुप पर कल्पित अनन्त भेदों की परम्परा में जितना सदृश परिणाम प्रवाह किसी भी एक शब्द का वाच्य बनकर व्यवहार्य बनता है, उतना वह वस्तु का सदृश परिणाम प्रवाह व्यञ्जनपर्याय कहलाता है। वस्तु का जो परिणाम शब्द का विषय नहीं बनता, अनभिलाप्य रहता है, किंतु प्रतिक्षण वस्तु में परिवर्तन होता रहता है, वह अर्थपर्याय है। अर्थपर्याय शब्द एवं संकेत का विषय नहीं बन सकती। वह सूक्ष्म एवं वर्तमानवर्ती ही होती है। वस्तु का वह परिवर्तन जो इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं बनता वह अर्थपर्याय है –

"**सूक्ष्मो वर्तमानवर्ती अर्थपरिणामः अर्थपर्यायः**" (जैन सिद्धान्त दीपिका)

प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिणमन हो रहा है। वस्तु प्रतिक्षण नई-नई अवस्थाओं को धारण कर रही हैं, वह परिवर्तन इतना सूक्ष्म होता है कि उसको शब्द अपना विषय नहीं बना सकता।

स्थूल उदाहरण के द्वारा व्यञ्जन एवं अर्थपर्याय को समझा जा सकता है। जैसे चेतन पदार्थ का "**जीवत्व**" सामान्य स्वरुप है। उसकी काल, कर्म आदि उपाधिकृत संसारित्व, मनुष्यत्व, पुरुषत्व आदि

भेद वाली छोटी-बड़ी अनेक परम्पराएँ हैं। उनमें पुरुष, पुरुष जैसी समान प्रतीति का विषय और एक पुरुष शब्द प्रतिपाद्य जो सदृश प्रवाह है, वह व्यञ्जनपर्याय है और उस पुरुष रुप सदृश प्रवाह में जो सूक्ष्मतम भेद है, वह अर्थपर्याय है।

व्यञ्जनपर्याय को व्यक्त एवं विभाव पर्याय भी कहा जाता है तथा अर्थपर्याय को स्वभाव एवं अव्यक्त पर्याय भी कहा जाता है। द्रव्य की व्यवहार जगत में प्रस्फुटित अवस्थाएँ व्यञ्जन पर्याय हैं। व्यञ्जन पर्याय व्यवहार्य है। संसार का सारा व्यवहार इस पर्याय पर ही निर्भर करता है। उपयोगिता की दृष्टि से व्यवहार जगत में व्यञ्जन पर्याय का बहुत महत्त्व है। अर्थपर्याय एवं द्रव्य तो इन्द्रियज्ञान के विषय ही नहीं बन सकते तथा इनके द्वारा व्यवहार जगत संचालित नहीं हो सकता। व्यवहार में उपयोगी व्यञ्जन पर्याय है। वस्तु को जब विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं, तब उसका पर्यायात्मक स्वरुप हमारे समक्ष होता है।

जब उसको संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से निहारते है, उसका द्रव्यात्मक स्वरूप हमारे दृष्टिपथ में आता है। **"अपर्ययं वस्तु समस्यमानद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्" (अन्ययोगव्यच्छेदिका २३)**

वस्तु का स्वरुप उभयात्मक है। ज्ञाता या वक्ता अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तु के विवक्षित धर्म को प्रधान एवं अन्य को गौण कर देता है। यह प्रधानता या गौणता वस्तु जगत में नहीं है, वहाँ तो वस्तु का जो स्वरुप है वैसा ही रहता है, किंतु उपयोगिता के क्षेत्र में आने पर उपयोगकर्ता उन धर्मों को मुख्य एवं प्रधान बना देता है। वस्तु की उभयात्मक की सिद्धि प्रधानता एवं गौणता के आधार पर ही होती है।

"अर्पितानर्पितसिद्धेः" (तत्त्वार्थसूत्र ५/३१)

अस्तित्व परिवर्तन एवं अपरिवर्तन का समवाय है। **'अथिरे पलोट्टई थिरे नो पलोट्टई' (भगवती, १/४४०)** वस्तु का स्थिर अंश परिवर्तित नहीं होता, अस्थिरांश परिवर्तन का विषय बनता है। जैन परिणामवाद के सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य और पर्याय दोनों में परिवर्तन होता हैं। पर्याय जो नष्ट हो गई है, उसका पुनरागमन नहीं होता। द्रव्य जो सर्व पर्यायों में अनुस्यूत रहता है वह भी परिणाम का विषय बनता है। द्रव्य परिवर्तन में गुजरकर भी अपने अस्तित्व को नहीं छोड़ता जैन-दर्शन के अनुसार द्रव्य का नवीनीकरण होने पर भी वह स्थिर रहता है।

❀

४
द्रव्य-गुण-पर्याय : भेदाभेद

समणी ऋजुप्रज्ञा

भगवान महावीर ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या 'परिणामी नित्यवाद' के आधार पर की है। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व का कोई भी तत्त्व न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, अपितु प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य की स्वाभाविक समन्विति है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है, किन्तु ध्रुव परिणमनशून्य नहीं होता इसलिए वह अनित्य भी है।

जैन दर्शन के अनुसार उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य की समन्वित अवस्था सत् कहलाती है।[१] द्रव्य वही है जो सत् हो। बौद्ध दार्शनिक सत् को एकान्त अनित्य एवं वेदान्ती सत् को एकान्त नित्य मानते हैं। परन्तु जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय परिवर्तन के सूचक हैं तथा ध्रौव्य अपरिवर्तन अथवा स्थिरता का सूचक है। **भगवती सूत्र** का '**अथिरे पल्लोहई थिरे न पल्लोहई**'[२] इसी तथ्य का संकेत करता है। वस्तु का अस्थिरांश उत्पाद-व्यय या पर्याय कहलाता है तथा स्थिरांश ध्रौव्य अथवा द्रव्य कहलाता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय के पारस्परिक सम्बन्ध को जानने से पूर्व संक्षेप में इनके स्वरूप को जानना आवश्यक है।

द्रव्य –

जैन-साहित्य में उपलब्ध द्रव्य के विवेचन को अनेक दृष्टियों से व्याख्यायित किया जा सकता है –

(१) **उत्तराध्ययन सूत्र** में '**गुणाणामासओ दव्व**'[३] कहकर गुणों के पिण्ड को द्रव्य कहा गया है।

(२) **आचार्य उमास्वाति**[४], **कुंदकुंद-पूज्यपाद** आदि ने गुण के साथ पर्याय शब्द की संयोजना करते हुए कहा – द्रव्य वह है, जो गुण-पर्याय से युक्त है।

(३) **तत्त्वार्थसूत्र** में '**उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् सद् द्रव्य लक्षणम्**'[५] कहकर द्रव्य का लक्षण सत् किया।

(४) **पंचास्तिकाय**[६] में सप्तभंगी के आधार पर द्रव्य के स्वरूप को व्याख्यायित किया है ।

(५) **धवला**[७] तथा **कषायपाहुड़** में त्रिकाली पर्यायों के पिण्ड को द्रव्य कहा गया है ।

गुण –

उत्तराध्ययनसूत्र में गुण को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि – **एगदव्वसिया गुणा**[८] अर्थात् जो द्रव्याश्रित है, वह गुण है। **वैशेषिक सूत्र** में भी गुण को द्रव्याश्रित माना गया है। **आचार्य उमास्वाति** ने आगमिक परम्परा का अवलम्बन लेते हुए भी **वैशेषिक सूत्र** का उपयोग करके गुण का लक्षण किया **'द्रव्याश्रया निर्गुण गुणाः'**[९] अर्थात् गुण वह है, जो द्रव्य के आश्रित है, किन्तु स्वयं निर्गुण है । **द्रव्यानुयोगतर्कणा**[१०], **जैनसिद्धान्त दीपिका** आदि ग्रन्थों में द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहा है ।

पर्याय –

गुण की तरह पर्याय भी द्रव्य का धर्म है । गुण निरन्तर द्रव्य के साथ रहता है, किन्तु पर्याय बदलती रहती है अतः कहा गया **'अन्वयिनो गुणाः, व्यतिरेकिणः पर्यायाः'** ।[११] अर्थात् गुण द्रव्य का अन्वयी धर्म है और पर्याय व्यतिरेकी। **उत्तराध्ययनसूत्र**'[१२] के अनुसार जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहते हैं, उन्हें पर्याय कहते हैं । वाचक ने पर्याय को परिणाम के रूप में व्याख्यायित किया है ।

अर्थात् परिणाम पर्याय का ही दूसरा नाम है। **जैन सिद्धान्त दीपिका** में पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार के ग्रहण को पर्याय कहा है ।

द्रव्य-गुण और पर्याय की संक्षिप्त विवेचना से सहज जिज्ञासा होती है कि इन तीनों में पारस्परिक क्या सम्बन्ध है ? ये एक दूसरे से पृथक् हैं या अपृथक् ? विभिन्न भारतीय दर्शनों में इस जिज्ञासा का समाधान अलग-अलग दिया गया है। जैन दर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय की भिन्नाभिन्नता को लेकर मुख्य रूप से चार पक्ष बनते हैं ।

(१) द्रव्य-गुण-पर्याय का भेदाभेद
(२) द्रव्य-गुण का भेदाभेद
(३) द्रव्य-पर्याय का भेदाभेद
(४) गुण-पर्याय का भेदाभेद

द्रव्य-गुण-पर्याय का भेदाभेद –

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण और पर्याय में न तो एकान्ततः भेद है और न ही एकान्ततः अभेद है, अपितु भेदाभेद है। द्रव्य-गुण-पर्याय कथञ्चित भिन्न हैं। इस भेद को हम तीन प्रकार से समझ सकते हैं – नाम, संख्या और लक्षण ।[१३]

(१) **नामकृतभिन्नता –** द्रव्य-गुण-पर्याय इत्यादि नामों से तीनों में परस्पर भिन्नता है ।

(२) **संख्याकृत भेद –** संख्या अर्थात् गणना । जैसे द्रव्य छः हैं, गुण चौबीस हैं और पर्याय अनन्त हैं।

(३) **लक्षणकृत भेद –** द्रव्य का लक्षण – गुण-पर्याय युक्त हैं । गुण का लक्षण – सहभावी धर्म है । पर्याय का लक्षण – क्रमभावी धर्म है ।

इस प्रकार संज्ञा, संख्या व लक्षण के आधार पर तीनों में परस्पर भेद हैं । **द्रव्यानुयोग तर्कणा** में तीनों की भिन्नता को बताते हुए लिखा है – **'मुक्ताभ्यः श्वेततादिभ्यो मुक्तादाम यथा पृथक्'** ।[१४] अर्थात् जैसे मोती की माला मोतियों से तथा श्वेतता आदि गुण से भिन्न है, वैसे ही द्रव्य से गुण-पर्याय भिन्न है।

कथंचित भिन्न होते हुए भी तीनों अभिन्न भी हैं । तीनों का परस्पर आधार-आधेय भाव सम्बन्ध है । द्रव्य के बिना गुण पर्याय का आश्रय नहीं होता है और गुण पर्याय के बिना द्रव्य को जाना नहीं जा सकता है, अतः तीनों अभिन्न हैं ।

द्रव्य-गुण का भेदाभेद – जैन तत्त्वमीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि द्रव्य और गुण में क्या सम्बन्ध है ? वे परस्पर भिन्न हैं, अभिन्न हैं या भिन्नाभिन्न ।

सन्मतितर्क प्रकरण में एकान्त भेद और एकान्त अभेद मानने वाले वैशेषिक और वेदान्तियों का पूर्व पक्ष के रूप में उल्लेख किया है और उनकी समीक्षा कर द्रव्य और गुण में भेदाभेद सिद्ध किया है।

वैशेषिक मत के अनुसार द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न होते हैं । उनके अनुसार **'उत्पन्नं द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियं च भवति'** अर्थात् उत्पन्न होते समय द्रव्य निर्गुण एवं निष्क्रिय होता है, तत्पश्चात् समवाय सम्बन्ध से गुण एवं कर्म का द्रव्य से सम्बन्ध होता है । **सन्मतितर्क प्रकरण** में भी पूर्व पक्ष की ओर से द्रव्य और गुण की पृथकता के दो आधारभूत हेतु बताये गये हैं –

१. लक्षण की भिन्नता
२. ग्राहक प्रमाण की भिन्नता[१५]

द्रव्य और गुण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं । द्रव्य गुणों का आधार है, जबकि द्रव्य गुण के आश्रित रहते हैं। द्रव्य गुणवान् होता है, जबकि गुण निर्गुण होते हैं । द्रव्य क्रियावान् होता है, जबकि गुण निष्क्रिय होते हैं । लक्षण की भांति दोनों के ग्राहक प्रमाण भी भिन्न-भिन्न हैं । घट-पट आदि द्रव्यों का ग्रहण एक से अधिक-चक्षु और स्पर्शन-इन दो इन्द्रियों से होता है, जबकि रूप, रस, स्पर्श आदि गुणों को ग्रहण एक इन्द्रिय सापेक्ष होता है । अतः दोनों के लक्षण व ग्राहक प्रमाण भिन्न-भिन्न होने से दोनों की पृथकता स्वतः प्रमाणित है ।

अभेदवादी मत के अनुसार प्रत्येक द्रव्य की अखण्ड सत्ता है । वस्तु में गुणकृत विभाग नहीं होता है । जिस प्रकार पुद्गल से पृथक् वर्ण, गंध, रस व स्पर्श नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य के अभाव में गुण और गुण के अभाव में द्रव्य के अस्तित्व की परिकल्पना ही संभव नहीं है, अतः दोनों में अभेद है।

जैन आचार्यों ने इन एकान्त पक्षों की अवधारणा पर विस्तृत विवेचन कर यह सिद्ध किया है कि एकान्त भेद या एकान्त अभेद संभव नहीं हो सकता। **उमास्वाति, कुन्दकुन्द, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, हरिभद्र** आदि के नाम इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं।

उमास्वाति ने **'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'** कहा है। यदि उन्हें दोनों की स्वतन्त्रता इष्ट होती तो संभव है कि वे द्रव्य के लक्षण में गुण और पर्याय का उल्लेख नहीं करते। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि गुण और पर्याय से रहित द्रव्य की बुद्धि से मात्र कल्पना की जा सकती है। वस्तु जगत् में इनका भेद संभव नहीं है। **कुंदकुंद** ने भी दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए लिखा है –

दव्वेण विणा ण गुणा गुणोहिं दव्व विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा॥[१६]

सन्मतितर्क के कर्त्ता **आचार्य सिद्धसेन** ने भी द्रव्य और गुण के भेदाभेद से सम्बन्धित प्रश्न को सापेक्षता के आधार पर समाहित किया है। जैन मतानुसार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। इसे ही आधार बनाकर भेदवादी कहते हैं कि द्रव्य का लक्षण है – ध्रुवता और गुण का लक्षण है उत्पाद-व्यय, अतः दोनों भिन्न हैं। **सिद्धसेन** के अनुसार ऐसा मानने पर अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि द्रव्य की तरह गुण भी स्थिर रहते हैं तथा गुण की तरह द्रव्य में भी उत्पाद-व्यय को गुण का लक्षण बताना अव्याप्ति दोष है। यह लक्षण किसी भी सत् पदार्थ पर लागू नहीं होता।[१७] अतः दोनों में एकान्त भेद मानना उचित नहीं है।

एकान्त भेद की तरह एकान्त अभेद मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि एकान्त अभेदवाद में कर्त्ता, कर्म, करण आदि अनेक कारकों का और गति-आगति आदि अनेक क्रियाओं का प्रत्यक्षसिद्ध भेद हो जाता है तथा शुभाशुभ कर्म का फल, इहलोक-परलोक, ज्ञान-अज्ञान, बंध-मोक्ष आदि युग्मों की उपपत्ति भी नहीं हो सकती।[१८] **आचार्य अकलंक** के अनुसार द्रव्य और गुण में एकान्ततः अभेद मानने पर या तो गुण रहेंगे या द्रव्य। यदि केवल द्रव्य को मानें तो गुण के अभाव में द्रव्य निःस्वभाव हो जायेंगे, क्योंकि गुणों के आधार पर ही द्रव्य के स्वरूप का निर्धारण होता है और यदि केवल गुणों की सत्ता मानें तो द्रव्य के अभाव में गुण निराश्रय हो जायेंगे। अतः गुणों का भी अभाव हो जायेगा[१९] अतः द्रव्य-गुण को सर्वथा अभिन्न मानना भी उचित नहीं है।

आचार्य सिद्धसेन को भी द्रव्य-गुण के एकान्त भेद की तरह एकान्त अभेद मान्य नहीं है। सामान्य के अभाव में विशेष का और विशेष के अभाव में सामान्य का सद्भाव उसी तरह संभव नहीं जिस तरह घट के अभाव में मिट्टी और मिट्टी के अभाव में घट आदि।[२०] अभेदवाद में एक समान दो कृष्ण पदार्थों का चक्षु के साथ सम्बन्ध होने पर 'यो कृष्ण वर्ण वाले हैं' – इतना तो बोध हो जाता है, पर वह किसी दूसरे कृष्ण पदार्थ से अनन्त या असंख्य गुण कृष्ण है, इस भेद का ज्ञान कैसे सिद्ध होगा ?

इसी प्रकार दो फलों का रसनेन्द्रिय से सम्पर्क होने पर उनके रस का बोध हो जाता है, पर पहले

की अपेक्षा यह मधुर या अम्ल है, यह बोध कैसे होगा ?[२१] अतः द्रव्य और गुणों के बीच एकान्त भेद या एकान्त अभेद न मानकर, कथंचित भेदाभेद ही मानना चाहिए ।

द्रव्य-पर्याय का भेदाभेद –

द्रव्य और गुण की भाति जैन आचार्यों ने द्रव्य और पर्याय में भेदाभेद का समर्थन किया है । आयारो में **'जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया'**[२२] कहकर सूत्रकार ने आत्मा और ज्ञान की अभिन्नता का प्रतिपादन किया है । सामान्यतया देखने पर यह सूत्र अभेद का वाचक प्रतीत होता है, पर जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है – **'णत्थि जिणवयणं णयविहीणं'** कोई भी जिन वचन निरपेक्ष नहीं होता, अतः **आयारो** का यह सूत्र भी सापेक्षता की दृष्टि से ही ग्राह्य है अर्थात् प्रत्येक आत्मा में ज्ञान का सद्भाव कुछ न कुछ अंशों में होता ही है । वह त्रिकाल में भी ज्ञानशून्य नहीं होता, अतः दोनों में अभेद है । पर ज्ञान आत्मा का परिणाम विशेष है, जो बदलता रहता है, अतः पर्याय दृष्टि से दोनों में भेद है ।

भगवती सूत्र में **'आया भंते सिय नाणे, सिय अन्नाणे, नाणे पुण नियमं आया'**[२३] कहकर सूत्रकार ने आत्मा को ज्ञान से कथंचित भिन्न और कथंचित अभिन्न कहा है । कुंदकुंद ने द्रव्य और पर्याय के अविनाभाव का प्रतिपादन करते हुए यही लिखा है –

पज्जयविजुद दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णमूदं भावं समणा परूर्विति ॥ [२३]

टीकाकार **अमृतचन्द्र** के अनुसार जिस प्रकार दूध, दही, घी आदि से भिन्न गोरस नहीं होता, वैसे ही पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता ।

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार द्रव्यार्थिक नय का विषय है – द्रव्य और पर्यायार्थिक नय का विषय है – पर्याय । दोनों नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि हैं । दोनों में से किसी एक नय का विषय सत् नहीं बन सकता। सामान्य और विशेष दोनों मिलकर ही सत् बनते हैं । अतः द्रव्य-पर्याय परस्पर संबद्ध है।

द्रव्य से रहित पर्याय और पर्याय से रहित द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं होता । इसी बात को **आवश्यकनिर्युक्ति** में इस प्रकार कहा गया है –

जं जं जे जे भावे परिणमइ पओग वीससादव्वं ।
तं तह जाणाह जिणे अपज्जवे जाण नत्थि ॥

अर्थात् प्रयोग और स्वभाव से जो-जो द्रव्य जिस-जिस भाव में परिणत होता है, केवली उसे उसी रूप में जानते हैं । पर्याय रहित द्रव्य को नहीं जाना जा सकता । इसका तात्पर्य यही है कि पर्याय रहित द्रव्य होता ही नहीं है ।

गुण-पर्याय का भेदाभेद –

गुण और पर्याय के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। **उमास्वाति** और **कुंदकुंद** ने गुण के अतिरिक्त पर्याय को भी द्रव्य के लक्षण में सम्मिलित किया है, अतः स्पष्ट है कि वे दोनों में भेद, स्वीकार करते हैं। **पूज्यपाद** ने भी गुण और पर्याय में भेद, स्वीकार किया है। **'के गुणाः के पर्यायः अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिनः पर्यायः ।'** **पूज्यपाद** ने द्रव्य-गुण और पर्याय का स्वरूप बताने वाली एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है –

गुण इति दव्वविहीणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो ।
तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे दव्वं ॥[२७]

यह गाथा किस ग्रंथ की है, बतलाना कठिन है। पर **पूज्यपाद** के ग्रन्थ में उद्धृत होने से इसकी प्राचीनता असंदिग्ध रूप से मानी जा सकती है। इस गाथा में उन्होंने गुण और पर्याय का अर्थभेद सिद्ध किया है। **अमृतचन्द्र, वादी-देव, विद्यानन्द** आदि ने गुण एवं पर्याय में भेद स्वीकार किया है। गुण-पर्याय धर्म हैं। धर्मी धर्म से कथंचित् भिन्न होता है। उदाहरणतः जीव द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है तथा घटज्ञान, पटज्ञान उसकी पर्याय है। धर्म-अधर्म द्रव्य है, गति-स्थिति में सहायक होना उसका गुण है तथा गति-स्थितिशील पदार्थों के साथ सम्बन्ध होना उनकी पर्याय है। पुद्गल द्रव्य है, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ये उसके गुण हैं तथा घट-पट आदि उसकी पर्याय हैं। काल द्रव्य है वर्तना उसका गुण है, **सेकेस्त्रह्मण्ड**, मिनट, घण्टा आदि उसकी पर्याय हैं। गुण-पर्याय ये दो पृथक् शब्द ही उसके भेद की सूचना दे रहे हैं।

इस सन्दर्भ में **सिद्धसेन दिवाकर** का एक नया प्रस्थान जैन तत्त्वज्ञान में शुरू होता है। उन्होंने गुण और पर्याय इन दोनों शब्दों को एकार्थक स्थापित किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है –

दो उण णया भगवया दव्वट्ठि-पज्जवट्ठिया नियया ।
एत्तो य गुणविसेसे गुणट्ठियणओ वि जुज्जंतो ॥
जं पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईण ।
पज्जवसण्ण णियमा वागरिया तेण पज्जादा ॥२८

अर्थात् भगवान ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय आगम में बताये हैं। यदि पर्याय से पृथक् गुण होता तो आगम में गुणार्थिक नय की भी चर्चा होती। अर्हतों ने उन-उन सूत्रों में गौतम आदि के समक्ष पर्याय संज्ञा निश्चित करके उसी का विवेचन किया है, अतः ऐसा मानना चाहिए कि पर्याय से भिन्न गुण नहीं हैं। **द्रव्यानुयोग तर्कणा**[२९] में भी **सन्मति** के इस कथन का समर्थन हुआ है। जैसे 'तैल की धारा' इस वाक्य में तैल और धारा दो पृथक् वस्तु नहीं है, वैसे ही गुण और पर्याय भी परमार्थतः भिन्न नहीं हैं। **आचार्य हरिभद्र** ने भी इसी अभेदवाद का समर्थन किया। **आचार्य हेमचन्द्र**[३०] ने तो प्रमाण के विषय का निरूपण करते समय सूत्र में गुण पद को स्थान ही नहीं दिया। और न ही गुण पर्याय शब्दों के अर्थ विषयक भेदाभेद की चर्चा की। इससे स्पष्ट होता है कि वे भी अभेद के ही समर्थक हैं। **यशोविजयजी** ने भी इसी अभेदपक्ष को स्थापित किया।

आचार्य अकलंक[३१] ने गुण और पर्याय की एकार्थकता भिन्न प्रकार से सिद्ध की। उनके अनुसार द्रव्य के दो रूप हैं – सामान्य और विशेष। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थक हैं। इसी तरह विशेष, पर्याय और भेद ये तीनों एकार्थक हैं। सामान्य का ग्राहक द्रव्यार्थिक नय और विशेष का ग्राहक पर्यायार्थिक नय कहलाता है। गुण द्रव्य का ही सामान्य रूप है, अतः उसके ग्रहण के लिए द्रव्यार्थिक से भिन्न गुणार्थिक नामक स्वतंत्र नय की आवश्यकता ही नहीं है।

अकलंक ने **'गुणपर्ययवद् द्रव्यं'** सूत्र की व्याख्या में लिखा है – गुण ही पर्याय हैं, क्योंकि गुण और पर्याय दोनों में समानाधिकरण है। यहाँ प्रश्न उपस्थित किया गया है कि जब दोनों एकार्थक हैं तो **'गुणपर्ययवद् द्रव्यं'** न कहकर **'गुणवद् द्रव्यं'** या **'पर्यायवद् द्रव्य'** ऐसा निर्देश करना चाहिए था। इसका समाधान करते हुए स्वयं वार्तिककार लिखते हैं कि वस्तुतः द्रव्य से पृथक् गुण उपलब्ध नहीं होते। द्रव्य का परिणमन ही पर्याय है और गुण उसी परिणमन की एक अभिव्यक्ति है, अतः दोनों अभिन्न हैं, किन्तु वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत स्वतन्त्र गुण की अवधारणा का निराकरण करने के लिए सूत्र में गुण पद का प्रयोजन किया गया है। तत्त्वतः दोनों में भेद नहीं है।

आगम साहित्य में भी मूलतः द्रव्य पर्याय की ही चर्चा है, यद्यपि कहीं-कहीं गुण शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पर वहाँ प्रयुक्त गुण शब्द का अभिप्राय यह नहीं है जो प्रस्तुत प्रसंग में विवक्षित है। उदाहरण के लिए **आयारो** का एक सूत्र है **'जे गुणे से आवहे, जे आवहे से गुणे'**[३२] यहाँ गुण का अर्थ इन्द्रिय विषय है। इसी तरह **भगवती सूत्र** में **पंचास्तिकाय** के संदर्भ में 'गुण' शब्द का प्रयोग अनेकशः हुआ है, पर वहाँ गुण का अर्थ सहभावी धर्म के अर्थ में न होकर, उपकारक शक्ति के अर्थ में है।

गुण और पर्याय एकार्थक हैं या भिन्नार्थक ? चिन्तन करने पर फलित होता है कि गुण और पर्याय दो शब्द हैं, अतः इनमें भेद होना चाहिए, क्योंकि गुण मात्र द्रव्याश्रित होते हैं, जबकि पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित हैं। पुद्‌गल द्रव्य है, स्पर्श, रस आदि उसके गुण हैं। स्पर्श के भेद स्पर्श की पर्याय है। एक ही वस्तु चक्षु का विषय बनती है तब रूप बन जाती है। रसना से रस, घ्राण से गंध बन जाती है, वस्तु की ये पर्यायें व्यवहारश्रित हैं। यदि गुण और पर्याय में अन्तर होता तो संभिन्नस्रोतोपलब्धि के समय एक ही इन्द्रिय से सारे विषयों का ज्ञान कैसे होता तथा एकेन्द्रियादि जीव अपना व्यवहार कैसे चलाते। जीव अपने व्यवहार के लिए इनको पृथक् कर लेता है। अतः गुण और पर्याय को व्यवहार के स्तर पर भिन्न माना जा सकता है। निश्चयतः वे दोनों अभिन्न हैं। **आचार्य सिद्धसेन** ने तो गुण-पर्याय में ही अभेद कहा, किन्तु **आचार्य सिद्धसेनगणी** ने तो निश्चयतः द्रव्य-पर्याय को भी अभिन्न मानकर नय से भिन्नता का प्रतिपादन किया –

अभिन्नांशमतं वस्तु तथोभयमयात्मकम् ।
प्रतिपत्तेरूपायेन नयभेदेन कथ्यते ।।[३३]

अतः यह निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है कि द्रव्य-गुण-पर्याय में मौलिक भेद नहीं है। व्यवहारतः भेद व परमार्थतः अभेद अर्थात् भेदाभेद है।

संदर्भ

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५/२९ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्
२. भगवतीसूत्र, १/४४०
३. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/६
४. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३७
५. वही, ५/२९
६. पंचास्तिकाय, १४
७. धवला, १/१/१३६, कषाय पाहुड़ १/१/१४
८. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/६
९. तत्त्वार्थसूत्र, ५/४०
१०. द्रव्यानुयोगतर्कणा २/२ सहभावी गुणो धर्मः
११. सर्वार्थसिद्धि, पृ.२३७
१२. उत्तराध्ययनसूत्र. २८/६
१३. द्रव्यानुयोगतर्कणा, २/१६
१४. वही २/३
१५. सन्मतितर्क प्रकरण, ३/८
१६. पंचास्तिकाय, १२
१७. सन्मतितर्क, ३/२३
१८. आप्तमीमांसा, का.२३, २४
१९. तत्त्वार्थवार्त्तिक, ३/२/६
२०. सन्मतितर्क प्रकरण (वृत्ति.) पृ.६२७, ६२८
२१. सन्मतितर्क प्रकरण, ३/१९
२२. आयारो, ५/१०४
२३. भगवती, १२/२०६
२४. पंचास्तिकाय, गा.१२
२५. सन्मतितर्क प्रकरण, १/१२
२६. आवश्यक निर्युक्ति
२७. सर्वार्थसिद्धि, ५/३८, पृ.३६० पर उद्धृत
२८. सन्मतितर्क प्रकरण, ३/१०, ११
२९. द्रव्यानुयोग तर्कणा, २/११
३०. प्रमाणमीमांसा, १/१/३०
३१. तत्त्वार्थवार्तिक, ५/३८
३२. आयारो, १/९३
३३. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र टीका, पृ.३९४

५

जैन दर्शन की द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा का समीक्षात्मक विवेचन

सागरमल जैन

वस्तुस्वरूप और पर्याय

पर्याय की अवधारणा जैन दर्शन की एक विशिष्ट अवधारणा है। जैन दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद है। किन्तु अनेकान्त का आधार पर्याय की अवधारणा है। सामान्यतया पर्याय शब्द परि+आय से निष्पन्न है। मेरी दृष्टि जो परिवर्तन को प्राप्त होती है, वही पर्याय है। **राजवार्तिक** (१/३३/१/९५/६) **'परि समन्तादायः पर्याय'**, के अनुसार जो सर्व ओर से नवीनता को प्राप्त होती है, वही पर्याय है। यह होना (becoming) है। वह सत्ता की परिवर्तनशीलता की या सत् के बहु आयामी (Multi dimentional) होने की सूचक है। वह यह बताती है कि अस्तित्व प्रति समय परिणमन या परिवर्तन को प्राप्त होता है, इसलिए यह भी कहा गया है कि जो स्वभाव या विभाव रूप परिणमन करती है, वही पर्याय है। जैन दर्शन में अस्तित्व या सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक या परिणामी नित्य माना गया है। उत्पाद-व्यय का जो सतत प्रवाह है, वही पर्याय है और जो इन परिवर्तनों के स्वस्वभाव से च्युत नहीं होता है, वही द्रव्य है। अन्य शब्दों में कहें तो अस्तित्व में जो अर्थक्रियाकारित्व है, गत्यात्मकता है, परिणामीपन या परिवर्तनशीलता है, वही पर्याय है। पर्याय अस्तित्व की क्रियाशीलता की सूचक है। वह परिवर्तनों के सातत्य की अवस्था है। अस्तित्व या द्रव्य दिक् और काल में जिन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होता रहता है, जैन दर्शन के अनुसार यही अवस्थाएँ पर्याय हैं अथवा सत्ता का परिवर्तनशील पक्ष पर्याय है। बुद्ध के इस कथन का कि 'क्रिया है, कर्ता नहीं' का आशय यह नहीं है कि वे किसी क्रियाशीलतत्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है। सत्ता और परिवर्तन में पूर्ण तादात्म्य है। सत्ता से भिन्न परिवर्तन और परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है। परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। वस्तुतः बौद्ध दर्शन का सत् सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैन दर्शन में सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत कहा गया है अर्थात् वे भी न उसे एकान्त अनित्य मानते हैं और न एकान्त नित्य। वह न अनित्य है

और न नित्य है, जबकि जैन दार्शनिकों ने उसे नित्यानित्य कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा-शैली का अन्तर है। बुद्ध और महावीर के कथन का मूल एक-दूसरे से उतना भिन्न नहीं है, जितना कि हम उसे मान लेते हैं। सत् को अव्यय या अपरिवर्तनशील मानने का एकान्त पक्ष और सत् को परिवर्तनशील या क्षणिक मानने का एकान्त पक्ष जैन और बौद्ध विचारकों को स्वीकार्य नहीं रहा है। दोनों में मात्र अन्तर यह है कि महावीर ने जहाँ अस्तित्त्व के उत्पाद-व्यय पक्ष अर्थात् पर्याय पक्ष के साथ-साथ ध्रौव्यपक्ष के रूप में द्रव्य को भी स्वीकृति प्रदान की है। वहाँ बुद्ध ने अस्तित्व के परिवर्तनशील पक्ष पर ही अधिक बल दिया। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध दर्शन की अस्तित्व की व्याख्या जैन दर्शन की पर्याय की अवधारणा के अतिनिकट है। बौद्धों ने पर्याय अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति को ही अस्तित्व मान लिया। बौद्ध दर्शन ने परिवर्तनशीलता और अस्तित्व में तादात्म्य माना और कहा कि परिवर्तनशीलता ही अस्तित्व है (Becoming is real)। जैन दर्शन ने भी द्रव्य (Being) और पर्याय (Becoming) अर्थात् 'अस्तित्त्व' और 'होने' में तादात्म्य तो माना, किन्तु तादात्म्य के साथ-साथ दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व को भी स्वीकार किया अर्थात् उनमें भेदाभेद माना।

सत् के सम्बन्ध में एकान्त परिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का दृष्टिकोण इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार जगत् की व्याख्या सम्भव है न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान है। यही कारण था कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि भगवान महावीर एवं भगवान बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त शाश्वतवाद का और एकान्त उच्छेदवाद का परित्याग किया, अपितु अपनी अनेकान्तवादी और समन्ववादी परम्परा के अनुसार उन दोनों विचार धाराओं में सामंजस्य स्थापित किया। परम्परागत दृष्टि से यह माना जाता है कि भगवान महावीर ने केवल **'उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा'** इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन दार्शनिक वाङ्मय का विकास इसी त्रिपदी के आधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में महावीर का यह उपर्युक्त कथन ही जैन दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है और यही उसकी पर्याय की अवधारणा का आधार भी है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही सत् के लक्षण हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में **उमास्वाति** ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है (**तत्त्वार्थ**, ५/२१), उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष को बताते हैं तो ध्रौव्य उसके अविनाशी पक्ष को। सत् का ध्रौव्य गुण उसके उत्पत्ति एवं विनाश का आधार है, उनके मध्य योजक कड़ी है। यह सत्य है कि विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति के लिए विनाश आवश्यक है, किन्तु उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की आवश्यकता होती है, जिसमें उत्पत्ति और विनाश की ये प्रक्रियायें घटित होती हैं। यदि हम ध्रौव्य पक्ष को अस्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की आवश्यकता होती है, जिसमें उत्पत्ति और विनाश की ये प्रक्रियायें घटित होती हैं। यदि हम ध्रौव्य पक्ष को स्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे और सत्ता अनेक क्षणिक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी। इन परस्पर

असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व और कर्मफल व्यवस्था ही अर्थविहीन हो जायेगी, इसी प्रकार एकान्त ध्रौव्यता को स्वीकार करने पर भी इस जगत में चल रहे उत्पत्ति और विनाश के क्रम को समझाया नहीं जा सकता। जैन दर्शन में सत् के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है। अग्रिम पृष्ठों में हम द्रव्य, गुण और पर्याय के सह सम्बन्ध के बारे में चर्चा करेंगे।

द्रव्य और पर्याय का सहसम्बन्ध

हम यह पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि जैन परस्परा में सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है। मात्र यही नहीं, उसमें सत् के स्थान पर द्रव्य ही प्रमुख रहा है। आगमों में सत् के स्थान पर अस्तिकाय और द्रव्य इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। जो अस्तिकाय है वे निश्चय ही द्रव्य हैं। इन दोनों शब्दों में भी द्रव्य शब्द मुख्यतः अन्य परम्पराओं के प्रभाव से जैन दर्शन में आया है, उसका अपना मूल शब्द तो अस्तिकाय ही है। इसमें 'अस्ति' शब्द सत्ता के शाश्वत पक्ष का और काय शब्द अशाश्वत पक्ष का सूचक माना जा सकता है। वैसे सत्ता को कार्य शब्द से सूचित करने की परम्परा श्रमण धारा के **प्रक्रुध कात्यायन** आदि अन्य दार्शनिकों में भी रही है। **भगवतीसूत्र** में द्रव्य पक्ष की शाश्वतता और पर्याय पक्ष की अशाश्वतता का चित्रण उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि **'दव्वट्ठाए सिय सासिया पज्जवट्ठाए सिय असासया'** अर्थात् अस्तित्व को द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत (अनित्य) कहा गया है। इस तथ्य को अधिक स्पष्टता से चित्रित करते हुए **सन्मतितर्क** में **आचार्य सिद्धसेन दिवाकर** लिखते हैं –

उपज्जंति चयंति आ भावा नियमेण पज्जवनयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्न अविणट्ठं ॥

अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से अस्तित्व या वस्तु उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है।

उमास्वाति के **तत्त्वार्थसूत्र** के सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ में सत् द्रव्यलक्षणं (४/२९) कहकर सत् को द्रव्य का लक्षण बताया है। इस परिभाषा से यह फलित होता है कि द्रव्य का मुख्य लक्षण अस्तित्व है। जो अस्तित्ववान् है, वही द्रव्य है। किन्तु यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होता है कि द्रव्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ तो **'द्रूयते इति द्रव्य'** के आधार पर उत्पाद व्यय रूप अस्तित्व को ही सिद्ध करता है। इसी आधार पर यह कहा गया है जो त्रिकाल में परिणमन करते हुए भी अपने स्व-स्वभाव का पूर्णतः परित्याग न करे, उसे ही सत् या द्रव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार **तत्त्वार्थसूत्र** (५/२९) में **उमास्वाति** ने एक ओर द्रव्य का लक्षण सत् बताया तो दूसरी ओर सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक भी बताया। यदि सत् और द्रव्य एक ही है तो फिर द्रव्य को भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहा जा सकता है। साथ ही उमास्वाति ने **तत्त्वार्थसूत्र** (५/३८) में द्रव्य को परिभाषित करते हुए उसे गुण, पर्याय से युक्त भी कहा है। आचार्य **कुन्दकुन्द** ने **पंचास्तिकायसार** और **प्रवचनसार** में इन्हीं दोनों लक्षणों को मिलाकर द्रव्य

को परिभाषित किया है। **पंचास्तिकायसार** (१०) में वे कहते हैं कि द्रव्य सत् लक्षण वाला है। इसी परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए **प्रवचनसार** (९५-९६) में वे कहते हैं, जो अपरित्यक्त स्वभाव वाला उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त तथा तथा गुण-पर्याय सहित है, उसे द्रव्य कहा जाता है। इस प्रकार **कुन्दकुन्द** ने द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में **उमास्वाति** के सभी लक्षणों को स्वीकार कर लिया है। **तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति** की विशेषता यह है कि उन्होंने गुणपर्यायवत् द्रव्य कहकर, जैन दर्शन के भेद-अभेदवाद को पुष्ट किया है। यद्यपि **तत्त्वार्थसूत्र** में द्रव्य की यह परिभाषा भी वैशेषिकसूत्र के **'द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता'** (१/२/८) नामक सूत्र के निकट ही सिद्ध होती है। उमास्वाति ने इस सूत्र में कर्म के स्थान पर पर्याय को रख दिया है। जैन दर्शन के सत् सम्बन्धी सिद्धान्त की चर्चा में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि द्रव्य या सत्ता परिवर्तनशील होकर भी नित्य है। इसी तथ्य को मीमांसा दर्शन में इस रूप में स्वीकार किया गया है –

वर्द्धमानकभंगेन, रुचकः क्रियते यदा।
तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ २१ ॥

हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावेसन्मति त्रयम् ॥ २२ ॥

न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्य नित्यता ॥ २३ ॥
(मीमांसाश्लोक वार्तिक पृ-६१)

अर्थात् वर्द्धमानक (बाजूबंद) को तोड़कर, रुचकहार बनाने में वर्द्धमानक को चाहने वाले को शोक, रुचक चाहने वाले को हर्ष और स्वर्ण चाहने वाले को न हर्ष और न शोक होता है। उसका तो माध्यस्थ भाव रहता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु या सत्ता उत्पाद, भंग और स्थिति रूप होती है, क्योंकि नाश के अभाव में शोक, उत्पाद के अभाव में सुख (हर्ष) और स्थिति के अभाव में माध्यस्थ भाव नहीं हो सकता है। इससे यही सिद्ध होता है मीमांसा दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानता है। परिणमन यह द्रव्य का आधारभूत लक्षण है, किन्तु इस प्रक्रिया में द्रव्य अपने मूल स्वरूप का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। स्व-स्वरूप का परित्याग किये बिना विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने से ही द्रव्य को नित्य कहा जाता है। किन्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य भी कहा जाता है। उसे इस प्रकार भी समझाया जाता है कि मृत्तिका अपने स्व-जातीय धर्म का परित्याग किये बिना घट आदि को उत्पन्न करती है। घट की उत्पत्ति में पिण्ड पर्याय का विनाश होता है। जब तक पिण्ड नष्ट नहीं होता तब तक घट उत्पन्न नहीं होता, किन्तु इस उत्पाद और व्यय में भी मृत्तिका लक्षण यथावत् बना रहता है। वस्तुतः कोई भी द्रव्य अपने स्व-लक्षण, स्व-स्वभाव अथवा स्व-जातीय धर्म का पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। द्रव्य अपने गुण या स्व-लक्षण की अपेक्षा से नित्य होता है, क्योंकि स्व-लक्षण का त्याग सम्भव नहीं है। अतः यह स्व-

लक्षण ही वस्तु का नित्य पक्ष होता है। स्व-लक्षण का त्याग किये बिना वस्तु जिन विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होती है, वे पर्याय कहलाती हैं। यह परिवर्तनशील पर्याय ही द्रव्य का अनित्य पक्ष है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य अपने स्व-लक्षण या गुण की अपेक्षा से नित्य और अपनी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य कहा जाता है। उदाहरण के रूप में जीव द्रव्य अपने चैतन्य गुण का कभी परित्याग नहीं करता, किन्तु उसके चेतना लक्षण का परित्याग किये बिना वह देव, मनुष्य, पशु इन विभिन्न योनियों को अथवा बालक, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। जिन गुणों का परित्याग नहीं किया जा सकता, वे ही गुण स्वलक्षण कहे जाते हैं। यह स्वलक्षण ही द्रव्य स्वरूप है। जिन गुणों का परित्याग किया जा सकता है, वे पर्याय कहलाती हैं। पर्याय बदलती रहती हैं, किन्तु गुण वही बना रहता है। ये पर्याय भी दो प्रकार की कही गयी हैं — १. स्वभाव पर्याय और २. विभाव पर्याय। जो पर्याय या अवस्थायें स्व-लक्षण के निमित्त से होती हैं, वे स्वभाव पर्याय कहलाती हैं और जो अन्य निमित्त से होती हैं, वे विभाव पर्याय कहलाती हैं। उदाहरण के रूप में ज्ञान और दर्शन (प्रत्यक्षीकरण) सम्बन्धी विभिन्न अनुभूतिपरक अवस्थायें आत्मा की स्वभाव पर्याय हैं। क्योंकि वे आत्मा के स्व-लक्षण उपयोग से फलित होती हैं, जबकि क्रोध आदि कषाय भाव कर्म के निमित्त से या दूसरों के निमित्त से होती हैं, अतः वे विभाव पर्याय हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि इन गुणों और पर्यायों का अधिष्ठान या उपादान तो द्रव्य स्वयं ही है। द्रव्य गुण और पर्यायों से अभिन्न है, वे तीनों परस्पर सापेक्ष हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने **सन्मतितर्कप्रकरण** में स्पष्ट रूप से कहा है, द्रव्य से रहित गुण और पर्याय की सत्ता नहीं है। साथ ही गुण और पर्याय से रहित द्रव्य की भी सत्ता नहीं है।

दव्वं पज्जव विउअं दव्व विउत्ता पज्जवा नत्थि।
उप्पाद-ट्ठिइ-भंगा हृदि दविय लक्खणं एयं ॥ — सन्मतितर्क १२

अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय में तादात्म्य है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि द्रव्य, गुण और पर्याय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह सत्य है कि अस्तित्व की अपेक्षा से उनमें तादात्म्य है, किन्तु विचार की अपेक्षा से वे पृथक्-पृथक् हैं। हम उन्हें अलग-अलग कर नहीं सकते। किन्तु उन पर अलग-अलग विचार संभव है। बालपना, युवावस्था या बुढ़ापा व्यक्ति से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते हैं — फिर भी ये तीनों अवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। यही स्थिति द्रव्य, गुण और पर्याय की है।

गुण और पर्याय का सहसम्बन्ध

द्रव्य को गुण और पर्यायों का आधार माना गया है। वस्तुतः गुण द्रव्य के स्वभाव या स्व-लक्षण होते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में **उमास्वाति** ने **द्रव्याश्रया निर्गुणागुणाः** (५/४०) कहकर यह बताया है कि गुण द्रव्य में रहते हैं, पर गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। गुण निर्गुण होते हैं यह परिभाषा सामान्यतया आत्म-विरोधी सी लगती है, किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण का भी गुण

मानेंगे तो फिर अनवस्था दोष का प्रसंग आयेगा । आगमिक दृष्टि से गुण की परिभाषा इस रूप में की गयी है कि गुण द्रव्य का विधान है यानि उसका स्व-लक्षण है, जबकि पर्याय द्रव्य का विकार है। गुण भी द्रव्य के समान ही अविनाशी है। जिस द्रव्य का जो गुण है, वह उसमें सदैव रहता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि द्रव्य का जो अविनाशी लक्षण है अथवा द्रव्य जिसका परित्याग नहीं कर सकता है, वही गुण है। गुण वस्तु की सहभावी अवस्थाओं का सूचक है। फिर भी गुण की ये अवस्थायें अर्थात् गुण-पर्याय बदलती हैं। द्रव्य के समान ही गुणों की पर्याय होती हैं, जो गुण की भी परिवर्तनशीलता को सूचित करती हैं । जीवन में चेतना की अवस्थाएँ बदलती हैं, फिर भी चेतना गुण बना रहता है ।

वे विशेषताएँ या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है, वे विशिष्ट गुण कहे जाते हैं । उदाहरण के रूप में धर्म-द्रव्य का लक्षण गति में सहायक होना है । अधर्म-द्रव्य का लक्षण स्थिति में सहायक होना है। जो सभी द्रव्यों का अवगाहन करता है, उन्हें स्थान देता है, वह आकाश कहा जाता है। इसी प्रकार परिवर्तन काल का और उपयोग जीव का लक्षण है । अतः गुण वे हैं, जिसके आधार पर हम किसी द्रव्य को पहचानते हैं और उसका द्रव्य से पृथकत्व स्थापित करते हैं। **उत्तराध्ययन** (२८/११-१२) में जीव और पुद्गल के अनेक लक्षणों का भी चित्रण हुआ है। उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य एवं उपयोग ये जीव के लक्षण बताये गये हैं और शब्द, प्रकाश, अन्धकार, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि को पुद्गल का लक्षण कहा गया है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य और गुण विचार के स्तर पर ही अलग-अलग माने गये हैं, लेकिन अस्तित्व की दृष्टि से वे पृथक्-पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। गुणों के सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुछ गुण सामान्य होते हैं और वे सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं और कुछ गुण विशिष्ट होते हैं, जो कुछ ही द्रव्यों में पाये जाते हैं। जैसे-अस्तित्व लक्षण सामान्य है जो सभी द्रव्यों में पाया जाता है, किन्तु चेतना आदि कुछ गुण ऐसे हैं जो केवल जीव द्रव्य में पाये जाते हैं, अजीव द्रव्य में उनका अभाव होता है। दूसरे शब्दों में कुछ गुण सामान्य और कुछ विशिष्ट होते हैं। सामान्य गुणों के आधार पर जाति या वर्ग की पहचान होती है। वे द्रव्य या वस्तुओं का एकत्व प्रतिपादित करते हैं, जबकि विशिष्ट गुण एक द्रव्य का दूसरे से अन्तर स्थापित करते हैं । गुणों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अनेक गुण सहभावी रूप से एक ही द्रव्य में रहते हैं । इसीलिए जैन दर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक कहा गया है। विशेष गुणों की एक अन्य विशेषता यह है कि वे द्रव्य विशेष की विभिन्न पर्यायों में भी बने रहते हैं। जीवों की चेतना पर्याय बदलती रहती है, फिर भी उनकी परिवर्तनशील चेतना पर्यायों में चेतना गुण और जीव द्रव्य बना रहता है ।

कोई भी द्रव्य गुण से रहित नहीं होता। द्रव्य और गुण का विभाजन मात्र वैचारिक स्तर पर किया जाता है, सत्ता के स्तर पर नहीं । गुण से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है, न द्रव्य से रहित गुण की। अतः सत्ता के स्तर पर गुण और द्रव्य में अभेद है, जबकि वैचारिक स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है ।

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि द्रव्य और गुण अन्योन्याश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण का अस्तित्व नहीं है और गुण के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं है। **तत्त्वार्थ सूत्र** (५/४०) में गुण की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि स्व-गुण छोड़कर, जिनका अन्य कोई गुण नहीं होता अर्थात् जो निर्गुण है, वही गुण है। द्रव्य और गुण के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर जैन परम्परा में हमें तीन प्रकार के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। आगम ग्रंथों में द्रव्य और गुण में आश्रय-आश्रयी भाव माना गया है। **उत्तराध्ययनसूत्र** (२८/६) में द्रव्य को गुण का आश्रय-स्थान माना गया है। **उत्तराध्ययन सूत्रकार** के अनुसार गुण द्रव्य में रहते हैं अर्थात् द्रव्य गुणों का आश्रय स्थल है, किन्तु यहाँ आपत्ति यह हो सकती है कि जब द्रव्य और गुण की भिन्न-भिन्न सत्ता ही नहीं है तो उनमें आश्रय-आश्रयी भाव किस प्रकार होगा ? वस्तुतः द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को लेकर किया गया यह विवेचन मूलतः वैशेषिक परम्परा के समीप लगता है। जैनों के अनुसार सिद्धान्ततः तो आश्रय-आश्रयी भाव उन्हीं दो तत्त्वों में हो सकता है, जो एक-दूसरे से पृथक् सत्ता रखते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर **पूज्यपाद** आदि कुछ आचार्यों ने **'गुणानां समूहो दव्वो'** अथवा **'गुणसमुदायो द्रव्यमिति'** कहकर द्रव्य को गुणों का संघात माना है। जब द्रव्य और गुण की अलग-अलग सत्ता ही मान्य नहीं है, तो वहाँ उनके तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध मानने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अन्य कोई सम्बन्ध मानने का तात्पर्य यह है कि वे एक दूसरे से पृथक् होकर, अपना अस्तित्व रखते हैं। यह दृष्टिकोण बौद्ध अवधारणा के समीप है। यह संघातवाद का ही अपररूप है, जबकि जैन परम्परा संघातवाद को स्वीकार नहीं करती है। वस्तुतः द्रव्य के साथ गुण और पर्याय के सम्बन्ध को लेकर **तत्त्वार्थसूत्रकार** ने जो द्रव्य की परिभाषा दी है, वही अधिक उचित जान पड़ती है। तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार जो गुण और पर्यायों से युक्त है, वही द्रव्य है। वैचारिक स्तर पर तो गुण और पर्यायों से युक्त है, वही द्रव्य है। वैचारिक स्तर पर तो गुण द्रव्य से भिन्न हैं और उस दृष्टि से उनमें आश्रय-आश्रयी भाव भी देखा जाता है, किन्तु अस्तित्व के स्तर पर द्रव्य और गुण एक-दूसरे से पृथक् (विविक्त) सत्ताएँ नहीं हैं, अतः उनमें तादात्म्य भी है। इस प्रकार गुण और द्रव्य में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है। **डॉ. महेन्द्रकुमार** न्यायाचार्य, **जैन-दर्शन** (पृ.१४४) में लिखते हैं कि गुण से द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वह द्रव्य से अभिन्न है। किन्तु प्रयोजन आदि भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है, अतः वे भिन्न भी हैं। एक ही पुद्गल परमाणु में युगपत् रूप से रूप, रस, गन्ध आदि अनेक गुण रहते हैं। अनुभूति के स्तर पर रूप, रस, गन्ध आदि पृथक्-पृथक् गुण हैं। अतः वैचारिक स्तर पर केवल एक गुण न केवल दूसरे गुण से भिन्न है, अपितु उस स्तर पर यह द्रव्य से भी भिन्न कल्पित किया जा सकता है। पुनः गुण अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करता है और इस प्रकार वह परिवर्तित होता रहता है, किन्तु उसमें यह पर्याय परिवर्तन द्रव्य से भिन्न होकर नहीं होता। पर्यायों में होने वाले परिवर्तन वस्तुतः द्रव्य के ही परिवर्तन हैं। पर्याय और गुण को छोड़कर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर्यायों और गुणों में होने वाले परिवर्तनों के बीच जो एक अविच्छिन्नता का नियामक तत्त्व है, वही द्रव्य है। उदाहरण के रूप में एक पुद्गल के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के गुण बदलते रहते हैं और उस गुण परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसकी पर्याय भी बदलती रहती है, किन्तु इन परिवर्तित होने वाले गुणों और पर्यायों के बीच भी एक

तत्त्व है, जो इन परिवर्तनों के बीच भी बना रहता है, वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय स्वाभाविक गुणकृत और वैभाविक गुणकृत अर्थात् पर्यायकृत उत्पाद और व्यय होते रहते हैं। यह सब उस द्रव्य की सम्पत्ति या स्वरूप है। इसलिए द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहा जाता है। द्रव्य के साथ-साथ उसके गुणों में भी उत्पाद, व्यय होता रहता है। जीव का गुण चेतना है, उससे पृथक् होने पर जीव जीव नहीं रहेगा, फिर भी जीव की चेतन अनुभूतियाँ स्थिर नहीं रहती हैं, वे प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। अतः गुणों में भी उत्पाद-व्यय होता रहता है। पुनः वस्तु का स्व-लक्षण कभी बदलता नहीं है, अतः गुण में ध्रौव्यत्व पक्ष भी है। अतः गुण भी द्रव्य के समान उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य लक्षण युक्त है। गुण में जो उत्पाद-व्यय या अवस्थान्तरण होता है, उसे हम गुण की पर्याय कहते हैं। जिस प्रकार कोई भी द्रव्य पर्याय के बिना नहीं होता है, उसी प्रकार कोई भी गुण पर्याय से रहित नहीं होता है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य एवं गुण में घटित होने वाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय कहलाते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय एक विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता रहता है। अपने पूर्व क्षण की अवस्था का त्याग करता है और एक नूतन विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होता है, इन्हें ही द्रव्य की पर्याय कहते हैं। द्रव्य-पर्याय स्ववर्गीय अनेक द्रव्याश्रित होती है, जबकि गुण पर्यायें एक द्रव्याश्रित होती हैं। यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि द्रव्य गुण संघात (समुदाय) रूप है तो फिर द्रव्य और गुण की अलग-अलग पर्याय मानने की क्या आवश्यकता है। ज्ञातव्य है कि द्रव्य के स्कन्ध, देश, प्रदेश तथा परमाणु रूप भी हैं, अतः द्रव्य की स्कन्ध, देश, प्रदेश या परमाणु रूप पर्याय अर्थात् उसके आकार आदि द्रव्य पर्याय हैं। द्रव्य में अनन्तानन्त गुण होते हैं और उन गुणों में प्रति समय होने वाली षट् गुण हानि वृद्धि गुण पर्याय है। उदाहरण के रूप में एक मिट्टी का घड़ा है, वह मृतिका रूप पुद्गल द्रव्यों की आकृति है यह आकृति द्रव्य पर्याय है, किन्तु यह काला या लाल है – यह काला या लाल होना गुण पर्याय है। जिस प्रकार जलती हुई दीपशिखा में प्रतिक्षण जलने वाला तेल बदलता रहता है, फिर भी दीपक यथावत् जलता रहता है। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य सतत रूप से परिवर्तन या परिणाम को प्राप्त होता रहता है। फिर भी द्रव्यत्व यथावत् रहता है, द्रव्य में होने वाला यह परिवर्तन या परिणमन ही उसकी पर्याय है। एक व्यक्ति जन्म लेता है, बालक से किशोर और किशोर से युवक, युवक से प्रौढ़ और प्रौढ़ से वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। जन्म से लेकर मृत्यु काल तक प्रत्येक व्यक्ति के देह की शारीरिक संरचना में तथा विचार और अनुभूति की चैतसिक अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। उसमें प्रतिक्षण होने वाले इन परिवर्तनों के द्वारा वह जो भिन्न-भिन्न अवस्थायें प्राप्त करता है, वे ही पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि पर्याय जैन दर्शन का विशिष्ट शब्द है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय दर्शन में पर्याय की यह अवधारणा अनुपस्थित है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था की यह यात्रा कोई ऐसी घटना नहीं है जो एक ही क्षण में घटित हो जाती है। बल्कि यह सब क्रमिक रूप से घटित होता रहता है, हमें उसका पता ही नहीं चलता। यह प्रति समय होने वाला परिवर्तन ही पर्याय है। पर्याय शब्द का सामान्य अर्थ अवस्था विशेष है। दार्शनिक जगत् में पर्याय का जो अर्थ प्रसिद्ध

हुआ है, उसमें आगम में किंचित् भिन्न अर्थ में पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है। दार्शनिक ग्रन्थों में द्रव्य के क्रमभावी परिणाम को पर्याय कहा गया है तथा गुण एवं पर्याय से युक्त पदार्थ को द्रव्य कहा गया है। वहाँ पर एक ही द्रव्य या वस्तु की विभिन्न पर्यायों की चर्चा है। आगम में तो एक पदार्थ जितनी अवस्थाओं में प्राप्त होता है, उन्हें उस पदार्थ का पर्याय कहा गया है। जैसे जीव की पर्याय है – नारक, देव, मनुष्य, तिर्यंच, सिद्ध आदि। **प्रज्ञापनासूत्र** के पर्याय पद में जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य और उनके विभिन्न प्रकारों की पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन है। इसमें उन द्रव्यों को सामान्य अपेक्षा से सम्भावित कितनी पर्यायें होती हैं, इसकी भी चर्चा है।

पर्याय, द्रव्य की भी होती है और गुण की भी होती है। गुणों की पर्यायों का उल्लेख **अनुयोगद्वारसूत्र** में इस प्रकार हुआ है – एक गुण काला, द्विगुण काला यावत् अनन्त काला। इस प्रकार काले गुण की अनन्त पर्यायें होती हैं। इसी प्रकार नीले, पीले, लाल एवं सफेद वर्णों की पर्यायें भी अनन्त होती हैं। वर्ण की भाँति गन्ध, रस, स्पर्श के भेदों की भी एक गुण से लेकर अनन्त गुण तक की पर्यायें होती हैं। **उत्तराध्ययनसूत्र** में एकत्व, पृथकत्व, संख्या, संस्थान, संयोग और विभाग को पर्याय का लक्षण कहा है। एक पर्याय का दूसरे पर्याय के साथ द्रव्य की दृष्टि से एकत्व (तादात्म्य) होता है, पर्याय की दृष्टि से दोनों पर्याय एक-दूसरे से पृथक् होती है। संख्या के आधार पर भी पर्यायों में भेद होता है। इसी प्रकार संस्थान अर्थात् आकृति की दृष्टि से भी पर्याय-भेद होता है। ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन में हम जिसे पर्याय कहते हैं, उसे **महर्षि पतंजलि** ने **महाभाष्य** के **पशपाशाह्निक** में आकृति कहा है। वे लिखते हैं **'द्रव्य नित्यमाकृतिरनित्या'**। जिस पर्याय का संयोग (उत्पाद) होता है, उसका विनाश भी निश्चित रूप से होता है। कोई भी द्रव्य कभी भी पर्याय से रहित नहीं होता। फिर भी द्रव्य की वे पर्यायें स्थिर भी नहीं रहती हैं, वे प्रति समय परिवर्तित होती रहती हैं। जैन दार्शनिकों ने पर्याय परिवर्तन की इन घटनाओं को द्रव्य में होने वाले उत्पाद और व्यय के माध्यम से स्पष्ट किया है। द्रव्य में प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का नाश या व्यय तथा उत्तर पर्याय का उत्पाद होता रहता है। उत्पाद और व्यय की घटना जिसमें या जिसके सहारे घटित होती है या जो परिवर्तित होता है, वही द्रव्य हैं। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य और पर्याय में भी कथंचित् तादात्म्य इस अर्थ में है कि पर्याय से रहित होकर द्रव्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है। द्रव्य की पर्याय बदलते रहने पर भी द्रव्य में एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं होता कि वह पर्याय से रहित हो। सिद्धसेन दिवाकर का कथन है कि न तो पर्यायों से पृथक् होकर द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है और न द्रव्य से पृथक होकर पर्याय का ही कोई अस्तित्व होता है। सत्तात्मक स्तर पर द्रव्य और पर्याय अलग-अलग सत्ताएँ नहीं है। वे तत्त्वतः अभिन्न हैं, किन्तु द्रव्य के बने रहने पर भी पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश का क्रम घटित होता रहता है। यदि पर्यायें उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है, तो उसे द्रव्य से कथंचित भिन्न भी मानना होगा। जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था व्यक्ति से अभिन्न होती हैं, किन्तु एक ही व्यक्ति में बाल्यावस्था का विनाश और युवावस्था की प्राप्ति देखी जाती है। अतः अपने विनाश और उत्पत्ति की दृष्टि से वे पर्यायें व्यक्ति से पृथक् ही कही जा सकती हैं। वैचारिक स्तर पर प्रत्येक पर्याय द्रव्य से भिन्नता रखती है। संक्षेप में तात्त्विक स्तर पर या सत्ता की दृष्टि से हम द्रव्य और पर्याय को अलग-अलग नहीं कर सकतें, अतः वे अभिन्न है। किन्तु वैचारिक

स्तर पर द्रव्य और पर्याय को परस्पर पृथक् माना जा सकता है, क्योंकि पर्याय उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं, जबकि द्रव्य बना रहता है, अतः वे द्रव्य से भिन्न भी होती हैं और अभिन्न भी । जैन आचार्यों के अनुसार द्रव्य और पर्याय की यह कथंचित् अभिन्नता और कथंचित् भिन्नता उनके अनेकांतिक दृष्टिकोण की परिचायक है ।

पर्याय के प्रकार

(क) जीव पर्याय और अजीव पर्याय

पर्यायों के प्रकारों की आगमिक आधारों पर चर्चा करते हुए **द्रव्यानुयोग** (पृ.३८) में उपाध्याय श्री कन्हैयालाल जी म.सा. कमल लिखते हैं कि **प्रज्ञापना** (सूत्र) में पर्याय के दो भेद प्रतिपादित हैं – १. जीव पर्याय और २. अजीव पर्याय । ये दोनों प्रकार की पर्यायें अनन्त होती हैं । जीव पर्याय किस प्रकार अनन्त होती है, इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि नैरयिक, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, द्वीन्द्रिय, त्र्येन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, तिर्यंञ्चयोनिक और मनुष्य ये सभी जीव असंख्यात् हैं, किन्तु वनस्पतिकायिक और सिद्ध जीव तो अनन्त हैं, इसलिए जीव पर्यायें अनन्त हैं । इसी प्रकार अजीव पुद्गल आदि रूप है, पुनः पुद्गल स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप होता है, साथ ही उसमें वर्ण, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श गुण होते हैं, फिर इनके भी अनेक आवान्तर भेद होते हैं, साथ ही प्रत्येक गुण के भी अनेक अंश (Degress) होते हैं, अतः इन विभिन्न अंशों और उनके विभिन्न संयोगों की अपेक्षा से पुद्गल आदि अजीव द्रव्यों की भी अनन्त पर्यायें होती हैं । जिनका विस्तृत विवेचन **प्रज्ञापनासूत्र** के पर्याय पद में किया गया है ।

(ख) अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय

पुनःपर्याय दो प्रकार के होती है – १. अर्थ पर्याय और २. व्यञ्जनपर्याय । एक ही पदार्थ की प्रतिक्षण में परिवर्तित होने वाली क्रमभावी पर्यायों को अर्थ पर्याय कहते हैं, तथा पदार्थ की उसके विभिन्न प्रकारों एवं भेदों में जो पर्याय होती है, उसे व्यञ्जन कहते हैं । अर्थ पर्याय सूक्ष्म एवं व्यञ्जन पर्याय स्थूल होती है । ज्ञातव्य है कि **धवला** (४/१/५/.४/३३७/६) में द्रव्य पर्याय को ही व्यञ्जन पर्याय कहा गया है और गुण पर्याय को ही अर्थ पर्याय भी कहा गया है । द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय की चर्चा हम पूर्व कर चुके हैं । यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि व्यञ्जन पर्याय ही द्रव्य पर्याय और अर्थ पर्याय ही गुण पर्याय है तो फिर इन्हें पृथक्-पृथक् क्यों बताया गया है, इसका उत्तर यह है कि प्रवाह की अपेक्षा से व्यञ्जन पर्याय चिरकायिक होती है, जैसे जीव की चेतना पर्याय सदैव बनी रहती है, चाहे चेतन अवस्थाएँ बदलती रहें, इसके विपरीत अर्थ पर्याय गुणों और उनके अंशों की अपेक्षा से प्रति समय बदलती रहती है । व्यञ्जन पर्याय सामान्य है, जैसे जीवों की चेतना पर्यायें जो सभी जीवों में और सभी कालों में पाई जाती हैं । वे द्रव्य की सहभावी पर्यायें हैं और अर्थ पर्याय विशेष है, जैसे किसी व्यक्ति विशेष की काल विशेष में होने वाली क्रोध आदि की क्रमिक अवस्थाएँ, अतः अर्थ पर्याय क्रमभावी हैं, वे क्रमिक रूप से काल क्रम में घटित होती रहती हैं । कालकृत भेद के आधार पर, उन्हें द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय से पृथक् कहा गया है ।

(ग) ऊर्ध्व पर्याय और तिर्यक् पर्याय

पर्याय को ऊर्ध्व पर्याय एवं तिर्यक् पर्याय के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जैसे भूत, भविष्य और वर्तमान के अनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्यों की जो अनन्त पर्यायें होती हैं, वे तिर्यक् पर्याय कहीं जाती हैं। जबकि एक ही मनुष्य के त्रिकाल में प्रतिक्षण होने वाले पर्याय परिणमन का ऊर्ध्व पर्याय कहा जाता है। तिर्यक् अभेद में भेद ग्राही है और ऊर्ध्व पर्याय भेद में अभेद ग्राही है। यद्यपि पर्याय दृष्टि भेदग्राही ही होती है, फिर भी अपेक्षा भेद से या उपचार से यह कहा गया है। दूसरे रूप में तिर्यक् पर्याय द्रव्य सामान्य के दिक् गत भेद का ग्रहण करती है और ऊर्ध्व पर्याय द्रव्य-विशेष के कालगत भेदों को।

(घ) स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय

द्रव्य में अपने निज स्वभाव की जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे स्वभाव पर्याय कहीं जाती हैं और पर के निमित्त से जो पर्यायें उत्पन्न होती हैं, वे विभाव पर्याय होती हैं। जैसे कर्म के निमित्त से आत्मा के जो क्रोधादि कषाय रूप परिणमन हैं, वे विभाव पर्याय हैं और आत्मा या केवली का ज्ञाता-द्रष्टा भाव स्वभाव पर्याय है। जीवित शरीर पुद्गल की विभाव पर्याय है और वर्ण, गन्ध आदि स्वभाव पर्याय हैं। ज्ञातव्य है कि धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल की विभाव पर्याय नहीं है। घटाकाश, मठाकाश आदि को उपचार से आकाश का विभाव पर्याय कहा जा सकता है, किन्तु यथार्थ से नहीं, क्योंकि आकाश अखण्ड् द्रव्य है, उसमें भेद उपचार से माने जा सकते हैं।

(ङ) सजातीय और विजातीय द्रव्य पर्याय

सजातीय द्रव्यों के परस्पर मिलने से जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह सजातीय द्रव्य पर्याय है, जैसे समान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि से बना स्कन्ध। इससे भिन्न विजातीय पर्याय है।

(च) कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय

स्वभाव पर्याय के अन्तर्गत दो प्रकार की पर्यायें होती हैं, कारण शुद्ध पर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय। पर्यायों में परस्पर कार्य भाव होता है। जो स्वभाव पर्याय कारण रूप होती है कारण शुद्ध पर्याय है और जो स्वभाव पर्याय कार्य रूप होती है, वे कार्य शुद्ध पर्याय हैं। किन्तु यह कथन सापेक्ष रूप से समझना चाहिए, क्योंकि जो पर्याय किसी का कारण है, वही दूसरी का कार्य भी हो सकती है। इसी क्रम में विभाव पर्यायों को भी कार्य अशुद्ध पर्याय या कारण अशुद्ध पर्याय भी माना जा सकता है।

(छ) सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय

जब किसी द्रव्य में या गुण में अनेक पर्यायें एक साथ होती हैं, तो वे सहभावी पर्याय कही जाती हैं। जैसे पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गन्ध, रस आदि रूप पर्यायों का एक साथ होना। काल की अपेक्षा से जिन पर्यायों में क्रम पाया जाता है, वे क्रम भावी पर्याय हैं। जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था।

(ज) सामान्य पर्याय और विशेष पर्याय

वैसे तो सभी पर्यायें विशेष ही हैं, किन्तु अनेक द्रव्यों की जो समरूप पर्यायें हैं, वे सामान्य पर्याय कही जा सकती हैं, जैसे अनेक जीवों का मनुष्य पर्याय में होना।

ज्ञातव्य है कि पर्यायों में न केवल मात्रात्मक अर्थात् संख्या और अंशों (Degrees) की अपेक्षा से भेद होता है, अपितु गुणों की अपेक्षा से भी भेद होते हैं। मात्रा की अपेक्षा से एक अंश काला, दो अंश काला, अनन्त अंश काला आदि भेद होते हैं, जबकि गुणात्मक दृष्टि से काला, लाल, श्वेत आदि अथवा खट्टा-मीठा आदि अथवा मनुष्य, पशु, नारक आदि भेद होते हैं।

गुण और पर्याय की वास्तविकता का प्रश्न

जो दार्शनिक सत्ता और गुण में अभिन्नता या तादात्म्य के प्रतिपादक हैं और जो परम सत्ता को तत्त्वतः अद्वैत मानते हैं, वे गुण और पर्याय को वास्तविक नहीं, अपितु प्रातिभासिक मानते हैं। उनका कहना है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों की परम सत्ता से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है, ये मात्र प्रतीतियाँ हैं। अनुभव के स्तर पर जिनका उत्पाद या व्यय है अर्थात् जो परिवर्तनशील है, वह सत् नहीं है, मात्र प्रतिभास है। उनके अनुसार परम सत्ता (ब्रह्म) निर्गुण है। इसी प्रकार विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी दार्शनिकों के अनुसार परमाणु भी एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा रूपादि विभिन्न गुणों की प्रतीति कराता है, किन्तु वस्तुतः उसमें इन गुणों की कोई सत्ता नहीं होती है। इन दार्शनिकों की मान्यता यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति हमारे मन पर निर्भर करती है। अतः वे वस्तु के सम्बन्ध में हमारे मनोविकल्प ही हैं। उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। यदि हमारी इन्द्रियों की संरचना भिन्न प्रकार की होती तो उनसे हमें जो संवेदना होती वह भी भिन्न प्रकार की होती। यदि संसार के सभी प्राणियों की आँखों की संरचना में रंग अंधता होती तो वे संसार की सभी वस्तुओं को केवल श्वेत-श्याम रूप में ही देखते और उन्हें अन्य रंगों का कोई बोध नहीं होता। लालादि रंगों के अस्तित्व का विचार ही नहीं होता। जिस प्रकार इन्द्रधनुष के रंग मात्र प्रतीति है वास्तविक नहीं अथवा जिस प्रकार हमारे स्वप्न की वस्तुएँ मात्र मनोकल्पनाएँ हैं, उसी प्रकार गुण और पर्याय भी मात्र प्रतिभास हैं। चित्त-विकल्प वास्तविक नहीं है।

किन्तु जैन दार्शनिक अन्य वस्तुवादी दार्शनिकों (Realist) के समान द्रव्य के साथ-साथ गुण और पर्याय को भी यथार्थ/वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार प्रतीति और प्रत्यय यथार्थ के ही होते हैं। जो अयथार्थ हो उसका कोई प्रत्यय (Idea) या प्रतीति ही नहीं हो सकती है। आकाश-कुसुम या परी आदि की अयथार्थ कल्पनाएँ भी दो यथार्थ अनुभूतियों का **चैत्तसिक** स्तर पर किया गया मिश्रण मात्र है। स्वप्न भी यथार्थ अनुभूतियों और उनके **चैत्तसिक** स्तर पर किये गये मिश्रणों से ही निर्मित होते हैं, जन्मान्ध को कभी रंगों के कोई स्वप्न नहीं होते हैं। अतः अयथार्थ की कोई प्रतीति नहीं हो सकती है। इससे न केवल द्रव्य अपितु गुण और पर्याय भी वास्तविक (Real) सिद्ध होते हैं। सत्ता की इस वास्तविकता के कारण ही प्राचीन जैन आचार्यों ने उसे अस्तिकाय कहा है। अतः उत्पाद-व्यय धर्मा होकर भी पर्याय प्रतिभास न होकर, वास्तविक हैं।

क्रमबद्ध पर्याय

पर्यायों के सम्बन्ध में जो एक महत्त्वपूण प्रश्न इन दिनों बहुचर्चित है, वह है पर्यायों की क्रमबद्धता। यह तो सर्वमान्य है कि पर्यायें सहभावी और क्रमभावी होती हैं, किन्तु पर्यायें क्रमबद्ध ही हैं, यह विवाद का विषय है। पर्यायें क्रम से घटित होती हैं, किन्तु इस आधार पर यह मान लेने पर कि पर्यायों के घटित होने का यह क्रम भी पूर्व नियत है, पुरुषार्थ के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता है। पर्यायों को क्रमबद्ध मानने का मुख्य आधार जैन दर्शन में प्रचलित सर्वज्ञता की अवधारणा है। जब एक बार यह मान लिया जाता है कि सर्वज्ञ या केवली सभी द्रव्यों के त्रैकालिक पर्यायों को जानता है, तो इसका अर्थ है कि सर्वज्ञ के ज्ञान में सभी द्रव्यों की सर्व पर्यायें क्रमबद्ध और नियत हैं, उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। भवितव्यता को पुरुषार्थ के माध्यम से बदलने की सम्भावना नहीं है। जिसका जैसा पर्याय परिणमन होना है, वह वैसा ही होगा। इस अवधारणा का एक अच्छा पक्ष यह है कि इसे मान लेने पर व्यक्ति भूत और भावी के सम्बन्ध में व्यर्थ के संकल्प-विकल्प से मुक्त रहकर समभाव में रह सकता है। दूसरे उसमें कर्तृत्व का मिथ्या अहंकार भी नहीं होता है। किन्तु इसका दुर्बल पक्ष यह है, इसमें पुरुषार्थ के लिए अवकाश नहीं रहता है और व्यक्ति निराशावादी और अकर्मण्य बन जाता है। अपने भविष्य को संवारने का विश्वास भी व्यक्ति के पास नहीं रह जाता है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद की समर्थक है, अतः इसमें नैतिक उत्तरदायित्व भी समाप्त हो जाता है। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से कुछ भी अन्यथा नहीं कर सकता है तो उसे किसी भी अच्छे-बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता।

यद्यपि इस सिद्धान्त के समर्थक जैनदर्शन के पंचकारणसमवाय के सिद्धान्त के आधार पर पुरुषार्थ की सम्भावना से इंकार नहीं करते हैं। किन्तु यदि उनके अनुसार पुरुषार्थ नियत है और व्यक्ति संकल्प स्वातन्त्र्य के आधार पर अन्यथा कुछ करने में समर्थ नहीं है तो उसे पुरुषार्थ कहना भी उचित नहीं है और यदि पुरुषार्थ नियत है तो फिर वह नियति से भिन्न नहीं है। क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा में व्यक्ति नियति का दास बनकर रह जाता है। चाहे पंचकारणसमवाय के आधार पर कार्य में पुरुषार्थ आदि अन्य कारण घटकों की सत्ता मान भी ली जाये तो भी वे नियत ही होंगे। अतः क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा नियतिवाद से भिन्न नहीं होगी। नियतिवाद व्यक्ति को संकल्प-विकल्प से और कर्तृत्व के अहंकार से दूर रखकर, चित्त को समाधि तो देता है, किन्तु उसमें नैतिक उत्तरदायित्व और साधनात्मक पुरुषार्थ के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

यदि क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा वाले पक्ष की ओर से यह कहा जाये कि जो असर्वज्ञ है, वह अपने भावी को नहीं जानता है, अतः उसे पुरुषार्थ करना चाहिए। किन्तु इस कथन को एक सुझाव मात्र कहा जाता है, इसके पीछे सैद्धान्तिक बल नहीं है। यदि सर्वज्ञ के ज्ञान में मेरी समस्त भावी पर्यायें नियत हैं तो फिर पुरुषार्थ करने का क्या अर्थ रह जाता है। और जैसा कि पूर्व में कहा गया है यदि पुरुषार्थ की पर्यायें भी नियत हैं तो फिर उसके लिए प्रेरणा का क्या अर्थ है ?

क्रमबद्ध पर्याय की अवधारणा के पक्ष में सर्वज्ञता की अवधारणा के अतिरिक्त एक अन्य तर्क कार्य-कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की कठोर व्याख्या के आधार पर भी दिया जाता है। यदि कार्य-कारण व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त को अपने कठोर अर्थ में लिया जाता है तो फिर इस व्यवस्था के अधीन भी सभी पर्यायें नियत ही सिद्ध होगी। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सर्वज्ञता का जो अर्थ परवर्ती जैन आचार्यों ने लिया है, उसका ऐसा अर्थ प्राचीन काल में नहीं था। उस समय सर्वज्ञ का अर्थ धर्मज्ञ था या अधिक से अधिक तात्कालिक सभी दार्शनिक मान्यताओं का ज्ञान था। **भगवतीसूत्र** की यह अवधारणा कि **"केवली सिय जाणई सिय ण जाणई"** से भी सर्वज्ञता का वह अर्थ कि सर्वज्ञ सभी द्रव्यों त्रैकालिक पर्यायों को जानता है खण्डित होता है। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने तो स्पष्ट कहा है कि निश्चय नय से सर्वज्ञ आत्मज्ञ होता है, सर्वज्ञ सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को जानता है, यह मात्र व्यवहार कथन है और व्यवहार अभूतार्थ है। इस सम्बन्ध में **पं. सुखलाल जी, डो. नगीन जे. शाह** और मैंने विस्तार से चर्चा की है, यहाँ उस चर्चा को दोहराना आवश्यक नहीं है। पुनः जैन कर्म सिद्धान्त से कर्मविपाक में उदीरणा, संक्रमण, अपवर्तन और उदवर्तन आदि की जो अवधारणाएँ हैं, वे कर्म व्यवस्था में पुरुषार्थ की सम्भावनाएँ स्पष्ट कर देती हैं। पुनः यदि महावीर को क्रमबद्धपर्याय की अवधारणा मान्य होती तो फिर गोशालक के नियतिवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की स्थापना वे क्यों करते ? जहाँ तक मेरी जानकारी है न तो **भगवती, प्रज्ञापना** आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में और न **षट्खण्डागम, कसायपाहुड** आदि दिगम्बर आगमों में तथा न ही **कुन्दकुन्द** के ग्रन्थों में कहीं क्रमबद्धपर्याय की स्पष्ट अवधारणा है। फिर भी क्रमबद्ध पर्याय के सम्बन्ध में **डो. हुकमचन्द्र जी भारिल्ल** का जो ग्रन्थ है, वह दर्शन जगत् में इस विषय पर लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में मत वैभिन्य अपनी जगह है, किन्तु पर्यायों की क्रमबद्धता के समर्थन में सर्वज्ञता को आधार मानकर दी गई उनकी युक्तियाँ अपना महत्त्व रखती हैं। विस्तार भय से इस सम्बन्ध में गहन चर्चा में न जाकर अपने लेख को यही विराम देना चाहूँगा और विद्वानों से अपेक्षा करूंगा कि पर्याय के सम्बन्ध में उठाये गये इन प्रश्नों पर जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अपना चिन्तन प्रस्तुत करें।

६
पर्याय की अवधारणा व स्वरूप

देवेन्द्रकुमार शास्त्री

भारतीय धर्म-दर्शन, विज्ञान, संस्कृति, साहित्य आदि में 'पर्याय' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों तथा विविध सन्दर्भों में किया जाता है। जैनधर्म का यह एक पारिभाषिक शब्द है, जो वस्तु में अंश-कल्पना के लिए प्रयुक्त होता है। शब्दकोशों में 'पर्याय' शब्द के अनेक अर्थ लक्षित होते हैं। संस्कृत साहित्य में इसका प्राचीनतम प्रयोग वाल्मीकि-रामायण में दृष्टिगोचर होता है[१]। वहाँ पर इसका अर्थ अवधि (काल-सीमा) है।

'पर्याय' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

'पर्याय' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है। सामान्यतः यह 'परि' पूर्वक 'अय्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है — परिणमन। जो सब ओर से भेद को प्राप्त करे सो पर्याय है[२]। जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है अर्थात् परिणमन करती है वह पर्याय है, ऐसी व्युत्पत्ति है[३]। **आचार्य हेमचन्द्र** ने "**अभिधानचिन्तामणिनाममाला**" में अनुपूर्वी, परिपाटी, क्रम, अनुक्रम, आवृत्ति तथा पर्याय इन छहों को षडनुक्रम कहा है[४]। 'पर्याय' शब्द के सबसे अधिक अर्थ "**गीर्वाणलघुकोश**" में मिलते हैं[५] — १. फेरा, २. प्रवाह, ३. पुनरावृत्ति, ४. अनुक्रम, ५. प्रकार, ६. उपाय, ७. समानार्थक शब्द, ८. निर्माण, ९. अन्त, १०. विपरीतता, ११. द्रव्यधर्म विशेष, १२. एकत्रित करना।

'पर्याय' शब्द के बोधक 'पर्याय' और 'पर्यव' शब्द एक ही हैं। अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद, भंग, व्यवहार, विकल्प से सब एकार्थवाचक हैं। 'पर्याय' को विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति भी कहते हैं।

यथार्थ में 'पर्याय' का अर्थ वस्तु का वह अंश है, जो परिणमनशील है। प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के अंश हैं — ध्रुव और क्षणिक। द्रव्य, गुण और पर्यायें सामान्यतः एक 'अर्थ' नाम से कही गई है। अर्थ द्रव्यमयी है और द्रव्य गुणमूलक कहे गये हैं तथा द्रव्य और गुणों से पर्यायें होती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि जैनदर्शन में द्रव्य, गुण, पर्याय के सन्दर्भ में पर्याय का आलोचन किया जाता है।

दूसरे शब्दों में पर्याय के बिना वस्तु का और वस्तु के बिना पर्याय का विचार नहीं किया जा सकता। जिसमें गुण वसते हैं, उसे वस्तु कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ सत्तावान् और स्वतन्त्र है। द्रव्य सत्तारूप है, गुण सत्तारूप हैं और पर्याय सत्तारूप हैं। इस प्रकार सत्ता का विस्तार है। परन्तु तीनों में द्रव्य, गुण, पर्याय की एकता का परस्पर में अभाव है। जैसे एक मोती की माला हार, सूत्र और मोती इन भेदों से तीन प्रकार की है, उसी प्रकार एक पदार्थ द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद से तीन प्रकार का है। जैसे मोती की माला में शुक्ल गुण, श्वेत हार तथा सफेद धागा और शुक्ल मोती की भिन्नता से भेद देखा जाता है, वैसे ही द्रव्य, गुण और पर्याय में सत्ता का विस्तार होने से भिन्नता है। अतः मोती की माला में जो श्वेत गुण है सो हार नहीं है, सूत्र नहीं है और मोती नहीं है। उनमें परस्पर भेद है। इसी प्रकार एक द्रव्य में जो सत्ता गुण है वह द्रव्य नहीं, गुण नहीं और पर्याय नहीं है तथा जो द्रव्य, गुण और पर्याय है सो सत्ता नहीं हैं। इस प्रकार परस्पर भेद हैं। यह भेद स्वरूप से है। जैसे द्रव्य स्वतन्त्र है, गुण स्वतन्त्र है, वैसे पर्याय भी स्वतन्त्र है। वह एक समय का सत् है। इसीलिए इनमें अन्यत्व भेद व्यवहार से कहा जाता है; न कि द्रव्य का अभाव गुण है और गुण का अभाव द्रव्य है–ऐसा अभावरूप भेद नहीं है। भेद जो कहा गया है, वह गुण-गुणी में भिन्नता होने से अन्यत्व-भेद है; सर्वथा अभावरूप भेद नहीं है। इसे दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि इनमें दो द्रव्यों जैसी भिन्नता नहीं है, क्योंकि इनमें प्रदेश-भेद का अभाव है। अतः इसे पृथकत्व का निषेध कहते हैं; परन्तु इनमें तद्-अभावरूप मिलता है, क्योंकि संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से इनमें भेद है। इसको अन्यत्व का समर्थन कहते हैं।

द्रव्य, गुण, पर्याय इन तीनों के नाम अलग-अलग होने से संज्ञा-भेद है। द्रव्य एक है, गुण अनन्त हैं, पर्यायें अन्तानन्त हैं, इसलिए संख्या-भेद है। द्रव्य का जो लक्षण कहा गया है, वहीं गुण और पर्याय का लक्षण नहीं है, अतः यह लक्षण-भेद है। इनका प्रयोजन है – गुण-पर्यायों का भेद किए बिना अखण्ड एक वस्तु का ज्ञान कराना। शुद्ध द्रव्य आश्रय करने योग्य उपादेय है, यह द्रव्य का प्रयोजन है। द्रव्य की महिमा प्रकट कर कहना यह गुण का प्रयोजन है और द्रव्य-गुणों के कार्य बताना यह पदार्थ का प्रयोजन है। इस प्रकार तीनों में प्रयोजन-भेद है। सारांश यह है कि इन तीनों में गुण-गुणी भेद है, परन्तु प्रदेश-भेद नहीं।[८] तथा सत्ता के स्वरूप का अभाव द्रव्य, गुण, पर्यायों में है और द्रव्य, गुण, पर्याय के स्वरूप का अभाव सत्ता में है।[९] इस प्रकार एक द्रव्य में जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है।[१०]

द्रव्य का लक्षण – गुण और पर्यायवान् को द्रव्य कहते हैं।[११] जिसमें गुण और पर्याय होते हैं, वह द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन-स्वभाव है। वस्तु का स्वभाव परिणाम वस्तु से अभिन्न किंवा एक रूप है। परिणाम का शब्दार्थ पर्याय है। पर्याय के बिना कोई द्रव्य नहीं होता है, क्योंकि ऐसा नियम है कि कोई भी द्रव्य किसी भी समय में परिणमन किए बिना नहीं रहता।[१२] जैसे दूध, दही, तक्र, नवनीत, घी आदि गोरस के परिणाम हैं। इन परिणामों के बिना गोरस भिन्न नहीं पाया जाता। जहाँ ये परिणाम नहीं है, वहाँ गोरस की सत्ता नहीं है। वास्तव में द्रव्य के बिना परिणाम नहीं होता। क्योंकि परिणाम का आधार द्रव्य है। यदि द्रव्य न हो, तो परिणाम किसके आश्रय से रहे। यदि गोरस नहीं है, तो दूध,

दही, छाछ, घी कहाँ से उत्पन्न होगा। इसी प्रकार द्रव्य के बिना परिणाम नहीं हो सकता। इस प्रकार जो द्रव्य, गुण, पर्याय में स्थित है, वह पदार्थ है।

परिणामः पर्याय – परिणाम (पर्याय) के बिना द्रव्य नहीं होता है। जिसमें द्रव्य, गुण, पर्याय की एकता है, उसमें द्रव्य का अस्तित्व है। जो इन तीनों में से एक भी कम है, वह द्रव्य नहीं हो सकता। जैसे स्वर्ण द्रव्य है, उसमें पीतादि गुण हैं और कुण्डल आदि पर्याय हैं। ये गुण और पुर्याय द्रव्य के ही आत्मस्वरूप हैं। इसलिए ये किसी भी दशा में द्रव्य से पृथक् नहीं होते। द्रव्य के परिणमन को पर्याय कहते हैं, जो बतलाता है कि द्रव्य सदा एक-सा कायम न रहकर प्रतिक्षण बदलता रहता है। जिसके कारण द्रव्य सजातीय से मिलते हुए और विजातीय से भिन्न प्रतीत होते हैं, वे गुण कहलाते हैं। ये गुण ही अनुवृत्ति और व्यावृत्ति के साधन होते हैं।[१३]"

यह पहले ही कह आये हैं कि "पर्याय" का वास्तविक अर्थ वस्तु का अंश है। ध्रुव अन्वयी या सहभूत तथा क्षणिक व्यतिरेकी या क्रमभावी के भेद से वे अंश दो प्रकार के होते हैं। अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं। वे गुण के विशेष परिणमन रूप होती हैं। अंश की अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, पर रूढ़ि से केवल व्यतिरेकी अंश को ही पर्याय कहना प्रसिद्ध है।[१४]" इतना विशेष है कि जैसा द्रव्य होता है, वैसे ही गुण पर्याय होते हैं। यदि द्रव्य स्वर्ण है, तो उसमें स्वर्ण का गुण और पर्याय कड़ा, कुण्डल आदि परिणाम होगा और यदि द्रव्य मिट्टी होगी तो गुण और परिणाम घट, सकोरा आदि मृत्तिकारूप होगा।

एक समय का सत्

पर्याय एक समय का सत् है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त है, वह सत् है[१५]। ये तीनों एक सत् के ही अंश हैं। यदि पदार्थ को सर्वथा कूटस्थ नित्य माना जाए तो बीज से वृक्ष तक की परिणमित होने वाली विभिन्न उत्पद्यमान और नाशवान अवस्थाओं के अभाव का प्रसंग आएगा। परन्तु वस्तु-स्थिति यह है कि आगामी पर्याय का उत्पाद, पूर्व पर्याय का व्यय, मूल वस्तु की स्थिरता (ध्रुवता) इन तीनों की एकता ही द्रव्य का लक्षण है। द्रव्य के गुण-पर्याय रूप परिणमन को स्वभाव कहते हैं, जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित है। जैसे एक द्रव्य के चौड़ाई रूप सूक्ष्मप्रदेश अनेक हैं, उसी प्रकार समस्त द्रव्यों की परिणति के प्रवाहक्रम से लम्बाईरूप सूक्ष्मपरिणाम भी अनेक हैं। द्रव्यों की चौड़ाई प्रदेश है और लम्बाई परिणति है। प्रदेश सदा काल स्थायी है, इसलिए वह चौड़ाई है और परिणति प्रवाह रूप क्रम से है, इसलिए लम्बाई है। जैसे द्रव्य के प्रदेश पृथक्-पृथक् हैं, उसी प्रकार तीन काल सम्बन्धी परिणाम भी अलग-अलग हैं। एक द्रव्य अपने सम्पूर्ण प्रदेशों में है, इस अपेक्षा से न उत्पन्न होता है, न नाश होता है, ध्रुव है। अतः प्रदेश उत्पाद, व्यय और ध्रुवता को धारण किए हुए हैं। इसी प्रकार परिणाम अपने काल में पूर्व से उत्तर परिणामों की अपेक्षा उत्पाद-स्वरूप है, सदा एक परिणतिप्रवाह की अपेक्षा ध्रुव है। इस कारण परिणाम भी उत्पाद-व्यय-ध्रुवता संयुक्त है[१६]। यह भी ध्यान देने योग्य है कि व्यय रहित उत्पाद नहीं होता और उत्पाद रहित व्यय नहीं होता एवं उत्पाद तथा व्यय ये दोनों नित्य

स्थिर रूप पदार्थ के बिना नहीं होते ।[१७] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य की पर्यायों में रहते हैं और निश्चय ही पर्यायें द्रव्य में रहती हैं ।[१८] उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पर्याय पर अवलम्बित हैं और पर्यायें द्रव्य के आश्रित हैं । इस कारण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सभी एक द्रव्य हैं, अन्य कोई द्रव्यान्तर नहीं है । जैसे वृक्ष, स्कन्ध, शाखा, मूल आदिरूप है, परन्तु स्कन्धादि वृक्ष से पृथक् पदार्थ नहीं हैं, वैसे ही उत्पादादि से द्रव्य पृथक् नहीं है, एक ही है । द्रव्य अंशी है और उत्पादादि अंश हैं ।[१८]

कालबोधक प्रत्ययः पर्याय – प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र[१९], काल और भाव से युक्त होती है । उसका अस्तित्व स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) से है; परचतुष्टय से नहीं है । अतः स्वचतुष्टय के बिना वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं द्रव्य है, उसके प्रदेश उसका क्षेत्र हैं; क्योंकि सभी द्रव्य अपने प्रदेशों में निवास करते हैं, उसके गुण उसका भाव है, उसी प्रकार उसकी पर्यायें उसका काल है । दूसरे शब्दों में गुण भाव का, प्रदेश क्षेत्र का और पर्याय काल-वाचक है । सामान्य और विशेष ये द्रव्य के भेद हैं; एक और अनेक ये भाव के भेद हैं । अभेद और भेद ये क्षेत्र के भेद हैं और नित्य तथा अनित्य ये काल के भेद हैं । काल द्रव्य का अस्तित्व जीव और पुद्गल के परिणमन से जाना जाता है । काल द्रव्य की समय आदि पर्याय जीव, पुद्गल के परिणमन करने से ही प्रकट होती है । इस कारण काल द्रव्य भी लोक में है[२०] । सबसे सूक्ष्म अविभागी परमाणु होता है । वह परमाणु जितनी जगह घेर कर ठहरता है, रहता है, उतनी जगह का नाम प्रदेश है । यद्यपि पुद्गल द्रव्य परमाणु की अपेक्षा अप्रदेशी है, तथापि दो अणु आदि में मिलने की शक्ति है । पर्यायों की अपेक्षा संख्यात, असंख्यात, अनन्तप्रदेशी पुद्गल द्रव्य है । लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं और एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु ठहरा हुआ है । यद्यपि कालाणु परस्पर मिलने रूप शक्ति से रहित है, तथापि संख्या में असंख्यात हैं । एक आकाश के प्रदेश में जो कालाणु है, वह दूसरे प्रदेश में रहने वाले कालाणु से कदापि नहीं मिलता, इस कारण अन्य प्रदेशवर्ति कालाणु से भिन्न है । यदि कालाणु भिन्न नहीं होते और उनमें मिलने की शक्ति होती तो समय नामक पर्याय भी नहीं होती । पर्याय समय से अन्य कोई भी काल नहीं है, जो निरंशी है[२१]। इस प्रकार सत् सामान्य की परिणमन रूप विवक्षा से काल का निर्वचन किया जाता है । "**षट्खण्डागम**" में कहा गया है कि परिणामों से पृथक् भूतकाल का अभाव है । परिणाम अनन्त कहे गए हैं[२२] । यही नहीं, अतीत और अनागत पर्यायों को काल स्वीकार किया गया है[२३] ।

पर्याय का लक्षण – पर्याय द्रव्य के क्रम-भावी अंश हैं । **आचार्य जयसेन** अन्वय को गुण का और व्यतिरेक को पर्याय का लक्षण कहते हैं । गुण और पर्याय में यही अन्तर है कि ध्रुव अन्वयी या सहभावी का नाम गुण है और क्रमभावी का नाम पर्याय है । वास्तव में गुण, पर्यायें एक द्रव्यपर्याय है, क्योंकि गुण और पर्याय एक द्रव्यात्मक ही होती है ।

पर्याय द्रव्य के व्यतिरेकी अंश है । जो व्यतिरेकी है और अनित्य है तथा अपने काल में द्रव्य के साथ तन्मय होकर रहती है, ऐसी अवस्था विशेष या धर्म या अंश को पर्याय कहा जाता है ।[२४] पर्याय एक के बाद दूसरी इस प्रकार क्रम से होती है, इसलिए पर्याय क्रमवर्ती कहीं जाती है ।[२५] पर्यायें व्यतिरेकी होती हैं[२६], **आचार्य अमृचन्द्र** अन्वय को द्रव्य कहते हैं, द्रव्य के विशेषणों को गुण और द्रव्य व्यतिरेक

को पर्याय कहते हैं।[२७] 'व्यतिरेक' का अर्थ यहाँ पर भेद है। जो काल के प्रमाण से एक समय मात्र चैतन्य आदि के परिणति-भेद हैं, उनको पर्याय कहते हैं। पदार्थों के अवयवों को भी परस्पर व्यतिरेक वाले होने से उनको भी पर्याय कहा जाता है।[२८] विश्व में जितने ज्ञेय पदार्थ हैं, वे सभी गुण, पर्याय सहित हैं। अतः प्रत्येक द्रव्य आधारभूत अनन्तगुणस्वरूप है। गुण का नाम विस्तार है, पर्याय का नाम आयत है।[२९] विस्तार चौड़ाई को कहते हैं और आयत लम्बाई को कहते हैं। गुण चौड़ाईरूप हैं, जो अविनाशी सदा द्रव्य के साथ रहने वाले हैं और पर्याय लम्बाई रूप हैं, जिससे अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों कालों में एक के बाद दूसरी इस क्रम से प्रकट होती हैं।

पर्याय के भेद – यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सम्पूर्ण द्रव्य परिणमन करता है, द्रव्यांश नहीं। जैसे तरंगमालाओं से व्याप्त समुद्र तरंग रूप से स्वयं परिणमन करता है, क्योंकि 'सत्' स्वयं उत्पाद है, स्वयं ध्रौव्य है और स्वयं व्यय भी है। **आचार्य अकलंक देव** कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय के परिवर्तन होने पर अपरिवर्तनीय अंश कोई अवश्य रहता है। यदि कोई अंश परिवर्तनशील और कोई अंश अपरिवर्तनशील हो तो द्रव्य में सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य का दोष आता है[३०]। जिनागम की यह मूल मान्यता है कि द्रव्य जिस समय जिस भावरूप से परिणमन करता है, उस समय वह वैसा ही होता है।[३१] उत्पाद, व्यय को द्रव्य का अंश कहने का कारण यह है कि उत्पाद, स्थिति और भंग पर्यायों में होता है। पर्यायें नियम से द्रव्य होती हैं, इसलिए उन सम्पूर्ण रूप में एक द्रव्य है। उत्पादादि सब द्रव्य ही हैं, वे द्रव्य से पृथक् नहीं हैं।[३२]

पर्याय के दो भेद हैं – एक द्रव्यपर्याय और दूसरी गुणपर्याय। अनेक द्रव्यों से मिलकर जो एक पर्याय होती है, वह द्रव्यपर्याय है। द्रव्यपर्याय दो प्रकार की है – एक समान जातीय, दूसरी असमान जातीय। वास्तव में द्रव्य के जितने प्रदेश रूप अंश हैं, उतने सब नाम से द्रव्यपर्याय हैं। द्रव्यपर्याय का लक्षण यह कहा गया है कि अनेक द्रव्यों में एकता का बोध कराने वाली द्रव्यपर्याय है, वह अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत द्रव्यपर्याय है।[३३] अनेक द्रव्यों की जो एक पर्याय है, वह द्रव्यपर्याय है। अनेक द्रव्यों में वह एक द्रव्यत्व के लिए कारण कही गई है।[३४] अचेतन द्रव्य का अन्य अचेतन द्रव्यों के साथ मिल जाना समानजातीय द्रव्यपर्याय है। अतः पुद्गल द्रव्य के दो, तीन, चार इत्यादि परमाणु मिलकर स्कन्ध हो जाते हैं। जीव का अन्य भव में जाने से शरीर रूप पुद्गलों के साथ मनुष्य, देव आदि पर्याय की उत्पत्ति होना, अचेतन पुद्गल द्रव्यों के साथ मिलाप होना असमानजातीय द्रव्यपर्याय है। ये दोनों प्रकार की अनेक द्रव्यात्मक एकरूप द्रव्यपर्यायें जीवों और पुद्गलों की ही होती है। यही नहीं, अनेक द्रव्यों का परस्पर संश्लेष रूप सम्बन्ध होने से वे सभी पर्यायें अशुद्ध ही होती हैं। परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों का परस्पर संश्लेष रूप सम्बन्ध न होने से उनकी पर्याय कभी भी अशुद्ध नहीं होती; क्योंकि अशुद्धता परद्रव्य के सम्बन्ध से कही जाती है।[३५]

गुणपर्याय के भी दो भेद कहे गये हैं – स्वभाव गुणपर्याय और विभाव गुणपर्याय। **आचार्य जयसेन** के शब्दों में जो गुण के द्वारा अन्वय रूप से एकत्व की प्रतिपत्ति रूप ज्ञान कराने में कारणभूत होती है, उसे गुणपर्याय कहते हैं। वह एक द्रव्यगत ही होती है, जैसे आम के फल में हरा, पीला आदि रंग[३६]।

स्वभाव गुणपर्याय वह है, जो समस्त द्रव्यों में प्रति समय अपने-अपने अगुरुलघु गुणों से षट्गुणी हानि-वृद्धि रूप परिणमन होते हैं। विभाव गुणपर्याय वह है, जो वर्णादि गुण पुद्गल-स्कन्धों में ज्ञानादि गुण जीव में पुद्गल के संयोग के पहले आगामी दशा में हीनाधिक होकर परिणमन करते हैं। जैसे वस्त्र शुक्लादि गुणों से अपनी परिणति रूप पर्याय से सिद्ध है, इसलिए गुणपर्यायमय वस्त्र है। इसी प्रकार द्रव्य गुणपर्यायमय है। जैसे वस्त्र के दो-तीन पाट मिलकर समानजातीय पर्याय होती है, उसी तरह पुद्गल की द्व्यणुक, त्र्यणुकादि अनेक समानजातीय पर्याय होती है। जैसे वस्त्र के रेशम और कपास के दो-तीन पाट मिलकर असमानजातीय द्रव्यपर्याय होती है, उसी तरह जीव पुद्गल मिलकर देव, मनुष्य आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय होती है। जैसे किसी वस्त्र में अपने अगुरुलघुगुण द्वारा काल-क्रम से नाना प्रकार के परिणमन होने से अनेकता लिए शुक्लादि गुणों की गुण-स्वरूप स्वभावपर्याय होती है, उसी प्रकार सभी द्रव्यों में सूक्ष्म अपने-अपने अगुरुलघुगुणों से समय-समय षट्गुणी हानि-वृद्धि से नाना स्वभाव गुणपर्याय हैं। और जैसे वस्त्र में अन्य द्रव्य के संयोग से वर्णादि गुणों की कृष्ण-पीतादि भेदों से पूर्व-उत्तर अवस्था में हीन अधिक रूप विभावगुण-पर्यायें होती हैं, उसी प्रकार पुद्गल में वर्णादि गुणों की तथा आत्मा में ज्ञानादि गुणों की परसंयोग से पूर्व तथा उत्तर अवस्था में हीन-अधिक विभावगुणपर्याय है।[३७] अन्य प्रकार से पर्याय के दो भेद कहे गये हैं — अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय एक समयवर्ती पर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं, जो सूक्ष्म, क्षणक्षयी तथा वचनगोचर-विषय नहीं होती है।[३८]

चिरकाल तक रहने वाली पर्याय को व्यञ्जनपर्याय कहते हैं। व्यञ्जनपर्याय स्थूल, चिरकालस्थायी, वचनगोचर तथा अल्पज्ञानी के ज्ञान का विषय होती है। जीव की मनुष्य, देव आदि व्यञ्जनपर्यायें हैं। जीव की भगवान रूप सिद्ध-पर्याय स्वभाव व्यञ्जनपर्याय है। मनुष्य, देव आदि पर्यायें विभाव व्यञ्जनपर्याय हैं। अविभागी पुद्गल परमाणु द्रव्य की स्वभाव द्रव्यव्यञ्जन पर्याय है।[३९] अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय दोनों ही स्वभावविभाव के भेद से दोनों प्रकार की होती हैं। ये सभी पर्यायें द्रव्यों में और उनके गुणों में रहती हैं। जीव के केवलज्ञान आदि स्वभावगुण हैं और मतिज्ञान आदि विभावगुण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पर्याय के दो भेदों को इस प्रकार कहा है कि[४०] — १. स्व-परसापेक्ष, २. निरपेक्ष। परसापेक्ष पर्याय का ही दूसरा नाम विभावपर्याय है तथा निरपेक्ष पर्याय का दूसरा नाम स्वभावपर्याय है। **श्री माइल्ल धवल** ने द्रव्य और गुणों में स्वभाव तथा विभाव की अपेक्षा से पर्यायों के चार भेदों का वर्णन किया है। उनका कथन है[४१] — द्रव्य और गुणों में स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय जाननी चाहिए। जीव में जो स्वभाव हैं, कर्मकृत होने से वे भी विभाव हैं। द्रव्य की शुद्ध पर्याय को ही स्वभाव पर्याय कहते हैं। जीव द्रव्य के प्रदेश शरीराकार होते हैं। जीव के मुक्त हो जाने पर भी वे प्रदेश किंचित् न्यून शरीराकार ही रहते हैं। फिर उनमें कोई हलन-चलन नहीं होता और न अन्य आकार रूप से परिणमन होता है। उनकी यह अवस्था जीव द्रव्य की स्वभाव पर्याय हैं, क्योंकि उसके होने में अब कोई परनिमित्त नहीं है। क्योंकि कर्म के निमित्त से प्राप्त शरीरादि का अभाव हो चुका है। **श्री माइल्लधवल** के शब्दों में जीव के द्रव्य-भावकर्मों से मुक्त हुए जो प्रदेश शरीर के आकार रूप से स्थित होकर निश्चल हैं, वे शुद्धद्रव्यपर्याय हैं। इसी प्रकार द्रव्य-कर्म और भावकर्म से रहति जीव के ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यगुण

होते हैं, उन रूप जीव की शुद्ध गुणपर्याय जानो ।[४२] परनिमित्त से होने वाली पर्याय को विभावपर्याय कहते हैं । संसारी जीव के आत्मप्रदेशों का वही आकार होता है, जो शरीर का आकार होता है और शरीर नामकर्म के निमित्त से प्राप्त होता है । अतः जीव के प्रदेशों का शरीर रूप परिणाम होना विभाव द्रव्यपर्याय है। इसी प्रकार संसारी जीव की मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान ये सब जीव की शुद्ध गुणपर्याय जानो ।[४२] परनिमित्त से होने वाली पर्याय को विभावपर्याय कहते हैं । संसारी जीव के आत्मप्रदेशों का वही आकार होता है जो शरीर का आकार होता है और शरीर नामकर्म के निमित्त से प्राप्त होता है । अतः जीव के प्रदेशों का शरीर रूप परिणाम होना विभाव द्रव्यपर्याय है । इसी प्रकार संसारी जीव की मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान ये सब जीव की विभावगुणपर्याय हैं । जीव जब पूर्व शरीर को छोड़कर, नया शरीर धारण *करने के लिए मोड़ पूर्वक गमन करता है, उस समय उसके शरीर नहीं होने पर भी उसके आत्मा के* प्रदेशों का वही आकार बना रहता है, जिस शरीर को उसने छोड़ दिया है । उसकी यह परिणति भी विभावद्रव्यपर्याय है ।[४३]

इस प्रकार जीवद्रव्य की स्वभाव-विभाव पर्यायों का और जीव की स्वभाव-विभाव गुणपर्यायों का वर्णन किया गया है ।

'द्रव्य' शब्द 'द्रु' धातु से निष्पन्न है । उसका अर्थ है — जाना या प्राप्त करना । जो गुण-पर्यायों को प्राप्त करता है, वह द्रव्य है । प्रत्येक द्रव्य एक स्वभाव वाला है जो अनादिसिद्धि है । द्रव्य में होने वाली विभिन्न परिणमन रूप जो अनेकता है, उसका कारण परिणाम किंवा पर्याय है । द्रव्य त्रिकालवर्ती है । उसमें जो ध्रुव अंश है, वह तीनों कालों में ध्रुव रहता है । किन्तु जो क्षणिक अंश है, उसका प्रवाह सदा चलता रहता है, एक पर्याय जाती है तो दूसरी पर्याय आती है । इस तरह पर्याय उत्पन्न होती है और नष्ट होती रहती है; परन्तु द्रव्य सदा स्थिर रहता है । द्रव्य कभी न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है ।

परिणमनशील पर्याय — प्रत्येक वस्तु नित्य होने पर भी परिणमनशील है । जो वस्तु को सर्वथा नित्य मानता है, उसके मत में सर्वथा नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है । जो अर्थक्रिया से रहित है, वह द्रव्य नहीं है ।[४४] द्रव्य का सामान्य लक्षण है — अर्थ-क्रिया का होना ।[४५] जो जाना जाता है, प्राप्त किया जाता है, निष्पादन किया जाता है, वह अर्थ, कार्य या पर्याय है ।[४६] 'अर्थ' से अभिप्राय है — क्रिया करने से । कार्य को करने का नाम अर्थक्रिया है । प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक ऐसा मानते हैं, कि जिसमें अर्थक्रिया होती है, वही परमार्थ सत् है । परन्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया सम्भव नहीं है । क्योंकि अर्थक्रिया के दो ही प्रकार हैं — प्रथम वह क्रम से होती है या फिर एक साथ होती है; किन्तु सर्वथा नित्य वस्तु में ये दोनों ही नहीं हो सकते। क्योंकि उसमें गमन और स्थिति सम्भव नहीं है ।[४७] फिर, नित्य में परिवर्तन नहीं हो सकता । कारण यह है कि पूर्व स्वभाव को छोड़कर उत्तर स्वभाव को धारण करने वाला द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं कहा जा सकता । फिर, शुभ और अशुभ क्रिया का तो क्या कहना है ?[४८]

उक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि द्रव्य को समझने के लिए 'पर्याय' का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। पर्याय का विवेक हुए बिना द्रव्य की पहचान नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्य में जो कार्य होता है, वह द्रव्य में नहीं; पर्याय में होता है। द्रव्य में तो कुछ हो नहीं सकता है। इसलिए पर्याय में जो शुभ, अशुभ या शुद्ध रूप परिणमन होता है, उसे व्यवहार से उस पर्याय के द्रव्य का परिणमन कहा जाता है। वास्तव में द्रव्य के अंश पर्याय में ही वह परिणमन होता है, लेकिन पर्याय का आधार द्रव्य होने से वह द्रव्य का परिणमन कहा जाता है।

'पर्याय' कथन का प्रयोजन – वस्तु नित्य है, पर पर्याय अनित्य है। परिवर्तनशील इस लोक में सभी प्राणी विभिन्न परिवर्तनों से परिचित हैं। अतः अनित्यता का वास्तविक परिचय देकर नित्यता का ज्ञान कराना चाहते हैं। पर्याय का विशद एवं विस्तार से वर्णन करने के प्रयोजन निम्नलिखित हैं –

(१) त्रिकाली ध्रुव, अखण्ड, भगवान आत्मा की पहचान कराना।

(२) परमार्थ सत्य का निर्णय कराना।

(३) दृष्टि को पर्यायों से हटाकर ज्ञायक स्वभाव पर ले जाना।

(४) ज्ञान-दर्शन स्वरूपी वस्तु का यथार्थ बोध कराना।

(५) स्वभाव-परभावों का भेद-ज्ञान कराना।

(६) शुद्धता का लक्ष स्थापित कराना।

(७) अशुद्ध पर्यायों से हटकर शुद्ध रूप होने की प्रेरणा देना।

पर्यायदृष्टि और द्रव्यदृष्टि

त्रिकाली द्रव्यसामान्य निश्चयनय का विषय है और उसके आश्रय से जो शुद्धपर्याय प्रकट होती है, वह पर्यायनय का विषय है। दोनों का एक साथ मिलाकर कथन करना प्रमाण का विषय है। द्रव्यदृष्टि से एक मात्र शुद्धाशुद्ध पर्याय रहित गौण त्रैकालिक ध्रुवत्व होता है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध अन्तस्तत्त्व का ही अवलम्बन करती है। यद्यपि आत्मा को त्रैकालिक प्रतीति करने के लिए ऐसे विकल्प नहीं करने पड़ते हैं कि मैं पूर्व काल में शुद्ध था, वर्तमान में शुद्ध हूँ और भविष्य में शुद्ध रहूँगा। क्योंकि भूतकाल की पर्यायें तो नष्ट हो चुकी हैं और भविष्य की पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं, इसलिए केवल वर्तमान पर्याय ही सम्मुख है जो ज्ञेय है, उपयोग का विषय है। किन्तु वह दृष्टि के लिए विषय नहीं बन सकती है। जैसे काव्य, नाटक में रंगमंच पर अभिनीत दृश्यों के साथ जब तक हमारी भावात्मक एकता स्थापित नहीं होती, साधारणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं होती, तब तक हमारा उसमें मन नहीं लगता, हमें उसमें रस नहीं आता। अतः दृष्टि का विषय बनने के लिए अन्वयी (द्रव्य) की अखण्ड़ता तथा परिणामों की अखण्डता का होना आवश्यक है। यह अखण्ड़ता तभी हो सकती है, जब हमारी दृष्टि द्रव्यार्थिकनय की विषय बनती है। द्रव्यार्थिक नय में प्रतिपादित सामान्य, अभेद, नित्य और एक अखण्ड़ द्रव्य जब हमारे

ज्ञान का विषय बनता है, तब विशेष, अनेक, भेद एवं अनित्य रूप पर्यायों से अभेद बुद्धि हट जाती है। ज्ञाता स्वसंवेदन ज्ञान से ज्ञायकभाव स्वरूप निज शुद्धात्मद्रव्य में अपनापन स्थापित कर लेता है और उस रूप ज्ञान-आनन्द का स्वाद ग्रहण करता है, जिसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वास्तव में परभावों में से अहंबुद्धि का विसर्जन हो जाना सच्चा त्याग किंवा सम्यक् दर्शन है। **आचार्य जयसेन** के शब्दों में "जैसे कोई पुरुष वस्त्र-आभूषणों को, ये पर द्रव्य हैं, ऐसा जानकर, उनका त्याग कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष सभी मिथ्यात्व, राग-द्वेष, मोहादि भावों को – परभावों की पर्यायों को स्व-संवेदन ज्ञान के बल से जानकर विशेष रूप से मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक त्याग कर देता है।[४९] यथार्थ में द्रव्यदृष्टि पुरुषार्थ रूप है, जिसके होने पर संसार की सृष्टि समाप्त होने लगती है। इसके विपरीत पर्याय पर दृष्टि होने से वह अनेक, भेद तथा अनित्यता रूप पर्याय कही जाती है, किन्तु द्रव्य पर दृष्टि होने पर वह सामान्य, एक, अभेद एवं नित्यता रूप 'द्रव्य' कही जाती है, जो संसार का अभाव करने में निमित्त होती है।

पर्यायदृष्टि होने के कारण परमात्मा की अनुभूति रूप श्रद्धा से विमुख आठ मद, आठ मल, छः अमायतन, तीन मूढ़ता इन २५ दोषों से जो युक्त है, आत्मा-परमात्मा तथा तत्त्वार्थ का जिसके श्रद्धान नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि वह शरीरादि पर्यायों में आसक्त है। राग, द्वेष, मोह आदि परभावों में और पर-पदार्थों में उसकी अपनत्व बुद्धि होने के कारण वह तरह-तरह के कर्मों का बन्ध करता है और संसार में भटकता फिरता है[५०]। इस राग-द्वेष संसार का अभाव करने के लिए द्रव्य-गुण-पर्याय को समझकर पर्यायदृष्टि को भ्रान्ति जानकर द्रव्यदृष्टि होना सर्वप्रथम आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। अध्यात्म ग्रन्थों में तो यहाँ तक कहा गया है कि जब तक मिथ्या अभिप्राय युक्त राग-द्वेष-मोह को अपनाने की बुद्धि है, गुण-पर्यायों रूप अपने को समझते रहोंगे, तब तक शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती अर्थात् परमात्म-स्वरूप व्यक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार अनित्य पर्यायों का ज्ञान केवल जानने के लिए है, राग-द्वेष-मोह भाव कर उनमें स्थिरता या रमणता प्राप्त करने के लिए नहीं है। रमने के लिए तो ज्ञानानन्द स्वभावी आतमराम है और इसमें स्थिर होकर सदा के लिए कर्मों से निर्मुक्त हो सकते हैं।

पर्याय की स्वतन्त्रता

जैनदर्शन में 'द्रव्य' का निर्वचन नित्य परिणामी किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व *'ज्ञान' और 'ज्ञेयतत्व' में अन्तर्भूत हो जाता है। ज्ञान सर्वगत है और आत्मा ज्ञान प्रमाण है। ज्ञेय सम्पूर्ण* सत् है। ज्ञेय लोक और अलोक के विभाग में विभक्त है। लोक में छहों प्रकार के द्रव्य देखे जाते हैं। त्रिलोक-त्रिकालवर्ती सभी पदार्थों को अपनी स्वच्छता से प्रतिबिम्बित करने के कारण ज्ञान सर्वगत कहा *जाता है। ज्ञान की व्यापकता होने से ज्ञानमय आत्मा को भी व्यापक कहा गया है। यथार्थ में न ज्ञान* में ज्ञेय प्रवेश करता है और न ज्ञेय में ज्ञान प्रवेश करता है। आत्मा और पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व के कारण एक दूसरे में नहीं वर्तते हैं। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्यों से भिन्न है। आत्मा ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेयों में प्रविष्ट हो कर भी प्रदेश की अपेक्षा ज्ञेयों में बिना प्रवेश के ही जानता-देखता है। परमार्थतः *ज्ञाता अपने स्वयं के प्रदेशों में ही रहकर अपने आप के परिणाम को ही जानता है। वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय का ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान में ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं, जो ज्ञान की स्वच्छता का परिणाम है।*

यथार्थ में ज्ञान अखण्ड एक प्रतिभासस्वरूप है। यद्यपि जानने वाला कोई एक आत्मा ज्ञान कहा जाता है, किन्तु स्वयं से ही उत्पन्न स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्ञान स्वाधीन होने से आनन्दरूप होता है। इन्द्रियज्ञान परोक्ष कहा गया है और अतीन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष तथा वास्तविक ज्ञान है। इसका विशद, सूक्ष्म, गम्भीर तथा तर्कयुक्त विवेचन "**प्रवचनसार**" में किया गया है। **आचार्य कुंदकुंद** के शब्दों में –

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमय ॥ प्रवचनसार, गा.९३

अर्थात्-वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। पदार्थ द्रव्यस्वरूप है। द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और द्रव्य तथा गुणों से पर्याय होती है। जो पर्याय पर मोहित होकर, उसका ही अवलम्बन लेते हैं, वे मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं।

जैनदर्शन में द्रव्य, गुण और पर्याय के आधार पर तत्त्व-मीमांसा की गई है। उसमें द्रव्य, गुण और पर्याय 'अर्थ' नाम से कहे गये हैं[५१]। द्रव्य, गुण और पर्याय में अभिधेय-भेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से वे 'अर्थ' हैं।[५२] इनको 'अर्थ' कहने पर भी ये 'सत्' द्रव्य ही हैं। क्योंकि गुण और पर्याय सीधे नहीं जाने जाते हैं, किन्तु गुण और पर्याय रूप से द्रव्य के ज्ञात होने पर गुण तथा पर्याय का जानना कहा जाता है। 'अर्थ' की निरुक्ति है – 'अर्थ्यते प्राप्यते इति अर्थ' जो प्राप्त किया जाये, वह अर्थ है। अतः जो गुण पर्यायों को प्राप्त करे, वह अर्थ द्रव्य है तथा आश्रयभूत अर्थों के द्वारा जो प्राप्त किया जाये, वह अर्थगुण है एवं क्रम-परिणाम से द्रव्य के द्वारा जो प्राप्त हो वह पर्याय है।

सभी द्रव्य स्वतन्त्र सत् हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूप से है। संक्षेप में, स्वभाव में नित्य रहने वाला सत् द्रव्य है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का एकत्वस्वरूप परिणाम द्रव्य का स्वभाव है। द्रव्य के प्रदेश विस्तारक्रम में जाने जाते हैं। द्रव्य की पर्यायें प्रवाह-क्रम में जानी जाती हैं। एक प्रदेश की सीमा का अन्त दूसरे प्रदेश की सीमा की आदि है, जब कि द्रव्य वही एक है। इसी तरह एक पर्याय का अन्त दूसरी पर्याय का उत्पाद है। इस प्रकार द्रव्य सत्तासापेक्ष सतत् उत्पादव्ययात्मक है। **आचार्य कुन्दकुन्द** स्पष्ट रूप से एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों समुदाय को द्रव्य कहते हैं।[५३]

यद्यपि द्रव्य में नई पर्याय की उत्पत्ति पूर्व पर्याय के विनाश के बिना नहीं होती है, किन्तु जन्म का क्षण भिन्न हो, नाश का क्षण अलग हो और स्थितिक्षण कोई अलग हो, ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए। क्योंकि द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक समय में ही देखे जाते हैं। क्योंकि द्रव्य स्वयं ही गुण से गुणान्तर रूप परिणमित होता है। अतएव गुणपर्यायें एक द्रव्य की ही पर्यायें कही गई हैं।[५४] द्रव्य स्वयं अकेला ही पूर्व गुणपर्याय से उत्तर गुणपर्याय रूप में परिणमित होता हुआ सत्ता रूप से वही द्रव्य रहता है। इस प्रकार त्रैकालिक उत्पाद-व्ययों का आधार वही एक सत् है।

कोई भी द्रव्य बिना पर्यायों के नहीं होता और कोई भी पर्याय द्रव्य रहित नहीं होती।[५५] किसी भी द्रव्य के भाव (सत्) का नाश नहीं होता और अभाव (असत्) की उत्पत्ति नहीं होती।[५६] क्योंकि प्रत्येक

द्रव्य का अस्तित्व स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से है। वस्तु स्वयं गुण-पर्यायों की आधारभूत है। वस्तु का निज विस्तार स्वप्रदेशसमूह है, निज गुण ही स्वशक्ति है और वर्तमान पर्याय रूप से वस्तु प्रकट है।

सभी द्रव्यों में से कुछ द्रव्य क्रियावान और भाववान हैं तथा कुछ केवल भाववान हैं। जीव और पुद्गल में परिस्पन्द होने से दोनों क्रियावान और भाववान है, किन्तु धर्म-अधर्म-आकाश और काल में हलन-चलन नहीं होने से वे केवल भाववान हैं। पदार्थों की क्रिया का आधार क्रियावती शक्ति है और भावरूप परिणमन का आधार भाववती शक्ति है। परमार्थ से प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव रूप परिणमन करता है, किन्तु जीव और पुद्गल के साथ जब तक एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है, तब तक विभाव रूप परिणमन भी होता है। परन्तु कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के भाव करने में समर्थ नहीं है। जो वस्तु जिस द्रव्य में और जिस गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य में या अन्य गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती।[५७] जिस प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रविष्ट नहीं होता, वैसे ही एक पर्याय कभी दूसरी पर्याय रूप में नहीं होती।

जिनागम में द्रव्य के विकार को तथा गुणों को भी 'पर्याय' कहा गया है। पर्याय के दो भेद हैं – द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय। अनेक द्रव्यों में एकता का बोध कराने वाली पर्याय को द्रव्यपर्याय कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं – सजातीय और विजातीय। गुणपर्याय के भी दो भेद हैं – स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। परमाणु पुद्गल द्रव्य की स्वभावपर्याय हैं और दो या तीन आदि परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि पुद्गल द्रव्य की विभावपर्याय हैं। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने पर्याय के दो भेद इस प्रकार किये हैं[५८] – एक स्वपरसापेक्ष और एक निरपेक्ष। निरपेक्ष पर्याय का दूसरा नाम स्व-भावपर्याय है – जो कर्मों की उपाधि से रहित हैं।[५९] स्वभाव पर्याय के भी दो भेद कहे गये हैं[६०] – कारण शुद्धपर्याय और कार्य शुद्धपर्याय। द्रव्य की शुद्ध पर्याय को ही स्वभावपर्याय कहते हैं।[६१] परमाणु रूप अवस्था परनिरपेक्ष है। परमाणु अनादिनिधन है। वह कारणरूप है और कार्यरूप भी है। परमाणुओं के सम्बन्ध से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, इसलिए परमाणु कारण हैं। स्कन्धों के टूटने से परमाणु अपने मूल रूप को प्राप्त करता है, अतः परमाणु कार्य भी है। **आचार्य समन्तभद्र** ने स्पष्ट रूप से कहा है कि द्रव्य और पर्याय एक वस्तुरूप हैं। प्रतिभास में भेद होने पर भी वह अभिन्न है, एक ही वस्तु है। उन दोनों के स्वभाव, परिणाम, संज्ञा, संख्या और प्रयोजन आदि, भिन्न-भिन्न होने से उनमें कथंचित् भेद हैं, सर्वथा नहीं है। द्रव्य अनादि, अनन्त, एक होता है, किन्तु पर्याय सादि, सान्त, अनेक होती है। द्रव्य शक्तिमान है, पर्याय उसकी शक्तियाँ हैं। द्रव्य की द्रव्यसंज्ञा और पर्याय की पर्यायसंज्ञा है। द्रव्य की एक संख्या है और पर्याय की अनेक संख्या है। द्रव्य त्रिकालवर्ती है, किन्तु पर्याय वर्तमान काल की होती है। इस कारण दोनों के लक्षण भी भिन्न हैं। कहा भी है –

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोर्व्यतिरेकतः।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः॥

संज्ञा-संख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥

परन्तु जिस प्रकार सत्ता या अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है, वैसे ही तद्रूप परिणाम या सत् पर्याय का स्वभाव है । परिणमन पर्याय का धर्म है । दोनों में अन्तर केवल यही है कि द्रव्य त्रिकाल सत् है और पर्याय एकसमय का सत् है । जिस प्रकार वस्तु स्वतः सिद्ध है, उसी प्रकार स्वतः ही वह परिणामी है । इसलिए सत् नियम से उत्पाद, ध्रौव्य और व्ययरूप है ।[६३] द्रव्य गुण-पर्यायवान होने से वह सभी अवस्थाओं में सत् रहता है । और इस कारण "सद्द्रव्यलक्षणम्" द्रव्य का लक्षण 'सत्' है – यह जिनागम में कहा गया है ।

प्रश्न यह है कि जब पदार्थ द्रव्यस्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं, तब यह स्पष्ट है कि द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं ।[६४] अतः पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न कैसे है ?

समाधान यह है कि जैसे पानी में से उत्पन्न होने वाली लहर पानी से उत्पन्न होती है और उसी में विलीन हो जाती है । यदि जल की अवस्था से देखा जाए तो जल भिन्न है और लहर भिन्न है; किन्तु पर्याय के भेद से दोनों भिन्न-भिन्न रूप हैं ।

विषय-वस्तु के सम्बन्ध में 'पर्याय' का अर्थ है – पर्यायार्थिक नय का विषय । जो वस्तु पर्यायार्थिकनय का विषय बनती है, उसकी पर्याय संज्ञा है । इसी प्रकार जो वस्तु द्रव्यार्थिकनय का विषय है, उसकी द्रव्य संज्ञा है। यह 'दृष्टि' की अपेक्षा से है । पर्यायदृष्टि का अर्थ है – पर्याय की अपेक्षा से । प्रमाणज्ञान की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय दोनों मुख्य हैं । इतना अवश्य है कि जिस समय द्रव्यदृष्टि का विषय मुख्य होता है, उस समय पर्यायदृष्टि का विषय गौण रूप से जानने में आता है । लेकिन जानने का अभाव नहीं है । अतएव जिसे हम दृष्टि का विषय कहते हैं और उसे पर्याय से भी भिन्न कहते हैं, उस 'पर्याय' का अर्थ पर्यायार्थिक नय का विषय है, जिसमें द्रव्य, गुण, पर्याय सभी सम्मिलित हैं ।

अध्यात्म शास्त्र में 'आत्मा' को 'ज्ञान' शब्द से समझाया गया है । वहाँ 'ज्ञान' शब्द में अकेला ज्ञान गुण नहीं, किंतु दर्शन-चारित्र आदि अनन्त गुणों की अखण्ड् वस्तु समझना, जिसे 'ज्ञायक' कहा गया है । इस प्रकार सामान्य, एक, अभेद और नित्य यह दृष्टि का विषय है और विशेष भेद, अनेक और अनित्य-व्यय पर्याय होने से वह दृष्टि के विषय में सम्मिलित नहीं हैं ।

जिनागम में गुणों को भी पर्याय रूप में अभिहित किया गया है । जो द्रव्य के साथ सदा रहते हैं, उनको 'गुण' कहते हैं । जो द्रव्य में क्रम से परिणमन करती है, उसे 'पर्याय' कहते हैं । जो एक द्रव्य को अन्य द्रव्यों से पृथक् करते हैं, वे 'गुण' कहलाते हैं । गुणों से ही वस्तु की पहचान होती है ।

पर्यायें दो प्रकार की हैं – स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय । स्वभाव पर्याय छहों द्रव्यों में होती है । उसको अर्थपर्याय भी कहते हैं । वह वचन, मन के अगोचर, अति सूक्ष्म, आगम प्रमाण से स्वीकार्य तथा छः हानि-वृद्धि रूप है । स्वभाव पर्याय के भी दो भेद किए गए हैं – कारण शुद्धपर्याय और कार्य शुद्धपर्याय ।

जैसे पर्याय स्वभाव और विभाव रूप होती है, वैसे ही गुण भी स्वभाव और विभाव रूप होते हैं। जैसे जीव में केवलज्ञान आदि स्वभावगुण हैं और मतिज्ञान आदि विभावगुण हैं। शुद्ध परमाणु में जो रूप-रस आदि होते हैं, वे स्वभाव गुण हैं, द्व्यणुक आदि स्कन्धों में जो रूप-रस-गन्ध आदि हैं, वे विभावगुण हैं। छहों द्रव्यों में से जीव और पुद्गल द्रव्यों का परिणमन स्वभाव और विभाव रूप भी होता है। ये पर्यायें दो प्रकार की होती हैं — सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय।

सहभावीपर्याय गुण को कहते हैं और क्रमभावीपर्याय पर्याय को कहते हैं। द्रव्य अपने स्वभाव से कभी च्युत नहीं होता, सदा अपने स्वभाव में स्थिर रहता है, इसलिए अस्तिस्वभाव है। अनेक पर्याय रूप परिणमनशील होने पर भी द्रव्य की द्रव्यता सदा विद्यमान रहती है, इसलिए वह नित्य स्वभाव है, किन्तु पर्याय रूप परिणमनशील होने से अनित्य स्वभाव है। नाना स्वभावों का आधार एक होने से एक स्वभाव है और एक के भी अनेक स्वभाव देखे जाने से अनेक स्वभाव हैं। कालक्रम से होने वाली पर्यायों को क्रमभावीपर्याय कहते हैं।

धर्म की अपेक्षा से स्वभाव गुण नहीं होते हैं, किन्तु अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से गुण परस्पर में स्वभाव हो जाते हैं। द्रव्य भी स्वभाव हो जाते हैं। स्वभाव से अन्य रूप होने को विभाव कहते हैं। केवल भाव को शुद्ध कहते हैं, उससे विपरीत भाव को अशुद्ध कहते हैं। स्वभाव का भी अन्यत्र उपचार करना उपचरित स्वभाव है। वह दो प्रकार का है — एक कर्मजन्य और दूसरा स्वाभाविक।

इस प्रकार कई दृष्टियों से पर्याय का सूक्ष्मता से तथा गम्भीरता से जिनागम में विवेचन किया गया है। स्थूल रूप से जहाँ पर्याय का निषेध किया जाता है या हेय कहा जाता है, वहाँ 'असमान जाति पर्याय' या 'भेद-विकल्प' अर्थ ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ पर्याय की स्वतन्त्रता का उल्लेख किया जाता है, वहाँ गुणों की दृष्टि से समझना चाहिए। द्रव्य दृष्टि में हम सभी पर्यायों को दृष्टि के विषय से ओझल नहीं कर सकते। क्योंकि सामान्य की अपेक्षा विशेष बलवान होता है। इसलिए प्रसंगतः वक्ता के भाव के अनुसार अपेक्षाकृत भाव ग्रहण करना चाहिए।

संक्षेप में, जैनदर्शन में वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक माना है। वस्तु के मूल अंश दो हैं — द्रव्य और पर्याय। *गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहते हैं। गुण और पर्याय द्रव्य के ही आत्मस्वरूप* हैं, इसलिए ये किसी भी स्थिति में द्रव्य से पृथक् नहीं होते। द्रव्य के परिणमन को ही पर्याय कहते हैं। अतः द्रव्य नित्य होने पर भी परिणामी है। द्रव्यदृष्टि से द्रव्य त्रिकाल, नित्य, ध्रुव तथा अखण्ड है। जैसे द्रव्य सत् है, गुण सत् है, वैसे ही एक समय की पर्याय भी सत् है और वह स्वतंत्र है, उसका परिणमन किसी के अधीन नहीं है।

संदर्भ

१. "कालपर्याययोगेन राजा मित्रसहोऽभवत्" वा० रामायण, ७.६५, १७

२. षट्खण्डागम १/१,९,९; कषायपाहुड़ १,१; नियमसार, तात्पर्यवृत्ति १८ — "परिसमन्तादायः पर्यायः"

३. "स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः।" आप्तपरीक्षा, ६

४. "पर्यायोऽनुक्रमः क्रमः ॥ १५०३ पर्ययणं पर्यायः। परिपूर्वाद् 'इण् गतौ' (अ०प०अ०) अस्मात् 'परावनुपात्यय इणः ३/३/३८ इति धञ्। — अभिधानचिन्तामणिनाममाला, पृ.६८९

५. सं.जर्नादन विनायक ओकः गीर्वाणलघुकोश, १९६०, पृ.२९४-२९५;

६. गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गा०५७२

७. सर्वार्थसिद्धिः आ० पूज्यपाद विरचित तत्त्वार्थसूत्र, टीका अ० १, सू०३३

८. पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतव्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥ आचार्य कुन्दकुन्द का प्रवचनसार, अ०२, गा०१४-१५ व टीका

९. वही, २,१५ तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

१०. आचार्य कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, अ०२, गा०१६

११. "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" तत्त्वार्थसूत्र, अ०५, सू०३८

१२. "णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ प्रवचनसार, अ०१, गा०१०

१३. सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीः जैन न्याय, द्वितीय संस्करण, पृ५ से उद्धृत

१४. क्षु० जिनेन्द्र वर्णीः जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा०३ प्रथम संस्करण, पृ०४४ से उद्धृत

१५. तत्त्वार्थसूत्र, अ०५, सू०३०

१६. आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार, अ०२, गा०७ की तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

१७. आचार्य कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, अ०२, गा०८

१८. वही, अ०२, गा०९

१९. "उत्पादव्यय ध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यामलम्बन्ते। ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम्। द्रव्यं हि तावत् पर्यायैरालम्ब्यते। समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत्।" वही अ०२, गा०९ तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

२०. "कालोऽपि लोके जीव पुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात्" प्रवचनसा, अ०२, गा०४४ तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

२१. आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार, अ०२, गा०४७ तथा आ० अमृतचन्द्र रचित तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

२२. "अणेयविहो परिणामेहिंतो पुधभूदकालाभावा परिणामाणं च आणंतिओबलंभा" षट्खण्डागम, पु०४,१,५,१

२३. षड्खण्डागम, पृ०९,४,१,२

२४. द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि, अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवो गुणा इति गुणलक्षणम्!.... व्यतिरेकिणः पर्याया अथवा क्रमभुवः पर्याय इति पर्यायलक्षणम्।" प्रवचनसार, अ०२, गा०१ तात्पर्यवृत्ति

२५. अध्यात्मकमलमार्तण्ड, २, ९

२६. आचार्य समन्तभद्र कृत आप्तपरीक्षा, का०६

२७. "व्यतिरेकिणाः पर्यायः" तत्त्वार्थसूत्र-सर्वार्थसिद्धिवृत्ति, अ०५, सू०३८; पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, गा०५

२८. "तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः" प्रवचनसार, अ०१, गा०८० तात्पर्यवृत्ति

२९. पदार्थास्तेषामवयवा अपि प्रदेशाख्याः परस्परव्यतिरेकित्वात्पर्याया उच्यन्ते" पंचास्तिकाय, गा०५, तात्पर्यवृत्ति

३०. "पर्यायास्तु पुनरायत विशेषात्मका..." प्रवचनसार, अ०२, गा०१ तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

३१. तत्त्वार्थवार्तिकः आ०अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थसूत्र का वार्तिक भाष्य, अ०५, सू०२६

३२. आ०कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार, अ०१, गा०८/१३. आ०कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, अ०२, गा०९

३३. "तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धो द्रव्यपर्यायः । स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च ।" आ०कुन्दकुन्द-प्रवचनसार, अ०२, गा०१ तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

३४. "द्रव्यपर्यायलक्षणं कथ्यते—अनेक द्रव्यात्मिकाया ऐक्य प्रतिपत्ते निर्बन्धकारणभूतो द्रव्यपर्यायः अनेकाद्रव्यात्मिकैकयानवत् । स च द्रव्यपर्यायो द्विविधः समानजातीयोऽसमानजातीयश्चेति ।" आचार्य कुन्दकुन्द कृत पंचास्तिकाय, गा०१६ तात्पर्यवृत्ति

३५. वही, पंचास्तिकाय, ग०१६ तात्पर्यवृत्ति

३६. "इदानीं गुणपर्यायाः कथ्यन्ते-तेऽपि द्विधा स्वभावविभावभेदेन । गुणद्वारेणान्वयरूपायाः एकत्वप्रतिपत्तेर्निबन्धनं कारणभूतो गुणपर्यायः, स चैकद्रव्यगत एव सहकारफले हरितपाण्डुरादिवर्णवत् ।" वहीं, पंचास्तिकाय, गा०१६ तात्पर्यवृत्ति

३७. द्रष्टव्य है — प्रवचनसार, अ०२, गा०१ आ०अमृतचन्द्र विरचित तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति पूर्णतः

३८. "अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यञ्जनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति । तत्रार्थपर्यायाः सूक्ष्माः क्षणक्षयिणस्तथावाग्गोचराऽविजया भवन्ति ।.... इतिचेदेकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यन्ते...." पंचास्तिकाय, गा०१६ तात्पर्यवृत्ति

३९. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव कृत द्रव्यसंग्रह, गा०२४ टीका

४०. "पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो" नियमसार, गा०१४

४१. माइल्लधवल कृत नयचक्र, गा०१९

४२. आचार्य कुन्दकुन्द कृत नियमसार, गा०१५ टीका, तथा —

देहायारपएसा जे थक्का उहयकम्मणिम्मुक्का ।
जीवस्य णिच्चला खलु ते सुद्धा दव्वपज्जाया ॥

णाणं दंसण सुह वीरियं च जं उहयकम्मपरिहीणं ।
तं सुद्धं जाण तुमं जीवे गुणपज्जयं सव्वं ॥ नयचक्र, गा०२४, २५

४३. जे चदुगदिदेहीणं देहायारं पदेसपरिणामं ।
अह विग्गहगइजीवे तं दव्वविहावपज्जायं ॥

मदिसुदओहीमणपज्जयं च अण्णाण तिण्णि जे भणिया ।
एवं जीवस्स इमे विहावगुणपज्जया सव्वे ॥ नयचक्र, गा०२२, २३

४४. अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।
क्रमाक्रमाभ्यां भावनां सा लक्षणतया मता ॥ आ०अकलंकदेव कृत लघीयस्त्रय,

का०८ तथा — जो णिच्चमेव मण्णदि तस्स ण किरिया हु अत्थकारित्तं ।
ण हु तं वत्थू भणियं जं रहियं अत्थकिरियाहिं ॥ नयचक्र, गा०४५

४५. "अर्थक्रियाकारित्वं हि द्रव्यत्वम् ॥"

४६. "अर्यते गम्यते निष्पाद्यत इत्यर्थः कार्यम्" आ० अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थवार्तिक, १, ३३

४७. माइल्लधवल कृत नयचक्र, गा०४६

४८. वही, नयचक्र, गा०४६-४७

४९. आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार तात्पर्यवृत्ति, गा०३५ (४०) टीका

५०. पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहु-विह-कम्पडा जँ संसारू भवेइ ॥ परमात्मप्रकाश, अ०१, दो० ७७

५१. दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया । प्रवचनसार, गा०८७

५२. वही, आ० अमृतचन्द्र कृत तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, गा०८७

५३. प्रवचनसार, गा०१०२

५४. परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वेमेव त्ति ॥ प्रवचनसार, गा०१०४

५५. पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि । पंचास्तिकाय, गा०१२

५६. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥ वही, गा०१५ तथा १९

५७. समयसार, गा०१०३

५८. वही, गा०१४

५९. वही, गा०१५

६०. वही, गा०१५ टीका

६१. णाणं दंसण सुह वीरियं उहयकम्मपरिहीणं ।
तं सुद्धं जाण तुमं जीवे गुणपज्जयं सव्वं ॥ नयचक्र, गा०२५

६२. पञ्चाध्यायी, १, ८९

६३. प्रवचनसार, गाथा ९३

७

जैनदर्शन में पर्याय का स्वरूप

वीरसागर जैन

'पर्याय' – जैनदर्शन का एक अति सूक्ष्म विषय है । इसे समझने के लिए सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप समझना आवश्यक है, क्योंकि पर्याय वस्तु का ही एक अंश है । जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है, अतः उसके दो मुख्य हिस्से (अंश) हैं – एक द्रव्यरूप और दूसरा पर्यायरूप। वस्तु के नित्य अंश को द्रव्य कहते हैं और अनित्य अंश को पर्याय, अतः हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्यात्मक है ।

सांख्यदर्शन में वस्तु को सर्वथा नित्य स्वीकार किया गया है और बौद्धदर्शन में वस्तु को सर्वथा अनित्य स्वीकार किया गया है, परन्तु जैनदर्शन के अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य हो, अपितु प्रत्येक वस्तु नित्यानित्यात्मक है । उसमें एक साथ नित्यता भी है और अनित्यता भी । वस्तुतः कोई भी वस्तु तभी सत् हो सकती है, जब उसमें एक साथ नित्यता और अनित्यता दोनों ही निवास करती हो । एकान्ततः नित्य वस्तु भी कभी सत् नहीं हो सकती और एकान्ततः अनित्य वस्तु भी कभी सत् नहीं हो सकती ।[१] क्योंकि सत् का लक्षण ही यह है –

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।"[२]

अर्थात् सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है ।

प्रत्येक वस्तु में नवीन अवस्था के आगमन को उत्पाद कहते हैं, पूर्व अवस्था के त्याग को व्यय कहते हैं और उत्पाद-व्यय दोनों से रहित वस्तु के स्थिर स्वभाव को ध्रौव्य कहते हैं ।[३]

इसे हम आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रदत्त दो उदाहरणों द्वारा भली प्रकार समझ सकते हैं । यथा दूध का दही बनाना । तो यहाँ दही अवस्था का उत्पाद हुआ, दूध अवस्था का व्यय हुआ और गौरस ध्रौव्य रहा, क्योंकि उसका न उत्पाद हुआ, न व्यय । इसी प्रकार स्वर्णमय घट का मुकुट बना । यहाँ मुकुट अवस्था का उत्पाद हुआ, घट अवस्था का व्यय और स्वर्ण ध्रौव्य रहा, उसका उत्पाद-व्यय कुछ नहीं हुआ ।[४]

यहाँ यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि उक्त दोनों उदाहरण बहुत स्थूल हैं। यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो विश्व के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की उपलब्धि होती है। सूक्ष्मपरिणमन हमारे अल्पज्ञान में पकड़ में नहीं आता, अतः उदाहरण स्थूल परिणमन के दिये गये हैं।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु सदैव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त अथवा द्रव्यपर्यायात्मक है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में यही दो अंश नियम से पाये जाते हैं। एक अन्वय रूप और दूसरा व्यतिरेक रूप। 'यह वही है, वही है' – ऐसी प्रतीति जिसमें है, उसे अन्वय कहते हैं और 'यह वह नहीं है, वह नहीं है" – ऐसी प्रतीति जिसमें होती है, उसे व्यतिरेक कहते हैं। वस्तु में रहने वाले शाश्वत नित्य या अन्वय रूप अंश को द्रव्य कहते हैं और क्षणिक परिवर्तनशील या व्यतिरेकी अंश को पर्याय कहते हैं।

'पर्याय' का निरुक्त्यर्थ –

विक्रम की सातवीं शताब्दी के दिग्गज आचार्य **श्रीमद्भट्टाकलंकदेव** ने पर्याय की निरुक्ति इसी प्रकार की है –

"परिसमन्तादायः पर्याय।"[५]

अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे, वह पर्याय है।

इसी प्रकार आचार्य **देवसेन** भी **'आलाप-पद्धति'** में लिखते हैं –

"स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः।"[६]

अर्थात् जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है, परिणमन करती है, वह पर्याय है।

पर्याय के नामान्तर –

जैन-ग्रन्थों में पर्याय के अनेक नामान्तर गिनाये गये हैं। यद्यपि आचार्यों द्वारा पर्याय के लिए इन नामान्तरों का प्रयोग कहीं-कहीं ही किया गया है, तथापि पर्याय के स्वरूप परिज्ञानार्थ इन नामान्तरों का भी ज्ञान होना आवश्यक है। यथा –

"पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः।"[७]

अर्थात् पर्याय, विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति – इन सबका एक अर्थ है।

"ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओ त्ति"[८]

अर्थ :- व्यवहार, विकल्प और पर्याय – ये सब एकार्थवाची हैं।

"पर्ययः पर्यवः इत्यनर्थान्तरम्।"[९]

अर्थ :- पर्यय, पर्यव और पर्याय – ये एकार्थक हैं।

"अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ॥"[१०]

अर्थ :- अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग – ये सब एक ही अर्थ के वाचक है ।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि उक्त चारों उद्धरणों में पर्याय के नामान्तरों में अंश, भाग आदि को भी गिनाया गया है और पर्याय शब्द का सामान्य अर्थ 'वस्तु का अंश' होता भी है, परन्तु यहाँ हम जिस पर्याय को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह वस्तु का कोई-सा भी अंश नहीं है, अपितु मात्र व्यतिरेकी अंश है । और ऐसा रुढिवशात् ही है, ऐसा समझना चाहिए ।

इसी तथ्य को क्षुल्लक **जिनेन्द्र वर्णी** ने भी अच्छी तरह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है :-

पर्याय का वास्तविक अर्थ वस्तु ढका अंश है । ध्रुव, अन्वयी, सहभूत तथा क्षणिक, व्यतिरेकी या क्रमभावी के भेद से वे अंश दो प्रकार के होते हैं । अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं । वे गुण के विशेष परिणमनरूप होती हैं । अंश की अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, पर रूढ़ि से केवल व्यतिरेकी अंश को ही पर्याय कहना प्रसिद्ध है ।"[११]

पर्याय के भेद

जैनाचार्यों ने पर्याय के भेदों का निरूपण अनेक प्रकार से किया है । यथा –

(१) **"यः पर्यायः सः द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति ।"[१२]**

अर्थ :- जो पर्याय है, वह क्रमभावी और सहभावी - इस तरह से दो प्रकार की है ।

(२) **"द्विधा पर्याया द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च ।"[१३]**

अर्थ :- पर्याय दो प्रकार की है – द्रव्यपर्याय और गुण पर्याय ।

(३) **"अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यञ्जनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति ।"[१४]**

अर्थ :- अर्थपर्याय व व्यञ्जनपर्याय के भेद से भी पर्याय दो प्रकार की होती है ।

(४) **"पर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावापर्यायभेदात् ।"[१५]**

अर्थ :- पर्याय दो प्रकार की है – स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ।

(५) **"स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति ।"[१६]**

अर्थ :- स्वभावपर्याय दो प्रकार की कही जाती है – कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय ।

किन्तु इनमें से स्वभाव-विभाव, द्रव्य-गुण और अर्थ-व्यञ्जन के तीन भेदयुगलों की ही शास्त्रों में विशेष विवक्षा दिखाई पड़ती है । इनको भी हम सामान्यतः इस प्रकार कह सकते हैं कि पर्याय के मूल भेद दो हैं :- स्वभावपर्याय एवं विभावपर्याय । फिर इन दोनों के दो-दो प्रभेद हैं - द्रव्यपर्याय एवं गुणपर्याय । द्रव्यपर्याय का अपर नाम व्यञ्जनपर्याय है और गुणपर्याय का अपर नाम अर्थपर्याय है ।

यहाँ हम 'द्रव्यपर्याय का अपर नाम व्यञ्जनपर्याय है और गुणपर्याय का अपर नाम अर्थपर्याय है' — इस कथन की पुष्टि हेतु निम्नलिखित शास्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं :-

(१) **"वंजणपज्जायस्स दव्वत्तमुवगमादो ।"**[१७]

अर्थ :- व्यञ्जनपर्याय के द्रव्यपना स्वीकार किया गया है ।

"अपि चोद्दिष्टनामिह देशांशैर्द्रव्यपर्यायाणां हि ।"
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरे वदंति बुधाः ॥"[१८]

अर्थ :- कुछ विद्वान द्रव्यपर्यायों का ही दूसरा नाम व्यञ्जनपर्याय भी कहते हैं ।

(२) **"गुणपर्यायणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ।**
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्याया इति च ॥"[१९]

अर्थ :- कुछ विद्वान अर्थ और गुण दोनों के एकार्थवाची होने के कारण गुणपर्याय को ही अर्थपर्याय भी कहते हैं ।

पर्याय के उक्त सभी भेदों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार हैं :-

(क) स्वभावपर्याय एवं विभाव पर्याय –

स्वभावपर्याय सभी द्रव्यों एवं सभी गुणों में होती है, किन्तु विभावपर्याय कतिपय द्रव्यों (मात्र जीव एवं पुद्गल द्रव्यों) और उन्हीं के कतिपय गुणों में ही होती है ।[२०]

द्रव्य या गुण की स्वाभाविक अवस्था को स्वभावपर्याय कहते हैं और स्वभाव से विपरीत अवस्था को विभावपर्याय कहते हैं । उदाहरणार्थ सिद्ध अवस्था, केवलज्ञान, परमाणु आदि स्वभावपर्यायें हैं और मतिज्ञान, स्कन्ध आदि विभावपर्यायें हैं ।

(ख) द्रव्यपर्याय एवं गुणपर्याय –

द्रव्यों में होने वाले परिणमन को द्रव्यपर्याय कहते हैं और गुणों में होने वाले परिणमन को गुणपर्याय कहते हैं । यथा सिद्ध, मनुष्य, स्कन्ध आदि द्रव्यपर्यायें हैं और केवलज्ञान, मतिज्ञान, काला, पीला आदि गुणपर्यायें हैं ।

(ग) अर्थपर्याय एवं व्यञ्जनपर्याय –

अर्थपर्याय अत्यन्त सूक्ष्म होती है। उसे आगम-प्रमाण से ही जाना जा सकता है। वह प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण में प्रतिसमय होती रहती है। तथा व्यञ्जनपर्याय स्थूल है, प्रकट है और चिरस्थायी है।

अर्थपर्याय एवं व्यञ्जनपर्याय का स्वरूप जैन-ग्रन्थों में इस प्रकार समझाया गया है –

"सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा ।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥"[२१]

अर्थ :- अर्थपर्याय सूक्ष्म है, अवाय(ज्ञान) विषयक है – शब्द से नहीं कही जा सकती है और क्षण-क्षण में बदलती है; किन्तु व्यञ्जनपर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है – शब्द से कही जा सकती है और चिरस्थायी है।

पर्याय और क्रिया में अन्तर –

पर्याय को कुछ लोग सामान्य अपेक्षा से क्रिया भी कह देते हैं, पर वस्तुतः पर्याय एवं क्रिया में बड़ा अन्तर है। क्रिया हलन-चलन रूप परिणमन को ही कहते हैं, परन्तु पर्याय वस्तु के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म परिणमन का नाम है। श्रीमद् **भट्टाकलंकदेव** ने भी '**तत्त्वार्थवार्तिक**' में इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है –

"भावो द्विविधः परिस्पन्दात्मकः अपरिस्पन्दात्मकश्च । तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते, इतरः परिणामः ।"[२२]

अर्थात् भाव दो प्रकार के होते हैं – परिस्पन्दात्मक और अपरिस्पन्दात्मक। परिस्पन्दात्मक को क्रिया कहते हैं और अपरिस्पन्दात्मक को परिणाम (पर्याय)।

इससे स्पष्ट है कि क्रिया और परिणाम में बड़ा अन्तर है। पर्याय इस परिणाम का ही नाम है।

संदर्भ

१. देखिए आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित 'आप्तमीमांसा' के तृतीय परिच्छेद की कारिका ३७ से ६० जिनमें इस विषय को अनेक तर्कों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

२. तत्त्वार्थसूत्र ५/३०

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृष्ठ १/३५७

४. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयं ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रतो न दध्यति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकं ॥" – आप्तमीमांसा, कारिका ५९-६०

५. तत्त्वार्थवार्तिकम्, १/३३/१
६. आलाप-पद्धति ६
७. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, १/३३
८. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ५७२
९. आचार्य मल्लिषेणसूरि, स्याद्वादमञ्जरी, २३/२७२/११
१०. पञ्चाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्लोक ६०
११. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ०३/४४
१२. श्लोकवार्तिक, १/३३/६० (आचार्य विद्यानन्दि)
१३. आचार्य जयसेन, पंचास्तिकाय-टीका, १६/३५
१४. वही, १६/३६
१५. आलापपद्धति ३
१६. नियमसार-टीका, गाथा १५
१७. आचार्य वीरसेन, धवला ४/१.५.४/३३७
१८. पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्लोक ६३
१९. वही, ६२
२०. आचार्य जयसेन, पंचास्तिकाय-टीका, १६/३४/१७
२१. आचार्य वसुनन्दि, श्रावकाचार, गाथा २५
२२. तत्त्वार्थवार्तिक, ५/२२

८

शुद्धपर्याय का स्वरूप क्या है ?

नीतू जैन

१. शुद्धपर्याय का स्वरूप क्या है –

पर्याय के भेद-प्रभेद समझाते हुए आचार्यों ने द्रव्यपर्याय-गुणपर्याय, अर्थपर्याय-व्यञ्जनपर्याय आदि अनेक भेद गिनाये हैं; परन्तु पर्याय के निम्नलिखित दो भेद भी होते हैं, यह हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए – १. शुद्धपर्याय और २. अशुद्धपर्याय। शुद्ध और अशुद्ध का तात्पर्य भी इस प्रसंग में हमें सावधानी से समझ लेना चाहिए। शुद्ध और अशुद्ध का तात्पर्य यहाँ अविकारी और विकारी अथवा स्वभाव और विभाव नहीं है। अपितु शुद्धपर्याय का अर्थ है – एक अकेली स्वतंत्र पर्याय और अशुद्ध पर्याय का अर्थ है – अनेक पर्यायों का समूह, जिसमें एक पर्याय का उपचार किया जाता है। विचारणीय विषय यहाँ यही है कि इस शुद्ध अर्थात् एक अकेली पर्याय का स्थितिकाल वास्तव में कितना होता है।

शास्त्रों में पर्यायों के प्रकरण में जिन घट-पटादि या नर-नारकादि पर्यायों का दृष्टान्त दिया जाता है, वे सभी चिरकालस्थायी हैं। सैकड़ों-हजारों वर्षों तक ही नहीं, सागरों (काल का एक विशाल परिमाण, जिसमें असंख्य वर्ष होते हैं) तक भी उनकी स्थिति देखी जाती है। शास्त्रों में अनेक पर्यायों की स्थिति नामोल्लेखपूर्वक सागरों तक की बताई भी गई है। सिद्धपर्याय तो सादि-अनन्त काल की (अर्थात् जिसकी आदि तो है, पर अन्त कभी नहीं होगी) कही गई है। इसी प्रकार मिथ्यात्वादि कुछ पर्यायें अनादि-सान्त (अर्थात् जिसका अन्त हो, पर आदि कोई नहीं है) कही गई है और सुमेरु आदि कुछ पर्यायें अनादि-अनन्त भी कही गई हैं।

ऐसी स्थिति में अधिकांश पाठकों को यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि काल की अपेक्षा से भी पर्याय अनेक प्रकार की होती हैं। कोई एक समय की, कोई एक माह की, कोई एक वर्ष की, कोई सौ वर्ष की, कोई दो सौ वर्ष की, कोई हजार वर्ष की, कोई लाख वर्ष की, कोई असंख्य वर्ष की, कोई सागरों की, कोई सादि-अनन्त काल की, कोई अनादि-सान्त काल की और कोई अनादि-अनन्त काल की।

परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि एक अकेली पर्याय, चाहे वह कोई भी हो, एक ही समय

मात्र की होती है। कोई भी पर्याय परमार्थतः दो समय की भी नहीं हो सकती। पर्याय का धर्म ही एक समय में उत्पाद-व्यय होना है। कोई भी पर्याय जो दो या दो से अधिक समय की बताई जाती है, वह अनेक पर्यायों में एकत्व के उपचार से ही बताई जाती है। पर्याय प्रतिसमय बदलती ही है, वह कथमपि रुक नहीं सकती, रोकी ही नहीं जा सकती – यह हमें सदा ध्यान रखना चाहिए।

हम स्थूलज्ञानी हैं, अतः पर्यायों का प्रतिसमय बदलना पकड़ नहीं पाते हैं। परन्तु प्रत्येक पर्याय प्रतिसमय बदलती अवश्य है। बदलना अलग बात है और उसका हमें पता चलना अलग बात है। हमारा ज्ञान बहुत स्थूल है, अतः समय-समय के परिवर्तन का हमें पता नहीं चलता है, पर परिवर्तन होता अवश्य है। इसे हम एक दृष्टान्त के द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं। दो व्यक्ति एक साथ ८ नवम्बर की बाटा कम्पनी को नई चप्पल पहनकर मंदिर आये। जाते समय उन्होंने एक-दूसरे की चप्पलें पहन लीं और अपने-अपने घर चले गये। दोनों ही जोड़ी आठ नम्बर की थी, बाटा कम्पनी की थी और एकदम नई थी, अतः उन दोनों को ही पता नहीं चला कि चप्पल बदल गई है। चप्पल बदली अवश्य है, पर सदृश होने के कारण पता नहीं चला है। यदि दोनों में से एक पुरानी होती या किसी अन्य कम्पनी की होती या किसी और नम्बर की होती तो पता चल जाता।

कहने का तात्पर्य यही है कि बदलना अलग बात है और बदलने का हमें पता चलना अलग बात है। शास्त्रों में भी अनेक पर्यायों को सदृश देखकर एक कह दिया गया है और इसी कारण उन्हें चिरकालस्थायी भी बता दिया गया है, परन्तु हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि परमार्थ से प्रत्येक पर्याय एक ही समय की होती है, एक से अधिक समय की नहीं। हमारे पत्ता चलने और न चलने से वस्तुस्वरूप में क्या फर्क पड़ता है ? हमें तो तेजी से बढ़ने वाली लता, केश, नख, शिशु आदि भी तब बढ़े-से लगते हैं, जब वे बहुत अधिक बढ़ चुके होते हैं, जबकि वे प्रतिसमय ही बढ़ रहे होते हैं। सीधा-सा तर्क है और उसे हम सब समझते भी हैं कि यदि एक समय में वे थोड़ा भी नहीं बढ़े होते तो फिर दूसरे-तीसरे आदि समयों में भी नहीं बढ़े हो सकते थे और फिर दूसरे दिन भी हमें बढ़े हुए नहीं लग सकते थे।

अतः यह प्रामाणिक है कि प्रत्येक पर्याय वस्तुतः एक ही समय की होती है, अनेक समय की नहीं; जैसा कि आचार्य **अमृतचन्द्र** आदि आचार्यों में स्पष्ट लिखा है – 'प्रतिसमयसमुदीयमान'[२] इत्यादि। तथा **श्रीमदभिनव धर्मभूषणयति** का निम्नलिखित कथन तो इस सन्दर्भ में और भी अधिक स्पष्ट एवं महत्त्वपूर्ण है, जिसमें उन्होंने प्रत्येक पर्याय को भूत-भविष्य के स्पर्श मात्र से रहित और वर्तमानकालावच्छिन्न कहा है –

> **"भूतभविष्यत्वसंस्पर्शरहितशुद्धवर्तमानकालावच्छिन्नवस्तुस्वरूपम् ।**
> **तदेतदृजुसूत्रनयविषयमानन्त्याभियुक्ताः ।"**[३]

इसी प्रकार **'गोम्मट्टसार'** में **आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती** ने भी पर्याय की स्थिति एक समय मात्र की कही है –

"अवरा पज्जायट्ठिदि खणमेत्तं होदि तं च समओ त्ति ।"[४]

अर्थात् पर्याय की स्थिति क्षणमात्र होती है, जिसे समय भी कहते हैं ।

हमारे उक्त सम्पूर्ण कथन का सारांश यही है कि प्रत्येक पर्याय का काल परमार्थतः एक समय ही होता है, एकाधिक कथमपि नहीं; जहाँ एकाधिक कहा गया है, वहाँ सादृश्य का उपचार समझना चाहिए।

२. सहभावी पर्याय किसे कहते हैं –

शास्त्रों में पर्याय के भेद-अभेद के प्रसंग में पर्याय के निम्नलिखित दो भेद भी बताये गये हैं– सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय । इनमें से क्रमभावी पर्याय ही वास्तव में पर्याय है, सहभावी पर्याय कोई पर्याय नहीं है, अपितु गुण है, जैसा कि **"सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः"**[५] इत्यादि अनेक शास्त्र-प्रमाणों से अत्यन्त स्पष्ट है, तथापि उसे एक अन्य विशेष विवक्षा से ही 'पर्याय' संज्ञा दी गई है।

दरअसल, 'पर्याय' शब्द का एक अर्थ 'विशेष' भी है, जैसा कि पर्याय के नामान्तर बताते समय स्पष्ट ज्ञात होता है ।[६] और इसी विशेष के अर्थ में आचार्यों ने 'गुण' को भी 'पर्याय' संज्ञा से सम्बोधित कर दिया है; परन्तु वास्तव में सहभावी पर्याय कोई पर्याय नहीं है, क्योंकि वह परिणमन रूप नहीं है, क्षणभंगुर नहीं है । यह किसी द्रव्य या गुण का विकास (विशेष कार्य) भी नहीं है; अतः उसे 'पर्याय' नाम देखकर भ्रमित नहीं होना चाहिए और उसे गुण ही समझना चाहिए ।

३. कारणशुद्धपर्याय क्या है –

कारणशुद्धपर्याय का उल्लेख नियमसार आदि कतिपय ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है, तथापि यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है । विशेषतः आध्यात्मिक विषयों के पाठकों के लिए तो यह विषय विशेष लाभकारी माना जाता है ।

सहभावी पर्याय की भाँति कारणशुद्धपर्याय भी वस्तुतः पर्याय नहीं है, क्योंकि वह किसी द्रव्य या गुण के विकार (विशेष कार्य) रूप नहीं है, अपितु द्रव्य का त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव है ।

इसके विशेष स्पष्टीकरण हेतु **'नियमसार'** की (विशेषकर १५वीं गाथा का) **पद्मप्रभमलधारिदेव** कृत संस्कृत-टीका-सहित अध्ययन करना चाहिए ।

संदर्भ

१. 'समय' काल की सबसे छोटी इकाई मानी गई है, जिसकी परिभाषा है –

णहएयपएसत्थो परमाणुमंदगइवट्टंतो ।
बीयमणंतरेखत्तं जावदियं जादि तं समयकालं ।'

– माइल्लधवल, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १३९

अर्थात् आकाश के एक प्रदेश में स्थित परमाणु मंद गति से चलकर, जितने काल से दूसरे प्रदेश में पहुँचता है, उसे समय कहते हैं ।

२. आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार-व्याख्या तत्त्वप्रदीपिका, गाथा ९३

३. श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति, न्यायदीपिका, परिच्छेद ३

४. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ५७३

५. आचार्य देवसेन, आलाप-पद्धति, पृष्ठ २१८ (भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित नयचक्र का परिशिष्ट)

६. 'पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः ।' — आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि १/३३

९
'पर्याय' की अवधारणा में निहित दार्शनिक मौलिकता एवं विशेषता

सुदीप जैन

भारतवर्ष दार्शनिक चिन्तन की चिरकाल से अत्यन्त उर्वरा-भूमि रहा है। सामान्यतः कोई भी सकर्ण (कान-सहित) प्राणी 'ध्वनिबोध' करने में समर्थ होता है, किन्तु विचारशक्ति-सम्पन्न होने पर 'शब्दबोध' की सामर्थ्य प्रकट होती है। जब शब्दशास्त्र का अभ्यास होता है या लोकव्यवहार के क्षेत्र में जुड़ते हैं, तब उन शब्दबोधगत शब्दों का 'अर्थबोध' संभव हो पाता है। अर्थबोध में भी शुष्कज्ञान की ही स्थिति रहती है; किन्तु यदि प्रायोगिक अनुभवजन्यता होती है, तो वह 'भावबोध' के स्तर तक पहुँच सकता है। तथा इन सभी को अपने आप में समाहित कर जो व्यक्ति, समाज, देश एवं सम्पूर्ण विश्व को 'दिशाबोध' देने में समर्थ हो जाता है, वही 'दार्शनिक' बन पाता है और ऐसे दार्शनिकों से एवं दार्शनिक चिन्तकों से जहाँ की परम्परा चिरकाल से अतिसमृद्ध एवं सुप्रतिष्ठित रही हो, उस भारतवर्ष के दर्शनों एवं दार्शनिकों में विशिष्ट आयाम एवं वैचारिक गहराई उपलब्ध हो पाना अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक है।

ऐसी दर्शन-उर्वर भारत भूमि पर अनेकों दार्शनिक-चिन्तन-धारायें चलीं, किन्तु मुख्यतः कुछ दर्शन ही विशेष प्रतिष्ठा एवं स्थायित्व प्राप्त कर सके हैं। इनमें 'वैदिक' एवं 'अवैदिक' तथा 'आस्तिक' एवं 'नास्तिक' जैसे वर्गभेद भी रहे हैं; किन्तु समग्रतः दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि पर हम देखें, तो हम पाते हैं कि अनेकान्तात्मक-चिन्तनपद्धति एवं एकान्त-चिन्तनपद्धति ये दो मूल विभाग भारतीय दर्शनों में उपलब्ध होते हैं। उनमें वेद एवं वैदिक दर्शन एकान्तपद्धति के हैं, क्योंकि वैदिक मनीषियों ने ही लिखा है – "**एकान्तदर्शना: वेदा:**"–(महाभारत १२/३०६/४६)

यह वर्गीकरण न तो अहेतुक है और न ही अप्रासंगिक; क्योंकि 'पर्याय' की अवधारणा को स्पष्टरूप से समझने के लिए इस दृष्टि को समझना अत्यन्त आवश्यक है। अनेकान्तदृष्टि के भाव में ही अन्य दार्शनिक या तो वस्तु को सर्वथा परिवर्तनशील या परिवर्तनमात्रा वस्तुस्वरूप मानकर '**सर्वं क्षणिकम्**', जैसी एकान्त मान्यता का प्रवर्तन कर बैठे, तो कुछ वस्तु को नित्य-निरंश-निरवयव मानकर, समस्त

परिवर्तनों को मायाजन्य प्रतिभास या विवर्तवाद के रूप में कहकर, पर्यायपक्ष से अपना पल्ला झाड़ बैठे। किसी-किसी दर्शन ने वस्तु की नित्यानित्यात्मकता को अपनाना तो चाहा, किन्तु अनेकान्तात्मक दृष्टि के अभाव में उनका प्ररूपण भी इसी प्रकार रहा, जैसे कि किसी जगह नौकरी के लिए २५ वर्ष की आयु का व्यक्ति अपेक्षित हो, और कोई १२ एवं १३ वर्ष के दो बच्चों को ले जाकर, उनका आयु-योग करके दोनों को एक व्यक्ति के वेतन पर नौकरी में लगा लेने का अनुरोध करे। क्योंकि वे किसी एक पदार्थ को तो नितान्त अपरिवर्तनशील कूटस्थ नित्य बताते हैं, कुछ पदार्थों को मात्र विकार या परिणामस्वभावी बताते हैं, कुछ को मात्र परोत्पादन-सामर्थ्य का धनी होते हुए भी अपरिणामी मानते हैं तथा कुछ को प्रकृति-विकृतिस्वरू कहते हैं। आप सभी विद्वान '**सांख्यकारिका**' की इस कारिका से परिचित होंगे —

"मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्यः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकाराः न प्रकृतिर्निविकृतिः पुरुषः ॥"

इन सबके मेल से भी कोई भी द्रव्य अनेकान्तमक द्रव्य-पर्याय-स्वरूप सिद्ध नहीं होता है। जैनदर्शन में पर्याय की अवधारणा पूर्णतः मौलिक एवं विशिष्ट है। चूँकि जैनदर्शन में वस्तुस्वरूप की आधारभित्ति ही अनेकात्मक मानी गयी है; अतः यह अनेकान्तात्मकता पर्याय में भी स्वतः पर्यवसित होती है। पर्याय का स्वरूप क्षणिक या परिवर्तनमात्र होते हुए भी वह संपूर्ण वस्तु नहीं है, वस्तु का अंश है तथा नित्य या अपरिवर्तनशील पक्ष से पूर्ण सामंजस्य रखते हुए वह अपना स्वरूप अविरोधीभाव से सुरक्षित रखती है। यद्यपि दार्शनिक-दृष्ट्या पर्याय को क्षणस्थायी या परिवर्तनमात्र कहा गया है, तथापि यहाँ भी अनेकान्तमात्मकता व्यापक रूप से परिलक्षित होती है। 'कारणशुद्धपर्याय' जैसे पक्ष अपेक्षाकृत नित्यरूप होकर भी 'पर्याय' संज्ञा धारण करते हैं तथा सामान्य पर्यायों को 'अनित्य' कहा ही गया है। इसी प्रकार कुछ पर्यायें क्रमभावी हैं, तो कुछ सहभावी हैं। कुछ द्रव्य पर्यायें हैं, तो कुछ गुण पर्यायें हैं। कुछ समानजातीय पर्यायें हैं, तो कुछ असमानजातीय हैं।

इन्हीं सबके विवेचन पर पर्याय की द्रव्य से भेदाभेदात्मक दृष्टि से अनेकान्तात्मक एवं मौलिक स्वरूप की दृष्टि से अनेकान्तात्मकता प्रमाणित होती है। जैनदर्शनोक्त 'पर्याय' की अवधारणा को इस अनेकान्तात्मक दृष्टि के आलोक में समग्रतः एवं बिन्दुशः देखे बिना समझ पाना भी संभव नहीं है, समझा पाना तो अपेक्षाकृत दूर की बात है। अतः मैं अपने आलेख के तीन वर्ग कर रहा हूँ। 'प्रथम वर्ग' में पर्याय का व्युत्पत्ति, निरुक्ति, समानार्थक शब्द एवं परिभाषा के द्वारा परिचय दूँगा। 'द्वितीय वर्ग' में उसके भेद-प्रभेदों को संक्षिप्त रूप में बताने की चेष्टा करूँगा। तथा 'तीसरे वर्ग' में 'पर्याय की अवधारणा' में निहित मौलिकता एवं विशेषता के रूप में उसकी अनेकान्तात्मकता को स्पष्ट करने की नैष्ठिक चेष्टा करूँगा।

इनमें से प्रथम एवं द्वितीय वर्ग तो दार्शनिक ग्रंथों में उपलब्ध विवरणों को ही प्रस्तुत करेंगे। तथा तृतीय वर्ग में आगमिक तथ्यों के आलोक में अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने का यत्न होगा। यद्यपि प्रथम एवं द्वितीय वर्ग की सामग्री अन्य मनीषियों द्वारा इस संगोष्ठी में मेरे से पूर्व प्रस्तुत की जा चुकी

हो – यह संभव है; अतः उसका वाचन किये बिना मैं इसके अपेक्षित बिन्दुओं को लेकर 'तृतीय वर्ग' को ही आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा ।

प्रथम वर्ग : पर्याय का स्वरूप

(क) व्युत्पत्तियों एवं निरुक्तियों के आलोक में –

(१) **परि समन्तादायः पर्यायः** । अर्थात् जो सब ओर से भेद को प्राप्त करे, वह पर्याय है ।[१]

(२) **स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्ति** । अर्थात् जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है, या परिणमन करती है, वह पर्याय है ।[२]

(ख) समानार्थक शब्दों के आलोक में –

(१) **पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः** । अर्थात् पर्याय का अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है ।[३]

(२) **ववहारो या वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो** । अर्थात् व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थवाची हैं ।[४]

(३) **पर्यवः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्** । अर्थात् पर्याय, पर्यव और पर्याय में भी एकार्थवाची है ।[५]

(४) **अपि चांशः पर्यायो भागो हारोविधा प्रकारश्च ।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते** । अर्थात् अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग – ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं ।[६]

(ग) परिभाषाओं के आलोक में –

(१) **तद्भावः परिणामः** । अर्थात् गुणों के परिणमन को पर्याय या परिणाम कहते हैं ।७

(२) **व्यतिरेकिणः पर्यायः** । अर्थात् पर्यायें व्यतिरेकी होती हैं ।

(३) **पदार्थास्तेषामवयवा अपि प्रदेशाख्याः परस्परव्यतिरेकित्वापर्याया उच्यन्ते** । अर्थात् पदार्थों के जो अवयव हैं, वे भी परस्पर व्यतिरेकयुक्त होने से पर्याय कहलाते हैं ।[९]

(४) **क्रमवर्तिनः पर्याय** । अर्थात् एक पर्याय के बाद दूसरी पर्याय क्रमपूर्वक होती है, अतः पर्याय क्रमवर्ती कहलाती है ।१०

(५) **एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्** । अर्थात् एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं, जैसे-आत्मा में होने वाले हर्ष-विषाद के परिणाम ।''

जैनदर्शन में पर्यायों को द्रव्य और गुण से कथंचित्‌भिन्न स्वतंत्र माना गया है। — **वस्त्वस्ति स्वतः सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि। अपि नित्या प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः।**[१२] इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने पर्याय एवं क्रिया में भी अन्तर माना है। — **भावो द्विविधः परिस्पन्दात्मकः अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते, इतरः परिणामः।**[१३] अर्थात् भाव दो प्रकार के होते हैं — परिस्पन्दात्मक एवं अपरिस्पन्दात्मक। इनमें से परिस्पन्दात्मक भावों को क्रिया कहते हैं तथा अपरिस्पन्दात्मक भावों को परिणाम या पर्याय कहते हैं।

द्वितीय वर्ग : पर्याय के भेद-प्रभेद

(क) 'द्रव्यपर्याय' और 'गुणपर्याय' —

(१) **पर्यायस्तु द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि।** अर्थात् पर्यायें द्रव्यात्मक भी होती हैं और गुणात्मक भी।[१४]

(२) **द्विधा पर्याया द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च।** अर्थात् पर्यायें दो प्रकार की होती हैं, द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय।[१५]

(३) **तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः।** अर्थात् अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्तिकी कारणभूत द्रव्यपर्याय है।[१६]

(४) **यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना।** अर्थात् द्रव्य के जितने प्रदेशरूप अंश हैं, उतने वे सब नाम से द्रव्यपर्याय हैं।[१७]

(५) **गुणद्वारेणान्वयरूपाया एकत्वप्रतिपत्तेर्निबन्धनं कारणभूतो गुणपर्यायः।** अर्थात् जिन पर्यायों में गुणों के द्वारा अन्वयरूप एकत्व का ज्ञान होता है, उन्हें गुणपर्याय कहते हैं।[१८]

(६) **गुणपर्यायः स चैकद्रव्यगत एवं सहकारफले हरितपाण्डुरादिवर्णवत्।** अर्थात् गुणपर्याय एकद्रव्य में भी होती है, जैसे की एक आम की हरे और पीले रूप पर्याय।[१९]

(ख) 'अर्थपर्याय' और 'व्यञ्जनपर्याय' —

(१) **द्वितीयप्रकारेणार्थव्यञ्जनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति।** अर्थात् दूसरी पद्धति से 'अर्थपर्याय' और 'व्यञ्जनपर्याय' के रूप में दो प्रकार की पर्यायें मानी गयी हैं।[२०]

(२) **द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयतिद्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थपर्यायाः।** अर्थात् जो द्रव्य को क्रम परिणाम से प्राप्त करते हैं, अथवा प्राप्त किये जाते हैं, वे अर्थपर्याय हैं[२१]। अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान-विषयक है, अतः शब्द से नहीं कही जा सकती। यह मात्र वर्तमानकालिक वस्तु को विषय करती है, इसलिए आचार्यों ने इसे 'ऋजुसूत्रनय' का विषय माना है।

(३) **वज्जसिलाथंभादिसु वंजणसण्णिदस्स अवट्ठाणुवलंभादो वंजणपज्जाओ ।** अर्थात् वज्रशिला, स्तम्भादि में व्यञ्जन संज्ञा से उत्पन्न हुई पर्याय को व्यञ्जनपर्याय कहते हैं ।[२२] व्यञ्जनपर्याय स्थूल एवं शब्दगोचर है, तथा अपेक्षाकृत स्थायी भी मानी जाती है। जैसे मिट्टी की पिण्ड, स्थास, कोष, कुशल, घट और कपाल आदि पर्यायें व्यञ्जनपर्यायें हैं ।

शरीर के आकाररूप से जो आत्मप्रदेशों का अवस्थान है, वह व्यञ्जनपर्याय कहलाती है। और अगुरुलघु गुण की षट्वृद्धि और हानिरूप प्रतिक्षण बदलती हैं, वे अर्थपर्याय होती हैं। व्यञ्जनपर्याय को द्रव्यपर्याय के अंतर्गत माना गया है, जबकि अर्थपर्याय को गुणपर्याय का अपरनाम माना गया है ।

(ग) 'स्वभावपर्याय' और 'विभावपर्याय' –

(१) **पज्जयं दुविहं सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं ।**
दव्वगुणाण सहावा पज्जायं तह विहावदो णेयं । अर्थात् पर्याय दो प्रकार की होती हैं, स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। द्रव्य और गुण दोनों की पर्यायें इन दोनों प्रकार की होती हैं ।[२३]

(२) **पर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ।** अर्थात् पर्याय दो प्रकार की है, स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ।[२४] ये दोनों भेद गुणपर्याय के माने गये हैं; जबकि द्रव्यपर्याय के दो भेद समानजातीय और असमानजातीय माने गये हैं । समानजातीय वह है, जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक इत्यादि पर्यायें हैं; तथा असमान जातीय पर्यायों में जीव-पुद्लात्मक देव एवं मनुष्य आदि पर्यायें ली गई हैं ।

(घ) 'सहभावीपर्याय' और 'क्रमभावीपर्याय'

(१) **यः पर्याय स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति ।** अर्थात् पर्याय सहभावी और क्रमभावी के भेद से दो प्रकार की मानी गयी हैं ।[२५]

(ङ) 'स्वपर्याय' और 'परपर्याय'

(१) **केवलिप्रज्ञया तस्या जघन्योऽशंस्तु पर्य्ययः तदाऽनेन निष्पन्नं सा द्युतिर्निजपर्य्ययाः । क्षयोपशमवैचित्र्यं ज्ञेयवैचित्र्यमेव वा । जीवस्य परपर्यायाः षट्स्थानपतितामी ।** अर्थात् केवलज्ञान के द्वारा निष्पन्न जो अनन्त अन्तद्युति या अन्तर्तेज है, वही स्वपर्याय है; और क्षयोपशम के द्वारा वे ज्ञेयों के द्वारा चित्र-विचित्र जो पर्याय है, वह परपर्याय है। दोनों ही षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि-युक्त है ।[२६]

(च) 'कारणशुद्धपर्याय' और 'कार्यशुद्धपर्याय'

(१) **इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतराग-सुखात्मक-शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपभावानन्त-**

चतुष्टयस्वरूपेण सहांचितपंचमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः । साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्ध-सद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्तफलरूपानन्तचतुष्टयेन सार्द्धं परमोत्कृष्टक्षायिकभावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्य्यायश्च । अर्थात् सहज शुद्ध निश्चय से अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहज परमवीतरागसुखात्मक शुद्धअन्तस्तत्त्वरूप जो स्वभाव अनन्तचतुष्टय का स्वरूप उसके साथ की जो पूजित पंचमभाव-परिणति, वही कारणशुद्धपर्याय है । सादिअनन्त, अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले, शुद्धसद्भूत व्यवहार से केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्तचतुष्टय के साथ ही परमोत्कृष्ट क्षायिकभाव की जो शुद्ध-परिणति, वही कार्यशुद्धपर्याय है ।[२७] ये दोनों भेद स्वभावपर्याय के माने गये हैं ।

जो कारणशुद्धपर्याय एवं कार्यशुद्धपर्याय हैं, इन्हें ही लगभग मिलते-जुलते अभिप्राय से कार्यशुद्ध जीव एवं कारणशुद्ध जीव भी कहा गया है । — **शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधार भूतत्वात्कार्यशुद्धजीवः ।... शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञानादिपरस्वभावगुणानामाधारभूतत्वात्कारणशुद्धजीवः ।**[२८] अर्थात् शुद्ध-सद्भूत-व्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का आधार होने के कारण 'कार्य शुद्धजीव' (सिद्ध पर्याय) है । शुद्ध निश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभाव गुणों का आधार होने के कारण (त्रिकाली शुद्ध चैतन्य) कारणशुद्ध जीव है ।

इन्हीं को 'कारणसमयसार' और 'कार्यसमयसार' भी कहा गया है — **कारणकज्जसहावं समयं कादूण होदि झायव्वं कज्जं सुद्धसरूवं कारणभूदं तु साहणं तस्स सुद्धो कम्मखयादो कारणसमओ हु जीव सब्भावो । खय पुणु सहाव-झाणे तहया तं कारणं झेयं ।**[२९] अर्थात् कारण व कार्यसमयसार को जानकर ध्यान करना चाहिए । कार्यसमयसार शुद्धस्वरूप है तथा कारणसमयसार उसका साधन है। शुद्ध तथा कर्मों के क्षय से कार्यसमयसार होता है । कारणसमयसार जीव का स्वभाव है, स्वभाव के ध्यान करने से कर्मों का क्षय होता है; इसलिए कारणसमयसार का ध्यान करना चाहिए ।

तृतीय वर्ग : पर्याय की मौलिक विशेषता — अनेकान्तात्मकता

जैनदर्शन में पर्याय का स्वरूप द्रव्य से कालभेद के आधार पर माना गया है, प्रदेशभेद के आधार पर नहीं। बौद्धों ने प्रदेशभेदवत् अनित्यत्व या पर्यायधर्म को वस्तु का ही स्वरूप मान लिया था । इस ऐकान्तिक मान्यता के कारण बौद्धों का क्षणभंगवाद जैनाभिमत पर्याय का स्थान नहीं ले सका । तथा सांख्यों के द्वारा माना गया पुरुष का कूटस्थनित्य स्वरूप भी पर्यायपक्ष की पूर्ण उपेक्षा के कारण लोकग्राह्य नहीं हो सका । वस्तुतः पर्याय जैनदर्शन की ऐसी मौलिक अवधारणा है, जो द्रव्यात्मक स्वरूप से न तो वस्तुतः भिन्न है, और न ही पूर्णतः वस्तुरूप ही है । ऐसा प्रतिपादन जैनदर्शन की अनेकान्तात्मक चिंतन-पद्धति

के कारण ही संभव हो सका। जैसे कि 'अंगुली का हिलना' में यदि अंगुली को द्रव्यरूप मान लिया जाये (यह मात्र उदाहरण के लिए कहा जा रहा है, वस्तुतः अंगुली पुद्गल की व्यञ्जनपर्याय है), तो हिलना रूप पर्याय न तो अंगुली से पूर्णतः भिन्न है और न ही पूर्णतः अभिन्न है; क्योंकि यदि पूर्णतः भिन्न माना जाये तो अंगुली के बिना हिलना अपना अस्तित्व कहाँ सिद्ध करेगा और उस अंगुली का हिलना कैसे कहा जा सकेगा ? तथा यदि पूर्णतः अभिन्न माना जाये, तो हिलना समाप्त होते ही अंगुली को भी समाप्त होना पड़ेगा। अतः वह हिलना पर्याय के रूप में अपने द्रव्य से कथंचित् भिन्नाभिन्न अनेकान्तरूप से ही सिद्ध होता है।

यह सामान्य क्षणिक पर्याय के बारे में अनेकान्तात्मक चिंतन है। पर्याय के क्षणिकत्व और अक्षणिकत्व की दृष्टि से भी उसे अनेकान्तात्मक माना जाता है, अन्यथा कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय तथा अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय का स्वरूप-भेद संभव नहीं होगा। क्योंकि कार्यशुद्धपर्याय (सिद्धपर्याय) अर्थपर्याय के रूप में प्रतिसमय परिवर्तनशील होती है, जबकि उन्हीं सिद्धों की आत्मप्रदेशों की आकृतिगत व्यञ्जनपर्याय सादि-अनंत एकरूप मानी गयी है। **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने **धवलाग्रंथ** (९/४, १, ४८/२४३) में व्यञ्जनपर्यायों की स्थिति अंर्तमुहुर्त्त से लेकर ६ मास या संख्यातवर्ष तक माना है। जबकि अर्थपर्याय विशुद्ध क्षणभंगुर ही मानी गयी है **– खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।**[३०] इस प्रकार काल की दृष्टि से भी पर्याय का स्वरूप पूर्णतः क्षणभंगुर नहीं है, और वह अनेकान्तात्मक ही सिद्ध होती है।

यहाँ यह प्रश्न संभव है कि द्रव्य और गुणों से पर्याय का स्वरूप कालगत क्षणिकता के कारण ही भिन्न माना गया था, जबकि यदि कुछ पर्यायें क्षणिक नहीं है, तो उनका पर्यायत्व कैसे प्रतिपादित करेंगे ? इसका समाधान यही है कि पर्याय का स्वरूप द्रव्य और गुणों की अपेक्षा कालगत भेद पर आधारित है, और इसी आधार पर इन सभी क्षणिक-अक्षणिक पर्यायों को द्रव्य और गुण से स्वतंत्र माना एवं कहा गया है। वस्तुतः यह एक ऐसा विषय है, जिसका प्रतिपादन तो सर्वज्ञों के द्वारा किया गया है, तथा सम्प्रति इसका चिंतन एवं उहापोह सामान्य जनों के द्वारा किया जा रहा है, अतः यह स्वरूप इस दार्शनिकों की संगति में व्यापकरूप से मननीय है।

संदर्भ

१. राजवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ३३१, धवला, १/१,१,१/४८।

२. आलापपद्धति, ६।

३. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र ३३।

४. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ५७२।

५. स्याद्वादमंजरी, कारिका २३, पृष्ठ २७२।

६. पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, कारिका ६०।

७. तत्त्वार्थसूत्र, ५/४२।

८. *सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र २८।*

९. पंचास्तिकाय, गाथा ५ की तत्त्वप्रदीपिका टीका।
१०. आलापपद्धति, पृष्ठ ६, परमात्मप्रकाश मूल पद्य ५७।
११. परीक्षामुख, ४/८१।
१२. पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, कारिका ८९।
१३. राजवार्तिक, अध्याय ५, सूत्र २२।
१४. प्रवचनसार, गाथा ९३ की तत्त्वप्रदीपिका टीका।
१५. पंचास्तिकाय, गाथा १६ की तात्पर्यवृत्ति टीका।
१६. प्रवचनसार, गाथा ९२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका।
१७. पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, गाथा १३५।
१८. पंचास्तिकाय, गाथा १६ की तात्पर्यवृत्ति टीका।
१९. वही।
२०. वही।
२१. प्रवचनसार, गाथा ८७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका।
२२. धवला, ४/१,५,४/३३७।
२३. बृहद्नयचक्र, गाथा १७-१९।
२४. आलापपद्धति, पृष्ठ ३।
२५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय ४, सूत्र १, वार्तिक ३३।
२६. मोक्षपंचाशत, पद्य २३-२५।
२७. नियमसार, गाथा १५ की तात्पर्यवृत्ति टीका।
२८. वही, गाथा ९ की तात्पर्यवृत्ति टीका।
२९. बृहद्नयचक्र, गाथा ३६०-३६०।
३०. वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा २५।

टिप्पणियाँ

मंगलाचरण – तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः। दर्पणतल इव सकला प्रतिफलित पदार्थमालिका यत्र॥ (आचार्य अमृतचंद्र, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय)

पर्याय के स्वरूप की विशेषतायें – पर्याय का स्वरूप मूलतः क्षणस्थायी माना गया, तथा काल की अनादि-अनन्ता के कारण पर्यायें भी (प्रत्येक द्रव्य एवं प्रत्येक गुण की) अनन्त मानी गयीं हैं, जो प्रतिसमय परिवर्तनशील हैं।

पर्याय की विशेषता और सर्वज्ञ – जैन मान्यता के अनुसार पुद्गल-परमाणु एक समय में चौदह रज्जु प्रमाण गमन कर सकता है। 'समय' के इतने सूक्ष्म स्वरूप का आकलन क्या प्रत्यक्ष के अलावा अन्य कोई ज्ञान कर सकता है? यदि नहीं, तो मति-श्रुतज्ञान तो परोक्ष होने से छूट जायेंगे। तथा अवधि-मनःपर्यायज्ञान पुद्गल-ग्राही होने से जाल्पी काल के सूक्ष्मतम अंश 'समय' को ग्रहण करने में असमर्थ हैं ही। तब केवलज्ञान और केवलज्ञानी के बिना 'पर्याय' के माप 'समय'

को कोई अन्य क्या जान सकता है ? "**क्षणानामतिसूक्ष्मानां: आलक्षयितुमशक्यत्वात् ।**"

यही स्थिति पर्यायों की अनन्तता की है । अनन्त का माप तद्रुपसामर्थ्य का धनी अनन्तज्ञान-केवलज्ञान के धनी सर्वज्ञ ही कर सकते हैं ।

द्रव्य और सर्वज्ञ – इतना ही नहीं रूपी पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश 'परमाणु' को भी सर्वज्ञ जैसे अनंत एवं निराकरण सामर्थ्य के बिना नहीं जाना जा सकता । क्योंकि विज्ञान द्वारा ज्ञात परमाणु का विखंडन हो जाता है, और जैन मान्यता के अनुसार परमाणु वह सूक्ष्मतम अंश है, जो विखंडन के योग्य नहीं है ।

वस्तु-व्यवस्था और सर्वज्ञ – "सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थः प्रत्यक्षा, कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतेऽग्न्यादिरितिसर्वज्ञ-संस्थितिः ।" प्रत्येक द्रव्य में प्रमेयत्व नामक सामान्यगुण है । उससे वह द्रव्य और उसकी प्रत्येक पर्याय प्रदेश भी प्रतिसमय किसी न किसी ज्ञान के विषय अवश्य बने रहना चाहिए । क्या सर्वज्ञ के बिना यह संभव है ?

पर्याय की वैज्ञानिकता

- परिणमन शीलता प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है, किन्तु उसकी भी मर्यादायें हैं । उसका नियमन द्रव्यत्व, वस्तुत्व एवं अगुरुलघुत्व नामक सामान्य गुण करते हैं । अतः यह एक सुव्यवस्थित व्यवस्था है ।
- दूध की नानाविध पर्यायों ने अनेकविध वैज्ञानिक शोधों को जन्म दिया ।
- एक विद्युत-प्रवाह के शीतोष्णकारक बहुविध-यंत्रों में बहुविध उपयोग पुद्गल-पर्यायों के वैचित्र्य को दिखाते हैं ।
- 'उपादान' की 'उपादेय' तथा 'निमित्त' की 'नैमित्तिक' भी पर्यायें ही हैं ।
- 'सत्कार्यवाद (सांख्य) एवं 'असत्कार्यवाद' का विवाद पर्याय की अनेकान्तात्मकता को नहीं समझ पाने के कारण उत्पन्न है । द्रव्य-गुण-पर्याय सम्बन्ध अनेकान्त की भित्ति पर आधारित है ।
- जीव और पुद्गल में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की बहुलता होने से 'पर्याय' की अवधारणा में इन दोनों की मौलिकता एवं स्वतंत्रता जानना संभवतः एक विशिष्ट दार्शनिक दिशाबोध होगा । क्योंकि दिन के दिशाबोध के बिना दर्शन की दार्शनिकता चरितार्थ नहीं होती है ।

१०

जैनदर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय भेदाभेदवाद की अवधारणा

अशोक कुमार जैन

विश्व जड़ और चेतन दो प्रकार के तत्त्वों का समुदाय है। वेदान्त दर्शन के अतिरिक्त प्रायः अन्य सब दर्शनों ने इनकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने लिखा है –

> **पज्जय-विजुदं दव्वं-दव्वं विजुत्तं य पज्जया णत्थि।**
> **दोण्हं अणण्णभूदं भाव समणा परूविंति ॥ पञ्चास्तिकाय**, गाथा १२

अर्थात् पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्य रहित पर्यायें नहीं होती। दोनों का अनन्यभाव श्रमण प्ररूपित करते हैं।

जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में द्रव्य के विषय में चार मत प्राप्त होते हैं। वेदान्त दर्शन का मत है कि जगत् में जो कुछ है वह एक है, सद्रूप है और नित्य है। यह मत मात्र एक चेतन तत्त्व की प्रतिष्ठा करता है और विश्व की विविधता को माया का परिणाम बतलाता है। इसके विपरीत बौद्ध मत है कि जगत् में जो कुछ है वह नाना है और विशरणशील है। वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों को स्वीकार किया गया है। यह सत् को मानने के साथ असत् को भी मानता है, परन्तु दोनों को निरपेक्ष मानता है। वह सत् में भी परमाणु द्रव्य और काल, आत्मा आदि को नित्य और कार्य द्रव्य घट पट आदि को अनित्य मानता है। सांख्य मत सत् के चेतन और अचेतन दो भेद करता है, जिसे प्रकृति और पुरुष के नाम से कहा गया है। उसमें पुरुष को नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है।

जैन परम्परा में द्रव्य को परिभाषित करते हुए लिखा गया है –

> **दव्वं सल्लक्खणयं उप्पाद-व्वय-धुवत्त-संजुत्तं।**
> **गुण-पज्जया, सयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ पञ्चास्तिकाय**, गाथा १०

जो सत् लक्षणवाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त है अथवा जो गुणपर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं ।

जैन मत में द्रव्य की परिभाषा अन्य दर्शनों से कुछ भिन्न है । उसमें किसी भी पदार्थ को न तो सर्वथा नित्य ही माना गया है और न सर्वथा अनित्य ही । कारण द्रव्य सर्वथा नित्य है और कार्य द्रव्य सर्वथा अनित्य है यह भी उनका मत नहीं, किन्तु उसके अनुसार जड़-चेतन समग्र सद्रूप पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाले होते हैं।

प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है और उसमें यह परिवर्तन प्रतिसमय होता रहता है, जैसे दूध कुछ समय बाद दहीं रूप में परिणत हो जाता है और फिर दहीं का मट्ठा बना लिया जाता है । यहाँ यद्यपि दूध से दहीं और दहीं से मट्ठा ये तीन भिन्न-भिन्न अवस्थायें दिखाई देती हैं पर ये तीनों एक गोरस की ही हैं, इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में अवस्था भेद के होने पर भी उसका अन्वय पाया जाता है, इसलिए वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप सिद्ध होता है यह प्रत्येक द्रव्य का सामान्य स्वभाव है ।

द्रव्य को दूसरे शब्दों में गुणपर्याय वाला भी कहा है । **तत्त्वार्थ सूत्र** में लिखा है **'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'** । प्रत्येक वस्तु का अपना स्वकीय स्वरूप है । जो भी कोई वस्तु है, यद्यपि वह स्वयं अपने-अपने स्वभाव में स्थित है, किन्तु अपनी-अपनी वस्तु को न छोड़कर रहने वाला स्वभाव ही विवक्षित होकर भेद का कर्ता हो जाता है । **पञ्चाध्यायी** में गुणों के नामों के बारे में लिखा है –

शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूप गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृति, शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥ १/४८

शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति ये सब एकार्थवाची शब्द हैं अर्थात् ये सब विशेष या गुण के पर्यायवाची नाम हैं ।

गुण अन्वयी होते हैं और पर्याय व्यतिरेकी । प्रत्येक द्रव्य में कार्य भेद से अनन्त शक्तियों का अनुमान होता है । इन्हीं की गुणसंज्ञा है । ये अन्वयी स्वभाव होकर भी सदैव एक अवस्था में नहीं रहते हैं, किन्तु प्रतिसमय बदलते रहते हैं । इनका बदलना ही पर्याय है । गुण अन्वयी होते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि शक्ति का कभी भी नाश नहीं होता । ज्ञान सदा काल ज्ञान बना रहता है, तथापि जो ज्ञान वर्तमान समय में है, वही ज्ञान अगले समय में नहीं रहता । दूसरे समय में वह अन्य प्रकार का हो जाता है । तथापि प्रत्येक गुण अपनी धारा के भीतर रहते हुए ही प्रतिसमय अन्य-अन्य अवस्थाओं को प्राप्त होता है । गुणों की इन अवस्थाओं का नाम ही पर्याय है । इससे इन्हें व्यतिरेकी कहा जाता है । वे प्रतिसमय अन्य-अन्य होती रहती हैं । ये गुण और पर्याय मिलकर ही द्रव्य कहलाते हैं । द्रव्य इनके सिवा स्वतंत्र पदार्थ नहीं है । **तत्त्वार्थ सूत्र** में लिखा है – **'तद्भावः परिणामः'** अर्थात् धर्मादि द्रव्यों का अपने निज स्वभाव में रहना ही परिणाम है ।

पर्याय का वास्तविक अर्थ वस्तु का अंश है । ध्रुव अन्वयी या सहभूत तथा क्षणिक व्यतिरेकी या क्रमभावी के भेद से अंश दो प्रकार के होते हैं । **प्रवचनसार** में लिखा है –

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥ २ ॥

अर्थ द्रव्यमय है और द्रव्य गुणमय है । उनमें पर्याय होती है । यहाँ अर्थ द्रव्यमय और द्रव्यों को गुणमय कहने से उनके अभेद या ऐक्य को सूचित किया है । **आलाप-पद्धति** में पर्याय के सम्बन्ध में लिखा है ।

गुणविकाराः पर्यायास्ते द्वेधा अर्थव्यञ्जनपर्याय भेदात् ॥ १५ ॥

गुण के विकार को पर्याय कहते हैं । वे पर्यायें दो प्रकार की हैं । (१) अर्थ पर्याय (२) व्यञ्जन पर्याय। **वसुनन्दिश्रावकाचार** में भी लिखा है –

सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा ।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥ २५ ॥

पर्याय के दो भेद हैं अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय । इनमें अर्थ-पर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होती रहती है, किन्तु व्यञ्जन पर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है अर्थात् शब्दों के द्वारा कही जा सकती है और चिरस्थायी है । **तर्कभाषा** में लिखा है **"भूतभविष्यत्वस्पर्शरहितं वर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपं चार्थपर्यायः"** अर्थात् जो पर्याय भूत और भविष्यत् काल में स्पर्श से रहित है, मात्र वर्तमान काल में ही एक समय मात्र ही रहता है, वह अर्थ पर्याय है । **अलापपद्धति** में अर्थपर्याय के भेदों के सम्बन्ध में लिखा है, **अर्थपर्यायास्ते द्वेधा स्वभाव-विभाव पर्याय भेदात्** ॥ १६ ॥ अर्थ पर्याय दो प्रकार के हैं १. स्वभाव पर्याय २. विभाव पर्याय । स्वभावार्थ पर्याय सब द्रव्यों में होती है, किन्तु विभाव पर्याय जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही होती है, क्योंकि ये दो द्रव्य ही बंध अवस्था को प्राप्त होते हैं ।

नयचक्र में कहा है –

सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं ।
सव्वेसिं च सहावं विब्भावं जीव पोग्गलाणं च ॥

दव्वगुणाण सहावं पज्जायं तह विहावदो णेयं ।
जीवे जीव सहावा ते विहावा हु कम्मकदा ॥

पोग्गलदव्वे जो पुण विब्भाओ कालपेरिओ होदि ।
सो णिद्धरुक्खसहिदो बंधो खलु होइ तस्सेव ॥ १८.२० ॥

जिनेन्द्र भगवान ने द्रव्यों की स्वभावपर्याय और विभावपर्याय की बात कही हैं । सब द्रव्यों में स्वभावपर्यायें होती है, किन्तु जीव और पुद्गल में विभावपर्याय भी होती है । द्रव्य और गुणों में स्वभावपर्याय भी होती है और विभावपर्याय भी होती है । जीव में जीवत्व रूप स्वभाव पर्यायें होती हैं और कर्मकृत

विभावपर्यायें होती हैं। पुद्गल विभावपर्यायें काल प्रेरित होती हैं, जो स्निग्ध और रूक्षगुण के कारण बंधरूप होती हैं।

अर्थ पर्याय की अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते हैं। **वसुनन्दि श्रावकाचार** में लिखा है –

वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा ।
अत्थपरिणाममासिय सव्वे परिणामिणो अत्था ॥

धर्मादिक अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल के चार द्रव्य व्यञ्जनपर्याय के अभाव से अपरिणामी कहलाते हैं, किन्तु अर्थपर्याय की अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते हैं।

ये अर्थपर्याय स्वभावपर्यायें हैं तथा आगमगम्य हैं, क्योंकि हम लोग एक क्षण को और उस एक क्षण के परिणमन को बुद्धि से ग्रहण ही नहीं कर सकते। समय अत्यंत सूक्ष्म है।

अर्थपर्याय में होने वाला यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भिन्न-भिन्न बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखता है, क्योंकि व्यञ्जनपर्याय में ही कदाचित् बाह्य कारणों की अपेक्षा रहती है। अतएव अर्थपर्याय रूप से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तो सिद्धों में भी पाया जाता है, वहाँ भी शुद्धात्मा में प्रतिक्षण षट्गुण हानि वृद्धि रूप से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता ही रहता है। सुमेरुपर्वत अनादि अनिधन है और पौद्गलिक है, उसमें भी प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हो रहा है। अकृत्रिम चैत्यालयों और उनमें स्थित अकृत्रिम प्रतिमाओं में और अनादि निधन वहां की ध्वजा, माला, तोरणद्वारों में भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य हो रहा है। बालक पांच वर्ष का हुआ एकदम नहीं बढ़ा है। एक-एक महीने से तो क्या एक-एक दिन से वृद्धि हुई है, किन्तु दिन प्रतिदिन की वृद्धि तो दिखती नहीं है और तो क्या घण्टे-घण्टे में भी बालक बढ़ता रहता है। अधिक सूक्ष्मता से विचार करें तो एक-एक समय से भी वृद्धि हो रही है। अगले क्षण की वृद्धि रूप उत्पाद, पूर्व क्षण का विनाश और दोनों अवस्थाओं में ध्रौव्य रूप आत्मा का निवास रहना, इसी का नाम उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य है। अंकुर अवस्था का उत्पाद, बीज अवस्था का विनाश और पुद्गल रूप का अवस्थान दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान है, इसी को परिणाम भी कहते हैं। इस पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न सामग्री की अपेक्षा न रखता हुआ प्रत्येक पदार्थ अनन्त-धर्मात्मक है और क्रम से अविच्छिन्न रूप से अन्वय सन्ततिरूप अनुभव में आ रहा है। सभी पदार्थों की यही अवस्था है। व्यञ्जन पर्याय तो स्थिर स्थूल आकार वाली होती हैं, जैसे मनुष्य पर्याय सौ वर्ष की है, उसका विनाश होकर दो सागर की स्थिति वाला देव पर्याय का उत्पाद हो जाता है और दोनों अवस्थाओं में जीवात्मा अन्वय रूप में रहता है यह व्यञ्जन पर्याय है। **आचार्य शुभचन्द्र** ने लिखा है –

"मूर्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थ संज्ञकः ॥" ज्ञानार्णव ६/४५

जो स्थिर, स्थूल, नश्वर है और वचन से कही जाती है, वह व्यञ्जनपर्याय है। इससे विपरीत सूक्ष्म और प्रतिक्षणध्वंसी – एक क्षणवर्तीमात्र जो पर्याय है, वह अर्थपर्याय कहलाती है।

सन्मति प्रकरण में लिखा है –

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि ।
तीयाणागय भूया तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ १/३१

एक द्रव्य के भीतर जो अतीत, वर्तमान और अनागत अर्थ पर्याय तथा शब्द अर्थात् व्यञ्जन पर्याय होते हैं, वह द्रव्य उतना होता है ।

आचार्य अभिनवभूषण ने लिखा है –

"व्यञ्जन व्यक्तिः प्रवृत्ति निवृत्तिनिबन्धनं जलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वम् तेनोपलक्षितः पर्यायो व्यञ्जन पर्यायः, मृदादेः (यथा) पिण्ड-स्थास-कोश-कुशूल-घटः कपालादयंपर्यायाः ॥ न्यायदीपिका पृ.१२०

व्यक्ति का नाम व्यञ्जन है और जो प्रवृत्ति निवृत्ति में कारणभूत जल के ले आने आदि रूप अर्थक्रियाकारिता है वह व्यक्ति है, उस व्यक्ति से युक्त पर्याय को व्यञ्जन पर्याय कहते हैं अर्थात् जो पदार्थों में प्रवृत्ति और निवृत्ति जनक जलानयन आदि अर्थक्रिया करने में समर्थ पर्याय है, उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं । जैसे मिट्टी आदि का पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्याय हैं ।

पर्याय को ऊर्ध्व पर्याय एवं तिर्यक् पर्याय के रूप में भी वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसे भूत, भविष्य और वर्तमान के अनेक मनुष्यों की अपेक्षा से मनुष्य की जो अनन्त पर्यायें हैं, वे तिर्यक् पर्याय कही जाती हैं । यदि एक ही मनुष्य के प्रतिक्षण होने वाले परिणमन को पर्याय कहें तो वह ऊर्ध्व पर्याय है।

पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष दो प्रकार का है । जैसा कि **परीक्षामुख** में लिखा है "**पर्यायव्यतिरेकभेदात्**" । एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं । जैसे आत्मा में हर्ष-विषाद आदि परिणाम क्रम से होते हैं, वे ही पर्याय हैं । एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं । जैसे गाय, भैंस आदि में विलक्षणपना पाया जाता है।

एक अन्य प्रकार से भी पर्यायों के दो भेद बताये गये हैं – द्रव्य और गुण पर्याय । अनेक द्रव्यस्वरूप की एकता के ज्ञान का जो कारण हो उसे द्रव्य पर्याय कहते हैं, जैसे अनेक वस्तुओं से बनी हुई को एक यान या वाहन कहना । यह द्रव्य पर्याय दो प्रकार की होती है एक समान जातीय, दूसरी असमान जातीय । समान जातीय उसे कहते हैं कि दो, तीन, चार आदि परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य मिलकर जो स्कन्ध हो जाते हैं वे अचेतन के साथ अचेतन के सम्बन्ध से होते हैं, इसलिए समान जातीय द्रव्य पर्याय कहलाते हैं । जीव जब दूसरी गति को जाता है तब नवीन शरीर रूप नोकर्म पुद्गल को लेता है । उससे मनुष्य, देव आदि पर्याय की उत्पत्ति होती है । चेतन रूप जीव के साथ अचेतन रूप पुद्गल के मिलन से जो पर्याय हुई यह असमान जातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है । ये समान जातीय तथा असमान जातीय अनेक द्रव्यों की एक रूप द्रव्य पर्यायें जीव और पुद्गल में ही होती हैं तथा अशुद्ध ही होती

हैं, क्योंकि अनेक द्रव्यों के परस्पर मिलने से हुई हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में परस्पर मिलने रूप कोई पर्याय नहीं होती है। न पर द्रव्य के सम्बन्ध से कोई अशुद्ध पर्याय होती है।

गुण पर्यायें भी दो प्रकार की हैं – स्वभाव गुणपर्याय, विभाव गुणपर्याय। गुण के द्वारा अन्वय रूप एकता के ज्ञान का कारण रूप जो पर्याय हो, उसे गुण पर्याय कहते हैं, वह एक द्रव्य के भीतर ही होती है, जैसे पुद्गल का दृष्टान्त आम के फल में है कि उसके वर्ण-गुण की हरी, पीली आदि पर्यायें होती हैं। प्रत्येक पर्याय में ज्ञान गुण की एकता का ज्ञान है जीव के प्रत्येक पर्याय में ज्ञान गुण की एकता का बोध है। ये जीव और पुद्गल की विभाव गुण पर्यायें हैं। स्वभाव गुणपर्यायें अगुरुलघुगुण की षट्गुणी हानि वृद्धिरूप हैं जो सर्व द्रव्यों में साधारणतया पाई जाती हैं। इस तरह स्वभाव विभाव गुण पर्याय[10] हैं।

गुण और अर्थ से एकार्थवाची होने से जिसे गुण पर्याय कहते हैं, वही अर्थ पर्याय है। और जिसे द्रव्य पर्याय कहते हैं, उसी का नाम व्यञ्जन पर्याय है। जीव द्रव्य में ज्ञान आदि, पुद्गल द्रव्य में रूप आदि, धर्म द्रव्य में गतिहेतुत्व आदि, अधर्म द्रव्य में स्थिति सन्तुलन, अनादि आकाश द्रव्य में अवगाहनत्व आदि और कालद्रव्य में वर्तना आदि अनन्त गुण हैं, जो अपने स्वरूप का त्याग न करने के कारण यद्यपि त्रिकालावस्थायी हैं, तथापि वे सदा एक परिमाण में न रहकर अन्तरंग और बहिरंग कारणों के अनुसार न्यूनाधिक रूप से परिणमन करते रहते हैं। उनमें यह न्यूनाधिकता उनके गुणांशों की अपेक्षा से ही प्राप्त होती है, अन्य प्रकार से नहीं, अतः द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वे अवस्थित और पर्यायार्थिक नय की उपेक्षा से अनवस्थित सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार द्रव्य और उनके प्रदेशों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए। यह भी स्पष्ट है कि द्रव्य के प्रदेशों में न्यूनाधिकता नहीं होती वे जितने हैं सदा काल उतने ही बने रहते हैं, तथापि अवगाहन गुण की अपेक्षा उनके अवगाहन में न्यूनाधिकता आती रहती है। असंख्य प्रदेशी एक ही जीव द्रव्य कभी कीड़ी के शरीर में समा जाता है और कभी फैलकर वह लोकाकाश में बराबर हो जाता है, प्रदेशों में न्यूनाधिकता के नहीं होने पर यहाँ पर भी तारतम्य घटित हो जाता है। इस प्रकार इस कथन से अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय दोनों की सिद्धि हो जाती है।

आलाप पद्धति में लिखा है –

अनाद्यनिघने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जंति निमज्जंति जलकल्लोलवज्जले ॥

धर्माधर्मनभः काल अर्थपर्यायः गोचराः।
व्यञ्जनेन तु सम्बुद्धौ द्वावन्यौ जीव-पुद्गलौ ॥

अनादि-अनन्त द्रव्य में अपनी-अपनी पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं, जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और विनशती रहती हैं।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्य इन चारों द्रव्यों में अर्थ पर्याय ही होती है, किन्तु इनसे भिन्न जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों में व्यञ्जन पर्याय भी होती हैं।

अगुरुलघु गुण का परिणमन स्वभाविक अर्थपर्यायें हैं। वे पर्यायें बारह प्रकार की हैं ६ वृद्धिरूप और ६ हानि रूप। अनंतभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्त गुणवृद्धि ये ६ वृद्धि रूप पर्यायें हैं। अनन्त भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यातगुण हानि, असंख्यातगुणहानि, अनंतगुणहानि ये ६ हानि रूप पर्यायें हैं।

शंका – यदि गुणों का समुदाय ही द्रव्य है तो द्रव्य में जितनी भी पर्यायें होंगी वे सब नियम से गुणपर्याय ही कही जानी चाहिए, द्रव्य पर्याय किसी को भी नहीं कहना चाहिए।

समाधान – यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि गुणत्व धर्म की अपेक्षा यद्यपि सब गुण हैं तो भी उनमें विशेषता है। जैसे उनमें कोई चेतन गुण हैं और कोई अचेतन गुण हैं, वैसे ही वे क्रियावती शक्ति और भाववती शक्ति के भेद से भी दो प्रकार के हैं। उनमें से प्रदेश को या देश परिस्पन्द को क्रिया कहते हैं और शक्ति विशेष को या अविभाग प्रतिच्छेदों के द्वारा होने वाले उनके परिणाम को भाव कहते हैं। इसलिए जितने प्रदेश रूप अवयव होते हैं, उतने द्रव्य-पर्याय कहलाते हैं और जितने गुणांश होते हैं। उतने गुणपर्याय कहे जाते हैं।

गुण नित्य होते हैं कि अनित्य यह विवाद पुराना है, जैन परम्परा इनमें से किसी भी एक पक्ष को स्वीकार नहीं करती है। उनके मत से द्रव्य के समान गुण भी कथंचित् और कथंचित् अनित्य होते हैं, क्योंकि गुण द्रव्य से पृथक् नहीं पाये जाते हैं, इसलिए द्रव्य का जो स्वभाव ठहरता है, गुणों का भी वही स्वभाव प्राप्त होता है ऐसा नहीं होता कि कोई गुण वर्तमान में हो और कुछ काल बाद न रहे, जितने भी गुण होते हैं वे सदा पाये जाता है। उदाहरणार्थ जीव में ज्ञान आदि का पुद्गल में रूप आदि का सदा अन्वय देखा जाता है। ऐसा समय न तो कभी प्राप्त हुआ और न कभी हो सकता है, जब जीव में ज्ञान आदि गुण न रहें और पुद्गल में रूप आदि न रहें। इससे ज्ञात होता है कि गुण नित्य हैं। उनकी यह नित्यता प्रत्यभिज्ञानगम्य है। माना कि विषय भेद से जीव का ज्ञान गुण बदल जाता है। जब वह घट को जानता है तब वह घटाकार हो जाता है और पट को जानते हुए पटाकार, तथापि ज्ञान की धारा नहीं टूटती, इसलिए सन्तान की अपेक्षा वह नित्य ही है। वास्तव में देखा जाए तो नित्य और सन्तान ये एकार्थवाची ही हैं। इनको छोड़कर ध्रुव भी और कुछ नहीं। जैन परम्परा में ऐसा ध्रुवत्व इष्ट नहीं जो सदा अपरिणामी रहे। सांख्य पुरुष को कूटस्थ नित्य मानते हैं सही पर प्रकृति के सम्पर्क से उसे बद्ध जैसा मान लेने पर वह कूटस्थता बन नहीं सकती। यही बात नित्यवादियों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए। इस प्रकार उक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि गुण विविध अवस्थाओं में रहकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, इसलिए तो वह नित्य है। जैसे हरा आम पकने पर पीला हो जाता है, तथापि उससे रंग जुदा नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि वर्ण नित्य है, यही बात सब गुणों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार गुणों की कथंचित् अनित्यता का विचार करते हैं। जैन परम्परा में नित्यता का यह मतलब नहीं कि वह सदा एक सा बना रहे, उसमें किसी प्रकार का भी परिणमन न हो। यह तो समझ में आता है कि किसी भी वस्तु या गुण में विजातीय परिणमन नहीं होता। जीव बदल कर पुद्गल या अन्य द्रव्य रूप नहीं होते। जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल सदा पुद्गल ही। तात्पर्य

यह है कि जो द्रव्य जिस रूप का होता है वैसा ही बना रहता है। जीव का कीड़ी से कुञ्जर होना संभव है पर वह जीवत्व को कभी नहीं छोड़ता, किन्तु प्रत्येक वस्तु या गुण में सजातीय परिणमन भी न माना जाये तो बात समझ में नहीं आती। हम देखते हैं कि हमारी बुद्धि विषय के अनुसार सदा बदलती रहती है। जो वर्तमान में पट को जान रही है वही कालान्तर में घट को जानने लगती है। इसी प्रकार जो आम वर्तमान में हरा है वही कालान्तर में पीला भी हो जाता है। अब जब ये या इस प्रकार के और और परिणमन अनुभव में आते हैं तो फिर गुणों को सर्वथा नित्य कैसे माना जा सकता है अर्थात् गुण कथंचित् अनित्य भी हैं। इस प्रकार यद्यपि गुण कथंचित् नित्यानित्यात्मक सिद्ध होते हैं तथा जो कार्य-कारण में सर्वथा भेद मानते है वे गुणों को सर्वथा नित्य और पर्यायों को सर्वथा अनित्य मानने की सूचना करते हैं, पर उनकी यह सूचना इसलिए ठीक नहीं है कि तत्त्वतः विचार करने पर द्रव्य, गुण और पर्याय सर्वथा पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं होते, किन्तु जैन परम्परा में इन सबमें कथंचित् भेद स्वीकार किया गया है, इसलिए जैसे द्रव्य नित्यानित्य प्राप्त होता है वैसे गुण भी कथंचित् नित्यानित्य सिद्ध होते हैं। यद्यपि द्रव्य से गुण और पर्याय में सर्वथा भेद नहीं है तथापि भेदवादी इनमें भेद मानकर ऐसी आशंका करते हैं कि गुण और पर्याय से पृथक् होने के कारण द्रव्य भले ही नित्यानित्य रही आवे पर इससे गुण नित्यानित्य नहीं प्राप्त होते, किन्तु गुणों से सर्वथा नित्य और पर्यायों को सर्वथा अनित्य मान लेना चाहिए ? पर विचार करने पर यह आशंका भी ठीक प्रतीत नहीं होती, क्योंकि जैन परम्परा में गुण और पर्यायों से द्रव्य को सर्वथा पृथक् को ही द्रव्य माना है। द्रव्य नाम की कोई भी वस्तु गुण और पर्यायों से नहीं माना है, किन्तु समुच्चय रूप से गुण और पर्यायों पृथक् नहीं पाई जाती, इसलिए द्रव्य के नित्यानित्य सिद्ध होने पर उससे अभिन्न गुण भी कथंचित् नित्यानित्य सिद्ध होते हैं। यद्यपि स्थिति ऐसी है, तथापि नैयायिक और वैशेषिक कुछ गुणों को सर्वथा नित्य और कुछ गुणों की सर्वथा अनित्य मानते हैं। उनके मत से कारण द्रव्य के गुण सर्वथा नित्य है और कार्य द्रव्य के गुण अनित्य हैं। अपने इस मत की पुष्टि में उनका कहना है कि कच्चे घड़े को अग्नि में पकाने पर उसके पहले के गुण नष्ट होकर नये गुण उत्पन्न होते हैं। वैशेषिक तो उससे एक कदम आगे बढ़कर यहाँ तक कहते हैं कि अग्नि में घड़े के पकाने पर अग्नि की ज्वालाओं के कारण अवयवों के संयोग का नाश हो जाने पर असमवायी करण के नाश से श्याम घट नष्ट हो जाता है, फिर परमाणुओं में रक्त रूप की उत्पत्ति होकर द्व्यणुक आदि के क्रम से लाल घड़े की उत्पत्ति होती हैं। पर विचार करने पर उनका मत कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि घड़े की कच्ची अवस्था बदलकर पकी अवस्था के उत्पन्न होते समय यदि घड़े के मिट्टीपने का नाश माना गया होता तो कथंचित् उक्त कथन घटित होता, किन्तु जब पाक अवस्था में मिट्टी का नाश नहीं होता है तब मिट्टी में रहने वाले गुणों का नाश तो बन ही नहीं सकता है, क्योंकि किसी वस्तु का अपने गुणों को छोड़कर और दूसरा कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए गुण कथंचित् नित्यानित्य है यही सिद्ध होता है। इस पर फिर भी भेदवादियों का कहना है कि द्रव्य के प्रदेश भिन्न हैं और उनमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण भिन्न हैं, इसलिए द्रव्य में जैसे उत्पादादिक तीन घटित तो जाते हैं, वैसे वे गुणों में घटित नहीं होते हैं। पर इस व्यवस्था के मानने पर दो आपत्तियाँ आती हैं प्रथम तो ऐसा मानने से गुणों में क्षणिकता का प्रसंग आता है, क्योंकि सर्वथा भिन्न दो वस्तुओं के संयोग को सर्वथा नित्य मानने में विरोध आता है। यदि कहा जाए कि इस

प्रकार यदि गुणों में क्षणिकता आती है तो रही आवे इसमें क्या आपत्ति है। पर विचार करने पर यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से इस कथन में विरोध आता है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से कालान्तरावस्थायी रूप से ही गुणों की प्रतीति होती है, अतः गुण क्षणिक होते हैं यह बात अनुभव से परे है। तथा दूसरी आपत्ति यह आती है कि यदि गुणों को द्रव्य से भिन्न माना जाए तो फिर एक साथ एक वस्तु में अनेक गुण नहीं प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु हम देखते हैं कि आग में एक साथ रूप आदि अनेक गुण पाये जाते हैं, अतः उक्त दोष न प्राप्त हों, इसलिए गुणों को द्रव्य से कथंचित् अभिन्न मानकर द्रव्य के समान गुणों में भी उत्पादादिक तीन घटित कर होने चाहिए।

पं० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने अपने पुस्तक **जैनदर्शन** के पृ०१४४ में लिखा है कि प्रत्येक द्रव्य सामान्यतया यद्यपि अखण्ड है, परन्तु वह अनेक सहभावी गुणों का भिन्न आधार होता है। अतः उसमें गुणकृत विभाग किया जा सकता है। एक पुद्गल परमाणु युगपत् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुणों का आधार होता है। प्रत्येक गुण का भी प्रतिसमय परिणमन होता है। गुण और द्रव्य का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्य से गुण पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वह अभिन्न है और संज्ञा, संख्या प्रयोजन आदि के भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जाता है, अतः वह भिन्न है। इस दृष्टि से द्रव्य में जितने गुण हैं, उतने उत्पाद और व्यय प्रतिसमय होते हैं। हर गुण अपनी पूर्व पर्याय को धारण करता है, पर वे सब हैं अपृथक्सत्ताक ही, उनकी द्रव्य सत्ता एक है। बारीकी से देखा जाए तो पर्याय और गुण को छोड़कर द्रव्य का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, अर्थात् गुण और पर्याय ही द्रव्य हैं और पर्यायों में परिवर्तन होने पर भी जो एक अविच्छिन्नता का नियामक अंश है, वही तो गुण है। हाँ गुण अपनी पर्यायों में सामान्य एकरूपता के प्रयोजन होते हैं। जिस समय पुद्गलाणु में रूप अपनी किसी नई पर्याय को लेता है, उसी समय रस, गंध और स्पर्श आदि भी बदलते हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्य में गुणकृत अनेक उत्पाद और व्यय होते हैं। ये सब उस गुण की सम्पत्ति या स्वरूप है।

पंचास्तिकाय में लिखा है –

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुद सिद्धो य।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा, सिद्धत्ति णिद्दिट्ठो ॥ ५० ॥

द्रव्य और गुण एक अस्तित्व से रचित हैं, इसलिए उनकी जो अनादि अनंत सहवृत्ति (एक साथ रहना) वह वास्तव में समवर्तीपन है, वही युतसिद्धि के कारणभूत अस्तित्वांतर का अभाव होने से अयुतसिद्धता है, इसलिए समवर्तित्वस्वरूप समय वाले द्रव्य और गुणों को अयुतसिद्ध ही है, पृथक्ता नहीं है।

जैन मत में समवाय उसी को कहते हैं जो एक साथ रहते हों अर्थात् जो किसी अपेक्षा एक रूप से अनादिकाल से तादात्म्य सम्बन्ध या न छूटने वाला सम्बन्ध रखते हों ऐसा साथ वर्तन गुण और गुणी का होता है। इससे दूसरा कोई अन्य से कल्पित समवाय नहीं है। यद्यपि गुण और गुणी में संज्ञा, लक्षण प्रयोजनादि की अपेक्षा भेद है, तथापि प्रदेशों का भेद नहीं है, इसमें से अभिन्न हैं तथा जैसे दण्ड और

दण्डी पुरुष का भिन्न-भिन्न प्रदेशपन रूप भेद है, तथा वे दोनों मिल जाते हैं ऐसा भेद गुण और गुणी में नहीं है, इसमें उनके अयुत सिद्धपना या एकपना कहा जाता है। इस कारण द्रव्य और गुणों का अभिन्नपना सदा से सिद्ध है।

अर्थ अनेकधर्मात्मक है। उसका अखण्डरूप से ग्रहण करना कदाचित् संभव है, पर कथन या व्यवहार तो उसके किसी खाश रूप धर्म से ही होता है। इसी व्यवहारार्थ भेद रूप से विवक्षित धर्म को गुण कहते हैं। गुण द्रव्य का ही परिणमन है, वह स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। चूंकि गुण पदार्थ के धर्म हैं, अतः ये स्वयं निर्गुण-गुण-शून्य होते हैं। यदि गुण स्वतंत्र पदार्थ माना जाये और वह भी द्रव्य से सर्वथा भिन्न, तो अमुक गुण ज्ञान अमुक गुणी आत्मा से ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं इसका नियामक कौन होगा। इसका नियामक तो यही है कि ज्ञान का आत्मा से ही कथंचित्तादाम्य है, अतः वह आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं। वैशेषिक मत में एक गन्ध, दो रूप आदि प्रयोग नहीं हो सकेंगे; क्योंकि गन्ध, रूप तथा संख्या आदि सभी गुण हैं और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। यदि आश्रयभूत द्रव्य की संख्या का एकार्थ समवाय सम्बन्ध के कारण रूपादि में उपचार करके 'एक गन्ध' इस प्रयोग का निर्वाह किया जाएगा तो एक द्रव्य में रूपादि बहुत गुण हैं, यह प्रयोग असंभव हो जायेगा; क्योंकि रूपादि बहुत गुणों के आश्रयभूत द्रव्य में तो एकत्व संख्या है, बहुत्व संख्या नहीं। अतः गुण को स्वतंत्र पदार्थ न मानकर द्रव्य का ही धर्म मानना चाहिए। धर्म अपने आश्रयभूत धर्मी की अपेक्षा से धर्म होने पर भी अपने में रहने वाले अन्य धर्मों की अपेक्षा से धर्मी भी हो जाता है। जैसे रूपगुण आश्रयभूत घट की अपेक्षा से यद्यपि धर्म है पर अपने में पाये जाने वाले एकत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा धर्मी है। अतः जैन सिद्धान्त में धर्मधर्मिर्भाव के अनियत होने के कारण एक गन्ध दो रूप आदि प्रयोग बड़ी आसानी से बन जाते हैं।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य से समवाय को पृथक् माना गया है। जैनदर्शन में समवाय तो द्रव्य की गुणादि पर्याय है। यदि गुणादि को द्रव्य से भिन्न मानेंगे तो द्रव्य में अद्रव्यत्व का प्रसंग आयेगा, क्योंकि गुणों को छोड़कर द्रव्य नहीं रहता है।

जैनदर्शन में वस्तु को अनेकान्तात्मक माना गया है। वहाँ न तो सर्वथा भेदवाद का स्वीकार किया गया है न ही अभेदवाद का बल्कि कथंचित् भेदाभेद वाद को माना गया है, अतः द्रव्य, गुण, पर्याय में वह सिद्ध है।

११
सत्ता का द्रव्यपर्यायात्मक पर्याय

राजकुमारी जैन

हमें जगत् के विभिन्न पदार्थ निरन्तर परिवर्तनशील स्वरूप में ज्ञात होते हैं। हम देखते हैं कि जो आम पहले हरा और खट्टा होता है, वही आम कुछ दिन पश्चात् पक कर पीला और मीठा हो जाता है, वही आम और एक दो दिन पश्चात् सड़ जाता है, उसका पीला रंग काले रंग में तथा मीठा स्वाद कड़वे स्वाद में परिवर्तित हो जाता है। हमारा यह अनुभव एक ही वस्तु के प्रति 'यह वही है' तथा 'यह वह नहीं है' रूप परस्पर विरोधी प्रतीतियों को समाहित किये हुए है तथा यह उस वस्तु के परिवर्तनशील और स्थायी स्वरूप की ओर संकेत कर रहा है। अनुभव द्वारा ज्ञात हो रहा पदार्थों का यह सप्रतिपक्षी विशेषताओं से युक्त स्वरूप दार्शनिकों के लिये प्राचीन काल से ही गम्भीर समस्या रही है। दर्शन के इतिहास के प्रारम्भ से ही भारतीय और यूनानी सभी दार्शनिक इन प्रश्नों से जूझते रहे हैं कि परिवर्तन का क्या स्वरूप है, परिवर्तन की प्रक्रिया के आधार रूप में कोई एक स्थायी सत्ता विद्यमान है अथवा नहीं, यदि है तो वह स्थायी सत्ता स्वयं परिवर्तनशील है अथवा नहीं, यदि वह स्वयं परिवर्तनशील है तो फिर वह 'एक स्थायी सत्ता' किस प्रकार हो सकती है, यहि वह स्वयं परिवर्तन रहित है तो फिर परिवर्तन किसका हो रहा है, तथा परिवर्तन से उस स्थायी सत्ता का क्या सम्बन्ध है ? यदि परिवर्तन की प्रक्रिया के आधार रूप में कोई स्थायी तत्त्व विद्यमान नहीं है तो परिवर्तन को एक 'प्रक्रिया' किस प्रकार कहा जा सकता है, ऐसे अनेक प्रश्नों के समाधान के प्रयास के रूप में जैन दार्शनिक अपनी द्रव्य की अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार जगत् के प्रत्येक पदार्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। इसलिए जो भी अस्तित्ववान् है, वह द्रव्य है तथा वह उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त तथा गुण पर्यायों का आश्रय है।[१]

द्रव्य शब्द 'द्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है द्रवित होना, गमन करना।[२] इस मूल धातु से व्युत्पत्ति के अनुसार द्रव्य को परिभाषित करते हुए **कुन्दकुन्दाचार्य** कहते हैं कि जो उन-उन सद्भाव पर्यायों को द्रवित होता है, गमन करता है, उसे द्रव्य कहते हैं तथा यह सत्ता से अभिन्न है।[३] **जैनेन्द्र व्याकरणकार** कहते हैं **"द्रव्य भव्ये"**[४] अर्थात् जो निरन्तर नये स्वरूप में बनने, स्वरूप लाभ करने की योग्यता से सम्पन्न हो, निरन्तर भवन शील हो वह द्रव्य है। इस प्रकार जैन आचार्यों के अनुसार द्रव्य एक ऐसी ध्रुव सत्ता

है, जो निरन्तर द्रवणशील, परिणमनशील, परिवर्तनशील है। वह सामान्य रूप से सदैव वही रहते हुए प्रतिक्षण पूर्ववर्ती विशेष स्वरूप का परित्याग कर उत्तरवर्ती विशेष स्वरूप को प्राप्त करने की प्रक्रिया में विद्यमान शाश्वत सत्ता है और इसलिए सदैव उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। जो नहीं है, उसकी उत्पत्ति उत्पाद, जो है उसका अभाव व्यय और निरंतर अवस्थिति ध्रौव्य कहलाता है।[५] द्रव्य के समय विशेष में विद्यमान उत्पत्ति विनाशवान विशेष स्वरूप को पर्याय[२०] तथा निरंतर नयी पर्याय की प्राप्ति रूप से घटित हो रही परिवर्तन की प्रक्रिया के आधार रूप में विद्यमान अन्वयी (सदैव वही रहने वाले) और परिणमनशील सामान्य स्वरूप को द्रव्य कहा जाता है।[११] इस प्रकार द्रव्य काल क्रम से निरन्तर नयी पर्याय रूप से परिणमित हो रहा शाश्वत तत्त्व है और पर्याय उस शाश्वत तत्त्व का समय विशेष में विद्यमान विशिष्ट स्वरूप है।

द्रव्य का विशेष पर्यायों रूप से परिणमन कारणात्मक नियमों के अनुसार होता है। इसे स्पष्ट करते हुए **अकलंकदेव** कहते हैं, "जो स्व प्रत्यय (उपादान योग्यता) और प्रत्यय (निमित्त कारण) के सद्भावानुसार उत्पत्तिविनाशवान पर्यायों को प्राप्त होता है, पर्यायों से प्राप्त होता है, उसे द्रव्य कहा जाता है।"[६] इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार उड़द अपनी सीझ सकने की उपादान योग्यता तथा उन्हें खोलते हुए पानी में देर तक डाले जाने रूप बाह्य परिस्थितियों के सद्भाव पूर्वक ही अपने 'कच्चे उड़द' रूप पूर्ववर्ती अवस्था का परित्याग कर 'सीझे हुए उड़द' रूप उत्तरवर्ती अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं, यदि उनमें सीझने की उपादान योग्यता का अभाव हो अथवा उन्हें खौलते हुए पानी में देर तक डाले जाने रूप बाह्य कारण की प्राप्ति नहीं हो तो कच्चे उड़द कभी सीझे हुए उड़द रूप पर्याय को प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार द्रव्य का समय विशेष में एक विशेष पर्याय रूप से परिणमन उसकी उपादान योग्यता और निमित्त कारणों के सद्भावानुसार होता है।

द्रव्य की प्रतिसमय एक विशेष पर्याय रूप से उत्पत्ति की उपादान योग्यता द्रव्य का गुणपर्यायात्मक स्वरूप है। उसके इस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए **अकलंकदेव** कहते हैं, "**द्रव्य** गुणपर्यायवान होता है। ये विज्ञानादि गुण और पर्याय द्रव्य में सहवर्ती और क्रमवर्ती रूप से विद्यमान हैं। ये शक्ति-व्यक्ति स्वरूप हैं तथा इनमें रसादि के समान भेदाभेद सम्बन्ध है।[७] इसकी व्याख्या करते हुए **वादिराज** कहते हैं "द्रव्य की सहवर्ती (द्रव्य में सदैव युगवत् विद्यमान) विशेषताएँ, यथा-आत्मा में युगपत् विद्यमान ज्ञानदर्शन सुख वीर्यादि तथा पुद्गल में युगपत् विद्यमान रूप रसगन्धस्पर्शादि गुण हैं। आत्मा में क्रमवर्ती रूप से विद्यमान हर्ष, विषाद आदि अथवा पुद्गल में क्रमवर्ती रूप से विद्यमान कोश, कुशूल आदि विशेषताएँ पर्याय हैं। 'ये विज्ञानादि गुण पर्याय शक्ति-व्यक्ति स्वरूप हैं के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "जो व्यंजित होता है, अभिव्यक्त होता है, वह व्यक्ति है। गुणों का वर्तमानकालीन व्यक्त स्वरूप ही व्यक्ति है। कार्योत्पादन की सामर्थ्य को शक्ति कहा जाता है।"[८] **वादिदेव** कहते हैं कि वर्तमान समय में घटज्ञानादि रूप से ज्ञान पर्याय की योग्यता को ज्ञान का शक्ति रूप कहा जाता है।[९]

गुण द्रव्य की अनिवार्य विशेषताएँ हैं। ये द्रव्य को गुणती हैं अर्थात् विशेषित करती हैं, उसे अन्य द्रव्यों से पृथक् एक निश्चित विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती हैं।[१०] ये द्रव्य का ऐसा शाश्वत् और सामान्य

स्वरूप हैं, जिसमें अनन्त विशेष स्वरूपों में अभिव्यक्त होने की सामर्थ्य तथा कारणात्मक नियमों के अनुसार सदैव किसी विशेष स्वरूप को प्राप्त करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। अपनी इस सामर्थ्य और प्रवृत्ति के कारण गुण सामान्य रूप से सदैव वही रहते हुए एक विशेष स्वरूप से नष्ट होकर, दूसरे विशेष स्वरूप से उत्पन्न होते हुए प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है।[११] गुण के ही समय विशेष में विद्यमान व्यक्ति स्वरूप पर्याय कहा जाता है तथा विशेष पर्याय रूप से उत्पत्तिविनाशवान होते हुए भी सामान्य रूप से उत्पत्तिविनाशरहित होने के कारण ये द्रव्य का परिणामी नित्य स्वरूप हैं। उदाहरण के लिए आम पर्याय में अवस्थित रंगगन्धरसस्पर्शमय पुद्गल द्रव्य का रंग गुण रंगत्व सामान्य रूप से निरन्तर विद्यमान रहता हुआ हरित रंग रूप पूर्ववर्ती पर्याय रूप से नष्ट होकर, पीत रंग रूप उत्तरवर्ती पर्याय को प्राप्त करता है, कुछ समय पश्चात् वही रंगत्व सामान्य पीत रूपता का परित्याग कर कृष्णरूपता को प्राप्त करता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीन अलग-अलग घटनाएं न होकर द्रव्य का एक ही समय में विद्यमान स्वरूप हैं। 'पीत रंग' रूप नवीन पर्याय की उत्पत्ति ही 'हरित रंग' रूप पूर्ववर्ती पर्याय का विनाश है, तथा यही इन दोनों पर्यायों के आधार रूप में निरन्तर अवस्थित रंगत्व सामान्य की ध्रुवता है। पुद्गल द्रव्य के रंग गुण के समान ही एक द्रव्य के समस्त गुण सदैव सामान्य विशेषात्मक और उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक स्वरूप से युक्त होते हैं।

गुण का स्वरूप सामान्य और विशेष, उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य, शक्ति और व्यक्ति, अन्वय और व्यतिरेक रूप सप्रतिपक्षी धर्मों से युक्त है। इन सप्रतिपक्षी धर्मों में तात्विक रूप से अभेद होने पर भी स्वभावगत अन्तर है। इसलिए इनका पृथक्-पृथक् ज्ञान कराने के उद्देश्य से उनमें शाब्दिक और लाक्षणिक दृष्टि से भेद किया जाता है। गुण के ही सामान्य, शक्तिमय, ध्रुव और अन्वयी स्वरूप को गुण तथा उसके विशेष व्यक्त, उत्पत्तिविनाशवान और व्यतिरेकी स्वरूप को पर्याय कहा जाता है। इस भेदात्मक अर्थ में गुण और पर्याय शब्दों का प्रयोग करते हुए **आचार्य अमृतचन्द्र** कहते हैं "अनेकान्तात्मक वस्तु के अन्वयी विशेष गुण और व्यतिरेकी विशेष पर्याय कहलाते हैं। ... सत्ता नित्यानित्य स्वभावी होने के कारण उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। गुण उसका ध्रुव स्वरूप तथा पर्यायें उसका उत्पादव्ययात्मक स्वरूप हैं। यह पूर्व पर्याय से विनाश को प्राप्त होती हुई उत्तर पर्याय रूप से उत्पाद को प्राप्त होती हुई तथा गुण रूप से ध्रुव होती हुई सदैव उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है।[१२]

द्रव्य, गुण और पर्याय में संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद होते हुए भी तात्विक रूप से अभेद है। ये तीन पृथक्-पृथक् सत्तायें नहीं हैं। इसके विपरीत गुणपर्यायात्मक द्रव्य एक सत्ता हैं। **अमृतचन्द्राचार्य** कहते हैं, "यह अस्तित्व, जो कि द्रव्य का स्वभाव है, जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में परिसमाप्त हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्येक में पृथक्-पृथक् रूप से परिसमाप्त नहीं होते, क्योंकि इनकी सिद्धि परस्पर होती है। (द्रव्य की सिद्धि गुण और पर्यायों से, गुण की सिद्धि द्रव्य और पर्याय से तथा पर्याय की सिद्धि द्रव्य और गुण से होती है।) इसलिए ये एक सत्ता हैं।[१३]

द्रव्य और गुण में भेदाभेद सम्बन्ध

एक द्रव्य अनेक गुणात्मक सत्ता है। गुण द्रव्य की आत्मा हैं, स्वभाव हैं तथा द्रव्य अपने गुणों

के अतिरिक्त कुछ नहीं है। लेकिन यह परस्पर निरपेक्ष अनेक गुणों का समूह मात्र या उनसे भिन्न उनका आश्रय मात्र न होकर, उनमें व्याप्त एक अखण्ड सत्ता है। वस्तुतः एक द्रव्य के नाम, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा परस्पर भिन्न-भिन्न अनेक स्वभाव गुण हैं, तथा ये अनेक गुण ही परस्पर तादात्म्य (तादात्म्य=तत्+आत्म्य) सम्बन्ध में सम्बन्धित होने के कारण एक दूसरे की आत्मा या स्वभाव होते हुए[१४] एक द्रव्यरूपता को प्राप्त कर रहे हैं।[१५] अनेक गुणों के ही परस्पर एक दूसरे का स्वरूप होते हुए एक द्रव्य होने तथा द्रव्य और गुण के एक सत्ता होने के कारण वे अन्योन्यवृत्ति स्वरूप हैं अर्थात् एक दूसरे में रहते हैं।[१६] एक द्रव्य अपने समस्त गुणों में तथा एक गुण अपने आश्रयभूत सम्पूर्ण द्रव्य में अर्थात् द्रव्य के समस्त गुणों में रहता है। इस प्रकार द्रव्य और गुण दो पृथक्-पृथक् सत्ता न होकर एक वस्तु हैं। **कुन्दकुन्दाचार्य** कहते हैं, "द्रव्य के बिना गुण नहीं होते तथा गुण के बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिए द्रव्य और गुण परस्पर अभिन्न है।"[१७] इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "रूपरसगन्धस्पर्श ही पुद्गल परमाणु कहलाते हैं। ये रूपरसादि अपने विशेष स्वरूप में परस्पर भिन्न-भिन्न होते हुए भी द्रव्य रूप से अभिन्न है।"[१८] इसी प्रकार, "जीव में निबद्ध ज्ञान दर्शन भी परस्पर अभिन्न हैं। इन्हें भाषा द्वारा ही अलग किया जा सकता है, स्वभावतः नहीं।"[१९] इन पदों की व्याख्या करते हुए **अमृतचन्द्राचार्य** कहते हैं "जिस प्रकार पुद्गल से पृथक् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं होते, उसी प्रकार गुणों से पृथक् द्रव्य नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य और गुण में आदेशवशात् कथंचित् भेद हैं तथापि ये एक अस्तित्व में नियत होने के कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ते, इसलिए इनमें वस्तु रूप से अभेद भी हैं।"[१६] द्रव्य और गुण में संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भेद होता है। द्रव्य एक होता है, जबकि गुण अनेक होते हैं, द्रव्य का नाम, यथा-पुद्गल भिन्न होता है तथा गुणों का नाम रूप, रस आदि भिन्न होते हैं, इनके लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं। इन नाम, लक्षणादि की अपेक्षा भेद होने पर भी द्रव्य और गुण में तात्विक रूप से अभेद है।

द्रव्य और गुण में भेदाभेद सम्बन्ध को हम निम्न दृष्टान्त द्वारा समझ सकते हैं। जिस प्रकार रंग और आकार पुद्गल स्कंध के ऐसे दो स्वभाव हैं जो नाम, लक्षणादि की अपेक्षा भिन्न तथा तात्विक रूप से अभिन्न हैं; रंग हरा, नीला, आदि रूप तथा आकार गोल, चौकोर आदि रूप होता है। रंग के हरे, नीले, आदि विशिष्ट स्वरूप से उसके आकार का तथा आकार के गोल चौकोर आदि विशिष्ट स्वरूप से स्कंध के रंग का हरा, नीला आदि विशिष्ट स्वरूप निर्धारित नहीं होता। इस स्वरूप भेद और इसके कारण नाम, लक्षणादि की अपेक्षा भेद होने पर भी रंग और आकार अपृथक् हैं तथा ये एक दूसरे का स्वरूप होते हुए रंग-आकारमय एक सत्ता हैं। आकार सदैव किसी विशेष रंगमय होकर ही तथा रंग किसी विशेष आकार में अवस्थित होकर ही विद्यमान होता है तथा रंग रहित आकार तथा आकार रहित रंग की सत्ता कभी नहीं होती। रंग और आकार रूप दो भिन्न-भिन्न स्वभावों के रंग-आकारमय एक अभिन्न सत्ता के ही प्रत्येक वस्तु के परस्पर भिन्न अनेक सहवर्ती स्वभाव-गुण ही परस्पर एक दूसरे का स्वरूप होते हुए एक अभिन्न सत्ता-एक द्रव्य हैं।

सत्ता का द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप

एक द्रव्य का अनेक गुणात्मक सामान्य स्वरूप अनादि अनन्त और कारणात्मक नियमों से परे है। यह द्रव्य का स्वतः सिद्ध स्वभाव है, जो अपने शक्ति-व्यक्तिमय स्वरूप के कारण द्रव्य की समस्त पर्यायों में व्याप्त होकर, उन पर्यायों की एक द्रव्यरूपता को स्थापित कर रहा है। सत्ता के इस विशेष पर्यायों रूप से निरन्तर परिणमनशील शाश्वत और सामान्य स्वरूप को द्रव्य या उर्ध्वता सामान्य भी कहा जाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, द्रव्य शब्द का व्युत्पत्ति लक्ष्य अर्थ है – जो काल क्रम से होने वाली पर्यायों रूप से द्रवित होता है, गमन करता है, वह द्रव्य है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार निरन्तर नयी पर्याय रूप से द्रवणशील, परिणमनशील त्रैकालिक वस्तु अंश को द्रव्य कहा जाता है। यह उन सभी पर्यायों का अन्वयी और सामान्य स्वरूप होने के कारण उनका ऊर्ध्वता सामान्य स्वरूप भी है।[१९] इस शाश्वत्, सामान्य और परिणमनशील सत्ता के कालक्रम से हो रहे परस्पर विलक्षण उत्पत्तिविनाशवान अनेक परिणाम पर्याय कहलाते हैं।[२०] परिवर्तन, परिणनम, परिणाम पर्याय से सब पर्यायवाची शब्द हैं। इस प्रकार एक परिणामी नित्य सत्ता के सामान्य, ध्रुव, अन्वयी और शक्तिमय स्वरूप को द्रव्य कहा जाता है तथा उसके विशेष, उत्पत्तिविनाशवान, व्यतिरेकी और व्यक्त स्वरूप पर्याय कहलाते हैं।

द्रव्य और पर्याय में शाब्दिक और लाक्षणिक दृष्टि से भेद होते हुए भी तात्विक रूप से अभेद है। ये परस्पर एक दूसरे की आत्मा या स्वभाव होते हुए एक द्रव्यपर्यायात्मक सत्ता हैं। अनेक गुणात्मक द्रव्य अपने अनन्तशक्तिसम्पन्न, परिणमनशील सामान्य स्वभाव के कारण सदैव विशेष पर्याय स्वरूप होकर ही विद्यमान होता है तथा पर्याय रहित द्रव्य की सत्ता कभी नहीं होती। साथ ही द्रव्य रहित पर्याय की सत्ता भी नहीं होती। एक पर्याय परतन्त्र होती है। कुछ होता है, जो रूपान्तरित होता है, परिणमित होता है। इसलिए एक पर्याय की उत्पत्ति द्रव्य में ही, 'द्रव्य से ही होती है तथा द्रव्य रहित पर्याय की सत्ता नहीं होती।[२१] एक द्रव्य भी सदैव किसी विशेष पर्याय में ही विशेष पर्याय रूप से ही प्राप्त होता है। इसलिए एक पर्याय ही अनिवार्यता द्रव्यात्मक होती है। द्रव्य शक्ति-रूप, सम्भाव्यता रूप होता है तथा शक्ति अपने आप में न रहकर शक्तिमान व्यक्ति में ही रहती है।[२२] इसलिए एक समय विशेष में विद्यमान सामान्यविशेषात्मक व्यक्ति ही वास्तविक सत्ता है। यह अपने सामान्य स्वरूप की एक विशेष अभिव्यक्ति-एक पर्याय मात्र नहीं है, बल्कि उसका अनेक गुणात्मक सामान्य स्वरूप अपनी समस्त सम्भावनाओं और परिणमनशील प्रवृत्ति के साथ उस पर्याय का स्वरूप है। इसलिए वह पर्याय एक क्षणिक व्यक्ति मात्र न होकर उत्तरवर्ती पर्यायों रूप से परिवर्तन की सामर्थ्य और प्रवृत्तिमय द्रव्य भी है। अपने इसी द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप के कारण वस्तु प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। वह उत्तरवर्ती क्षण में द्रव्य रूप से वही रहते हुए पूर्वपर्याय रूप से नष्ट होकर नयी पर्याय रूप से उत्पन्न हो रही है। उदाहरण के लिए एक समय विशेष में विद्यमान मृत्तिका कण अपने मृतिकात्व सामान्य की एक विशेष अभिव्यक्ति होने के साथ ही साथ उत्तरवर्ती पर्याय रूप से परिणमनशील द्रव्य भी हैं। अपने इस द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप के कारण वे मृत्तिकाकण उत्तरवर्ती क्षण में जल का संयोग होने पर अपने मृत्तिकात्व सामान्य को नहीं छोड़ते हुए कण से नष्ट होकर पिण्ड रूप से उत्पन्न होते हैं। कालान्तर में यह पिण्ड पर्याय विशिष्ट

मृतिका द्रव्य अग्नि, दण्ड, चक्र, कुम्हार आदि निमित्त कारणों की सहायता से पिण्ड रूप से नष्ट होकर क्रमशः स्थास, कोश, कुशूल रूप से परिवर्तित होता हुआ घटरूपता को प्राप्त करता है। इस प्रकार एक स्थायी मृतिका द्रव्य अपने परिवर्तनशील स्वभाव के कारण अनेक क्रमवर्ती पर्यायों स्वरूप होता है। ये कण, पिण्डादि मृत्तिका द्रव्य के कालक्रम से हो रहे परस्पर विलक्षण उत्पत्तिविनाशवान अनेक स्वभाव हैं, जो परस्पर सत्ताएं न होकर एक स्थायी मृत्तिका द्रव्य-एक सत्ता हैं। मिट्टी के कण, पिण्डादि पर्यायें मृत्तिकामय ही है। मृतिकाल सामान्य स्वरूप की अपेक्षा ये पर्यायें ही ध्रुव हैं, क्योंकि इस स्वरूप की अपेक्षा ये निरन्तर विद्यमान हैं। साथ ही कण, पिण्डादि पर्यायों की अपेक्षा 'मिट्टी ही उत्पत्ति विनाशवान है। वह जिस समय जिस पर्याय में अवस्थित है, उसी रूप है तथा उस रूप से नष्ट होकर ही नवीन विशेष स्वभाव को प्राप्त करती है। जो मिट्टी कण रूप से अवस्थित है, उसमें मिट्टी मात्र से समान रूप से पायी जाने वाली विशेषताओं का सद्भाव होने के साथ ही साथ कण रूप विशेष स्वरूप के अनुरूप सामर्थ्य भी है। जैसे उसमें अपने में बोये गये बीज को हवा, पानी, धूप आदि की सहायता से अंकुरित करने की सामर्थ्य है, लेकिन जब वही मिट्टी कण रूप से नष्ट होकर घटरूपता को प्राप्त कर लेती है तो उसकी यह सामर्थ्य समाप्त हो जाती है तथा उसमें जल धारण करने की सामर्थ्य रूप नवीन क्षमता की उत्पत्ति होती है।

मिट्टी अपने आप में मूल द्रव्य न होकर अनेक पुद्गल परमाणुओं के संयोग से निर्मित दीर्घकालिक व्यञ्जन पर्याय है। जिस प्रकार यह कण, पिण्डादि अनेक क्रमवर्ती पर्यायों रूप से भवनशील एक अन्वयी द्रव्य है; वह उन सभी पर्यायों का ऊर्ध्वता सामान्य स्वरूप है तथा कण, पिण्डादि उस सामान्य स्वरूप के कालक्रम से उत्पन्न नष्ट हो रहे अनेक विलक्षण स्वभाव हैं; उसी प्रकार जीव, पुद्गलादि प्रतिसमय सामान्यविशेषात्मक, उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ता है। सामान्य स्वरूप की अपेक्षा वे ध्रुव या अविनाशी हैं, क्योंकि इस स्वरूप की अपेक्षा न ही उनकी कभी उत्पत्ति हुई है और न ही कभी विनाश होगा तथा विशेष स्वरूप की अपेक्षा वे प्रतिसमय उत्पत्तिविनाशवान है।[२३] इस अपेक्षा से उनमें प्रति समय पूर्व स्वरूप का व्यय तथा नवीन स्वरूप की उत्पत्ति हो रही है। (द्रव्य की एक समयवर्ती सूक्ष्म पर्याय को अर्थ पर्याय कहा जाता है।) एक उत्पत्तिविनाश रहित सामान्य स्वभावी द्रव्य में प्रतिक्षण घटित हो रही इस उत्पत्तिविनाश की प्रक्रिया के कारण वह शाश्वत द्रव्य अनन्त पर्यायात्मक सत्ता है।

बौद्ध मत : उत्पाद व्यय ही सत्ता का स्वरूप

बौद्ध उपर्युक्त सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि अविनाशिता और विनाशवानता परस्पर विरोधी धर्म होने के कारण एक ही सत्ता का स्वरूप नहीं हो सकते। जैन दार्शनिक द्रव्य को सामान्य रूप से अविनाशी और विशेष रूप से विनाशवान कहते हैं, लेकिन जब द्रव्य और पर्याय को अन्योन्यात्मक कहा जाता है तो द्रव्य से अभिन्न होने के कारण द्रव्य के समान ही पर्याय भी अविनाशी होगी अथवा पर्याय के विनाशवान होने के कारण उससे अभिन्न द्रव्य की विनाशवानता भी सिद्ध होगी। इस प्रकार द्रव्य और पर्याय में अभेद होने पर या तो वस्तु सम्पूर्णतः विनाशवान ही होगी या अविनश्वर ही होगी। यदि इनमें भेद स्वीकार किया जाये तो द्रव्य और पर्याय एक सत्ता के परस्पर निरपेक्ष दो अंश होंगे तथा पर्याय मात्र उत्पाद व्यय स्वरूप और द्रव्य मात्र ध्रुव ही होगा। ऐसी स्थिति में वस्तु सम्पूर्णतः उत्पादव्यय

ध्रौव्य स्वरूप नहीं हो सकेगी।[२४] इस प्रकार जो क्रमवर्ती पर्यायें अन्योन्याभाव रूप हैं, उनमें एक द्रव्यरूपता सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु भेद-अभेद, एक-अनेक आदि द्विरूपता से युक्त नहीं हो सकती।[२५]

वस्तुतः क्षणिक पदार्थ की ही सत्ता है। जो भी सत् है वह मात्र एक क्षणस्थायी है तथा अगले क्षण उसका अनिवार्यतया विनाश हो जाता है। यदि ऐसा न मानकर पदार्थ को अनेक क्षणस्थायी या शाश्वत स्वीकार किया जाये तो प्रश्न उठता है कि नष्ट होना वस्तु का स्वभाव है अथवा नहीं ? यदि है तो अगले क्षण उसका विनाश अवश्यसम्भावी है, यदि नहीं है तो फिर उसे कोई भी नष्ट नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में वस्तु सदैव अविनाशी ही रहनी चाहिए तथा उसका विनाश असम्भव होना चाहिए।[२६] सत्ता नित्य नहीं हो सकती, क्योंकि सत् वही होता है, जो अर्थक्रियाकारी अर्थात् कार्योत्पादन की सामर्थ्य से सम्पन्न हो।[२७] कार्योत्पत्ति उपादान कारण के विनाश पूर्वक होती है। जैसे बीज से अंकुर की उत्पत्ति बीज के विनाश पूर्वक होती है। नित्य पदार्थ की सत्ता नहीं है, क्योंकि वह परिवर्तन रहित होने के कारण अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकता। यह सामर्थ्य क्षणिक पदार्थ में ही विद्यमान है और इसलिए क्षणिक पदार्थ की ही सत्ता है।[२८]

प्रत्यक्ष द्वारा हमें पूर्णरूपेण विलक्षण क्षणिक पदार्थों का ही ज्ञान होता है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा हम घट ज्ञान, पट ज्ञान आदि प्रतिक्षणवर्ती तथा परस्पर विलक्षण ज्ञानों को ही जानते हैं, तथा इन क्षणिक ज्ञानों में व्याप्त एक अन्वयी आत्मा द्रव्य हमें कभी ज्ञात नहीं होता। इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा हमें जगत की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील स्वरूप में ज्ञात होती है तथा हमें कभी किसी नित्य सत्ता की उपलब्धि नहीं होती। परिवर्तन पूर्णक्षणवर्ती पदार्थ के विनाशपूर्वक उत्तरक्षणवर्ती पदार्थ की उत्पत्ति है। उपादान कारण रूप पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ के विनाशपूर्वक उत्तरक्षणवर्ती पदार्थ की उत्पत्ति है। उपादान कारण रूप पूर्वक्षणवती पदार्थ और कार्य रूप उत्तरक्षणवर्ती पदार्थ परस्पर पूर्णरूपेण विलक्षण और स्वतंत्र सत्ताएँ हैं, तथा कारण के निरन्वय विनाश पूर्वक कार्य की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार तेल की भिन्न बूँद के जलने से उत्पन्न हो रही दीपक की प्रत्येक लौ नयी लौ है, नदी में प्रतिक्षण नया जल है, उसी प्रकार कारण-कार्य रूप से सम्बन्धित क्षणिक पदार्थों की शृंखला में उत्पन्न हो रहा प्रत्येक पदार्थ पूर्णरूपेण नवीन और स्वतन्त्र सत्ता है। इन क्षणिक पदार्थों में सादृश्य के कारण इन्हें एक अन्यवी द्रव्य समझ लिया जाता है, जो अनादि वासना जनित भ्रममात्र है।[२९]

जैन मत

जैन दार्शनिक बौद्धों की आपत्तियों को अस्वीकार करते हुए कहते हैं, कि केवल मात्र विरोध दोष की कल्पना के आधार पर एक ही वस्तु में सामान्य और विशेष, विनाशवान और अविनाशी धर्मों के युगपत् सद्भाव का निषेध नहीं किया जा सकता। ज्ञान ही वस्तु व्यवस्था का नियामक है। उसके द्वारा अनुगत व्यावृत्त, परिवर्तनशील-स्थायी वस्तु ही ज्ञात होती है। हम देखते हैं कि जो तन्तु पहले पृथक्-पृथक् तन्तु रूप अवस्था में विद्यमान थे, वे ही तन्तु अब आतानवितान रूप से संयुक्त तन्तु-वस्त्र रूपता को प्राप्त कर रहे हैं। 'पृथक्-पृथक् तन्तु' तथा 'परस्पर संयुक्त तन्तु' रूप दो परस्पर विलक्षण और उत्पत्तिविनाशवान पर्यायों के प्रत्यक्ष पूर्वक हो रहा यह प्रत्यभिज्ञान ये वही तन्तु है" उन पर्यायों की एक

अन्वयी तन्तु द्रव्यरूपता को सिद्ध करता है ।[३०] इसी प्रकार "जिसका मैंने पूर्व में प्रत्यक्ष किया था, उसी का मैं अब स्मरण कर रहा हूँ" रूप अनुभव अनेक ज्ञान पर्यायों रूप से परिणमनशील एक अन्वयी आत्मद्रव्य को सिद्ध करता है ।[३१]

अनेक क्रमवर्ती पर्यायों के एक द्रव्यरूपता के ज्ञान की भ्रमात्मकता पूर्णरूपेण क्षणिक पदार्थ के ज्ञात होने पर ही सिद्ध हो सकती है । लेकिन क्षणिक पदार्थ की सत्ता को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष द्वारा सत्ता की क्षणभंगुरता की सिद्धि तभी सम्भव है, जबकि वह मध्य क्षण में पदार्थ के सद्भाव को जानने के साथ ही साथ पूर्वापर क्षणों में उसके अभाव को भी जाने । इसके लिए प्रत्यक्ष का कम से कम तीन क्षण स्थायी होना आवश्यक है । लेकिन यदि प्रत्यक्ष स्वयं अनेक क्षणवर्ती एक ज्ञान है तो उसके द्वारा सत्ता मात्र की क्षणिकता सिद्धि नहीं की जा सकती ।[३२]

बौद्ध विनश्वर स्वभावता और अर्थक्रियाकारित्व हेतु के आधार पर सत्ता के क्षणिक स्वरूप को सिद्ध करना चाहते हैं, लेकिन इन हेतुओं के द्वारा क्षणिकवाद की सिद्धि न होकर सत्ता के परिणामीनित्य स्वरूप की ही सिद्धि होती है । विनाशवानता क्षणिक पदार्थ का धर्म न होकर, उत्पत्तिमान ध्रुव सत्ता का ही स्वभाव होता है । विनाश उसी का हो सकता है, जिसकी पहले उत्पत्ति हुई हो तथा उत्पन्न वही हो सकता है, जिसका उत्पन्न होना स्वभाव हो । ये उत्पत्ति और विनाश दोनों ही निरन्तर नयी पर्याय रूप से परिणमनशील अनन्तशक्ति सम्पन्न ध्रुव सत्ता का स्वभाव हैं । जो वस्तु आकाश कुसुम के समान पूर्णतया असत् है, उसकी न तो कभी उत्पत्ति हो सकती है और न ही उसका विनाश सम्भव है । वस्तुतः सत्ता का स्वभाव विनश्वरता न होकर सत् स्वरूपता या सद्भाव है और उसका यह सद्भाव उत्पादव्यय ध्रौव्य स्वरूप और गुणपर्यायात्मक है ।[३३] स्वभाव अन्य निरपेक्ष, अकारण और उत्पत्तिविनाश से रहित होता है । इसलिए उत्पादादि स्वभावमय सत्ता अनादि अनन्त सत्ता है ।[३४]

बौद्ध पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ के स्वतः और निरन्वय रूप से विनाश पूर्वक उत्तर क्षणवर्ती पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । इस प्रकार उनके अनुसार विनाश निर्हेतुक और उत्पत्ति सहेतुक होती है । जैन दार्शनिक इस मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं, कि उत्पत्ति और विनाश दो अलग-अलग घटनाएं न होकर एक समयवर्ती घटना के दो अभिन्न स्वभाव हैं । अतः दोनों ही स्व पर हेतुक होते हैं । पूर्ववर्ती पदार्थ का विनाश ही उत्तरवर्ती पदार्थ की उत्पत्ति है । अतः जो उत्तरवर्ती पदार्थ की उत्पत्ति के कारण हैं, वे ही पूर्ववर्ती पदार्थ के विनाश के भी कारण हैं । जैसे कपाल की उत्पत्ति ही घट का विनाश है। अतः यदि मिट्टी के घट पर मुद्गर के प्रहार से कपाल की उत्पत्ति हो रही है तो मुद्गर का प्रहार कपाल की उत्पत्ति का ही नहीं, घट के विनाश का कारण भी है । विनाश शुद्ध निर्विशेष विनाश स्वरूप नहीं होता; विनष्ट वस्तु शून्यता को प्राप्त नहीं होती, बल्कि वस्तु का विनाश विशेष स्वरूपमय विनाश है । घड़े को मुद्गर के प्रहार पूर्वक दो टुकड़ों में विभाजित करते हुए भी नष्ट हो सकता है; वह बहुत भारी वस्तु से दबाये जाने पर चूरा-चूरा होते हुए भी नष्ट हो सकता है और ऊपर से गिरने पर वह छोटे-छोटे टुकड़े होते हुए भी नष्ट हो सकता है । वस्तु का यह एक विशेष प्रकार से हो रहा विनाश ही उसकी नये स्वरूप में उत्पत्ति है । उत्पत्ति और विनाश में विद्यमान यह अभेद पूर्ववर्ती पदार्थ के निरन्वय विनाश पूर्वक उससे

पूर्णतः नवीन पदार्थ की उत्पत्ति सिद्ध नहीं करता, बल्कि इसके द्वारा पूर्वोत्तर पर्यायों रूप से परिणमनशील एक अन्वयी द्रव्य की सिद्धि होती है। यह अन्वयी द्रव्य उत्तरवर्ती क्षण में पूर्णरूपेण विलक्षण स्वरूप से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह अपने सामान्य रूप से निरन्तर विद्यमान स्वरूप की नयी विशेष पर्याय को प्राप्त करता है। मृत्तिका घट रूप से नष्ट हो रही वस्तु मृत्तिका कपाल रूप से उत्पन्न होती है, जो मृत्तिकात्व सामान्य रूप से सत् तथा कपाल रूप से असत् पर्याय की उत्पत्ति है।

यदि सत्ता को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप स्वीकार न करके पूर्णरूपेण क्षणिक ही स्वीकार किया जाय तथा उसके निरन्वय विनाश पूर्वक उससे उत्तरक्षणवर्ती पदार्थ की उत्पत्ति मानी जाय तो प्रश्न उठता है कि एक पूर्णरूपेण क्षणिक पदार्थ की कार्योत्पत्ति के समय सत्ता नहीं होने के कारण उसे अर्थक्रियाकारी किस प्रकार कहा जा सकता है ? कारण वही होता है, जिसके होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो तथा जिसके अभाव में कार्योत्पत्ति कभी नहीं हो। एक क्षणिक पदार्थ अपने सद्भाव काल में कार्य *को उत्पन्न कर नहीं सकता, क्योंकि इस समय वह स्वयं स्वरूप लाभ कर रहा है, यदि उसी समय उससे कार्योत्पत्ति स्वीकार कर ली जाये तो सभी कार्य एक क्षणवर्ती हो जायेंगे तथा अगले क्षण शून्यता की प्राप्ति होगी; अगले क्षण में भी क्षणिक पदार्थ द्वारा कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि उस समय उसका* निरन्वय विनाश हो जाने से पूर्णतया अभाव है। कार्योत्पत्ति की सामर्थ्य एक विद्यमान पदार्थ में ही होती है। जो पदार्थ कार्योत्पत्ति के समय विद्यमान नहीं है, वह कार्योत्पादक किस प्रकार हो सकता है ? यदि कहा जाय कि पूर्वक्षणवर्ती पदार्थ के निरन्वय विनाशपूर्वक उससे ही उत्तर क्षण में कार्योत्पत्ति होती है, तो जब असत् कारण से अनन्तरवर्ती क्षण में कार्योत्पत्ति हो सकती है तो उससे सुदूरवर्ती क्षण में भी कार्योत्पत्ति हो जानी चाहिए, जैसे चिरविनष्ट पति से भी विधवा को गर्भ की प्राप्त हो जानी चाहिए, क्योंकि अनन्तरवर्ती और सुदूरवर्ती दोनों ही क्षणों में कारण का अभाव समान रूप से विद्यमान है।[३६]

वस्तुः कार्योत्पत्ति की प्रक्रिया शून्य में घटित नहीं होती, बल्कि कार्योत्पत्ति के समय विद्यमान उपादान कारण रूप में परिवर्तित होता है। इसलिए पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य का उपादान कारण होता है, जो अपनी उपादान योग्यता और निमित्त कारणों के सद्भावानुसार द्रव्य रूप से वही रहते हुए पूर्व पर्याय रूप से नष्ट होकर उत्तर पर्याय रूप से उत्पन्न होता है।[३७]

पर्याय शक्ति विशिष्ट द्रव्यशक्ति को द्रव्य की उपादान योग्यता कहा जाता है। एक द्रव्य में अपने सामान्य स्वरूप के अनन्त विशेष स्वरूपों में अभिव्यक्ति की शाश्वत सामर्थ्य विद्यमान है, जिसे द्रव्य शक्ति कहा जाता है। इस द्रव्य शक्ति के द्रव्य में सदैव विद्यमान होने पर भी द्रव्य किसी भी समय किसी भी पर्याय को प्राप्त नहीं कर सकता। इसके विपरीत अव्यवहित उत्तर क्षण में द्रव्य में परिणमन की सम्भावनाएं उसके पूर्ववर्ती पर्याय के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार निर्धारित होती हैं। इन सम्भावनाओं में से जिस पर्याय की प्राप्ति के लिए अनिवार्य विभिन्न कारणों का सद्भाव होता है, द्रव्य उस पर्याय रूप में परिणमित हो जाता है।[३८] उदाहरण के लिए मृत्तिका कण में अवस्थित पुद्गल द्रव्य में अपने रूपरसगन्धस्पर्शमय सामान्य स्वरूप की समस्त विशिष्ट अभिव्यक्तियों को प्राप्त करने की द्रव्यशक्ति विद्यमान है। इस शाश्वत द्रव्य शक्ति से सम्पन्न होने पर भी वह द्रव्य अपने वर्तमान कालीन मृत्तिका कण रूप विशेष स्वरूप के कारण अव्यवहित

उत्तर क्षण में कुछ विशेष पर्यायों रूप से ही परिणमन की योग्यता रखता है। यदि उसका जल से संयोग हो जाये तो वह पिण्ड रूपता को प्राप्त कर लेगा, यदि उसका अग्नि से संयोग हो जाये तो उसका पीलापन लाल या काले रंग में रूपान्तरित हो जायेगा; उसकी कोमलता कठोरता में बदल जायेगी। इन सीमित सम्भावनाओं में से जिस विशिष्ट स्वरूप की प्राप्ति के लिए अनिवार्य निमित्त कारणों का सद्भाव होता है, द्रव्य उत्तरवर्ती क्षण में अपनी पूर्ववर्ती पर्याय का परित्याग कर, उस विशेष पर्याय रूप से रूपान्तरित हो जाता है।

एक वस्तु मात्र द्रव्य या मात्र पर्याय न होकर द्रव्यपर्यायात्मक सत्ता है। द्रव्य की प्रत्येक पर्याय द्रव्य ही होती है और इसलिए वह अपनी प्रत्येक पर्याय में अपने सामान्य स्वरूप की समस्त विशिष्ट अभिव्यक्तियों को प्राप्त करने की सामर्थ्य से परिपूर्ण है। लेकिन द्रव्य की विशेष पर्याय रूप से परिणमन की सामर्थ्य, उसकी द्रव्यरूपता के कारण न होकर, उसके पर्यायात्मक स्वरूप के कारण है। द्रव्य अपनी अनन्त सम्भावनाओं में से किस पर्याय को कब और किस प्रकार प्राप्त कर सकता है, यह उसकी वर्तमानकालीन पर्याय के विशिष्ट स्वरूप द्वारा निर्धारित होता है। मृत्तिका कण रूप से अवस्थित पुद्गल द्रव्य में घट रूपता को प्राप्त करने की सामर्थ्य है, लेकिन इस सामर्थ्य की अभिव्यक्ति अव्यवहित उत्तर क्षण में न होकर, निमित्त कारणों के सद्भाव पूर्वक उनमें पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूलादि पर्यायों रूप में घटित होने वाली परिवर्तन की लघु प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। मृत्तिका कणों में मिट्टी के अनेक पर्यायों को प्राप्त करने की सामर्थ्य ही नहीं है, बल्कि ये पुद्गल द्रव्य की समस्त पर्यायों की सम्भाव्यता स्वरूप भी हैं। वे खनिज तेल बन सकते हैं, जल बन सकते हैं, स्वर्णाभूषण बन सकते हैं, लेकिन उनका इन रूपों में परिवर्तन अव्यवहित उत्तर क्षण में सम्भव न होकर, निमित्त कारणों के सद्भाव में घटित होने वाली परिवर्तन की दीर्घ कालिक प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है। किसी भी विशेष पर्याय को प्राप्त करने की शाश्वत सामर्थ्य से परिपूर्ण है। लेकिन पर्याय में विद्यमान पुद्गल द्रव्य निकटवर्ती या सुदूरवर्ती किसी भी क्षण में अपने रूपरसगन्धस्पर्शमय सामान्य स्वरूप की किसी भी विशेष पर्याय को प्राप्त करने की शाश्वत सामर्थ्य से परिपूर्ण है। लेकिन पुद्गल द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय चेतन स्वरूप की प्राप्ति की क्षमता का अत्यन्ताभाव होने के कारण पुद्गल द्रव्य कभी भी जीव द्रव्य रूप से परिणमित नहीं हो सकता।

द्रव्य का सदैव किसी न किसी पर्याय रूप से परिणमित होते रहना अनिवार्य स्वभाव होते हुए भी उसका एक विशेष पर्याय रूप से परिणमन एक आकस्मिक घटना है। द्रव्य की वर्तमान कालीन पर्याय के अनित्य होने तथा उसके उत्तरवर्ती पर्याय रूप से परिणमन निमित्त कारणों के सद्भावनुसार होने के कारण द्रव्य का विशेष पर्यायों रूप से परिणमन अनियत या अनवस्थित होता है।[३९] यदि मृत्तिका कणों का जल संयोग हो तो ही वे पिण्ड रूपता को प्राप्त कर सकते हैं तथा उनमें परिवर्तन की लघु प्रक्रिया द्वारा घट रूपता की प्राप्ति की सम्भावना होती है, लेकिन यदि वे अग्नि में तप जायें तो उनकी यह सम्भावना समाप्त हो जाती है तथा वे परिवर्तन की दीर्घ प्रक्रिया द्वारा ही घट रूपता को प्राप्त कर सकते हैं। यदि मृत्तिका कण पिण्ड रूप में परिवर्तित हो जाते हैं तो उस पर्याय में अव्यस्थित होने पर

उनकी पर्याय शक्ति का स्वरूप बदल जाता है। इनमें इस पर्याय के अनुरूप अव्यवहित उत्तर क्षण में तथा तदनुसार परवर्ती क्षणों में परिवर्तन की सम्भावनाएं बदल जाती हैं; उनमें से जिस पर्याय के अनुकूल निमित्त कारणों का सद्भाव होता है। मृत्तिकापिण्ड उस पर्याय रूप से रूपान्तरित हो जाता है। यदि इस स्तर पर उसे स्थास रूपता की प्राप्ति हेतु अनिवार्य निमित्त कारणों का संयोग प्राप्त हो, तब ही वह स्थास रूपता को प्राप्त करते हुए घट पर्याय की ओर अग्रसर हो सकता है, लेकिन यदि ऐसा न होकर वह किसी अन्य पर्याय को प्राप्त करता है तो उसकी परिवर्तन की दिशाएं बदल जाती हैं। इस प्रकार एक द्रव्य की द्रव्यशक्ति के नित्य और कारण निरपेक्ष होने के कारण उसका द्रव्यात्मक स्वरूप भी नित्य और अवस्थित है, लेकिन उसकी पर्याय शक्ति के अनित्य और कारण सापेक्ष होने के कारण उसकी पर्यायें अनियत या अनवस्थित हैं। इस प्रकार द्रव्य के विशेष पर्यायों रूप से परिणमन में नियतिवाद का अभाव है।

पुद्गल द्रव्य का परिणमन कारणात्मक नियमों के अनुसार अनिवार्यतया होने वाला परिणमन है। पर्यायशक्ति विशिष्ट द्रव्य शक्ति तथा एक विशेष पर्याय रूप से परिणमन के लिए अनिवार्य निमित्त कारणों का सद्भाव होने पर पुद्गल द्रव्य अनिवार्यतया उस विशेष पर्याय रूप से रूपान्तरित होता है। उदाहरण के लिए मृत्तिका घट में मुद्गर का प्रहार होने पर टूटने की उपादान योग्यता होने तथा मुद्गर के प्रहार रूप निमित्त कारण की प्राप्ति होने पर घट अनिवार्यतया टूटता है।

पुद्गल द्रव्य के विपरीत उपादान निमित्त कारणों के सद्भावानुसार परिवर्तन की अनिवार्यता जीव के स्वभाव में नहीं है। जीव एक चेतन द्रव्य है। ज्ञानदर्शनोपयोग रूप होने के कारण सदैव किसी न किसी पदार्थ की ओर उन्मुख होना, उसे विषय बनाना तथा उसे जानने के लिए प्रवृत्त होना जीव का स्वभाव है। इस उपयोगात्मक स्वरूप के कारण जीव के परिणमन में स्वतन्त्रता विद्यमान है। निश्चित रूप से जीव का परिवर्तन भी स्व पर प्रत्यय हेतु होता है, लेकिन उपादान योग्यता और निमित्त कारणों का सद्भाव जीव के परिणमन का पर्याप्त कारण न होकर मात्र अनिवार्य कारण है। इन कारणों के सद्भावानुसार जीव के परिणमन की सम्भावनाएं सीमित हो जाती हैं। इन सीमित सम्भावनाओं में से जीव चयनपूर्वक जिस पर्याय की प्राप्ति हेतु प्रवृत्त होता है, उस रूप में परिणमित होता है। उदाहरण के लिए जिस जीव ने मनुष्य पर्याय प्राप्त की है, जो आठ वर्ष से अधिक आयु का हो चुका है, उसमें प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उपादान योग्यता विद्यमान होने तथा गुरु के उपदेश रूप निमित्त कारण का सद्भाव होने पर भी वह सम्यग् दर्शन रूप पर्याय को अनिवार्यतया प्राप्त नहीं करता। इन अनिवार्य कारणों का सद्भाव होने पर भी यदि वह अपनी चेतना को तत्त्व चिंतन पर केन्द्रित करता है, तो ही उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, लेकिन यदि वह भोगों में लीन हो जाये तो उसे सम्यग्दर्शन होना सम्भव नहीं है। अथवा एक समय में जीव में पांचों इन्द्रियों के विषयों को जानने की उपादान योग्यता होने तथा इन सभी इन्द्रियों तथा इनके विषय रूप बाह्य सामग्री का सद्भाव होने मात्र से व्यक्ति की अनन्तर क्षणवर्ती ज्ञान पर्याय का स्वरूप निर्धारित नहीं होता। इसके विपरीत जीव जिस इन्द्रिय के विषय को जानने हेतु प्रवृत्त होता है, उसी इन्द्रिय के विषय को जानता है। कारण सामग्री अनन्तरवर्ती क्षण में जीव के परिणमन की सम्भावनाओं को सीमित तो कर सकती है, लेकिन उसमें उसके परिणमन को निर्धारित करने की सामर्थ्य नहीं है। यद्यपि संसारी

अवस्था में जीव के ज्ञानादि गुणों को परिणमन इन्द्रिय आदि निमित्त कारणों के अवलम्बन पूर्वक होता है। लेकिन मुक्तावस्था में जीव के इन गुणों की अभिव्यक्ति इन्द्रियादि पर पदार्थों से निरेपक्ष रूप से ही होती है। इस अवस्था में जीव किसी भी अन्य द्रव्य की सहायता लिये बिना अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से सम्पन्न होता है।

जीव की मुक्त पर्याय, पुद्गल द्रव्य की परमाणु रूप पर्याय तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य की पर्यायें अन्य द्रव्य के संयोग से रहित शुद्ध द्रव्य की पर्याय हैं, इसलिए ये स्वभाव पर्याय कहलाती हैं। इन पर्यायों की उत्पत्ति में एक अनिवार्य निमित्त कारण काल द्रव्य है, जो उदासीन निमित्त कारण है। इसके विपरीत जीव की पुद्गल के संयोग जन्य संसारी अवस्था और उसमें भी मनुष्य, पशु आदि अवस्थाएं तथा विभिन्न पुद्गल परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न स्कंध रूप अवस्था विभाव पर्याय हैं। इनकी *उत्पत्ति में जीव, पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों की सहकारी कारण रूपता प्रेरक निमित्त है। इस प्रकार किसी* भी द्रव्य का परिणमन स्व पर प्रत्यय हेतुक ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन के अनुसार जो भी अस्तित्ववान है, वह परिणामी नित्य सत्ता है। जगत में विद्यमान कोई भी पदार्थ अपने मूलस्वरूप को कभी नहीं छोड़ता, ज्ञानदर्शनसुखवीर्य आत्मा का शाश्वत स्वभाव है तथा वह न तो कभी अपने इस चेतनमय स्वरूप का परित्याग करता है और न ही उसमे रूपादि गुणों से युक्त जड़ स्वरूप की कभी उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार द्रव्य का मूल स्वभाव सदैव वही रहता है, ध्रुव है। द्रव्य का यह अनादि अनन्त शाश्वत स्वरूप ही निरन्तर नये विशेष स्वरूप से परिणमित होता हुआ विद्यमान है। इसलिए सत्ता सदैव सामान्य-विशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप में अवस्थित है।

अद्वैत वेदान्त मत : ध्रौव्य ही सत्ता का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत्ता पूर्णरूपेण सामान्य स्वरूप और कूटस्थ नित्य होती है, उस सामान्य और शाश्वत सत्ता का अनेक विशेष रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा परिवर्तन वास्तविक परिवर्तन न होकर परिवर्तन का आभास मात्र है। परिवर्तन सौपाधिक या अन्य कारण सापेक्ष होता है और इसलिए वह सत्ता का स्वरूप नहीं हो सकता। स्वभाव तो अन्य निरपेक्ष, अकारण और इसलिए कूटस्थ नित्य होता है। बाहरी कारण सत्ता के मूल स्वरूप को परिवर्तित करने में असमर्थ है। इनके द्वारा जो है, उसके संस्थान या आकृति को परिवर्तित किया जा सकता है तथा इसके आधार पर उसे भिन्न नाम दिया जा सकता है। लेकिन नाम रूप के परिवर्तन से सत्ता का मूल स्वरूप परिवर्तित नहीं होता, इसलिए वह परिवर्तन का आभास मात्र है। उदाहरण के लिये चूर्ण, पिण्ड, घट, कपाल आदि क्रमवर्ती विकारों रूप से विद्यमान मिट्टी मिट्टी ही रहती है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में उसकी आकृति बदलती है, नाम बदलता है, लेकिन इसके *द्वारा मिट्टी अपनी मिट्टीरूपता को छोड़कर लोहा या सोना नहीं हो जाती। अतः नाम रूप का परिवर्तन* वस्तु का वास्तविक परिवर्तन नहीं है।[४०]

मिट्टी रूपता भी सत्ता का मूल स्वभाव नहीं है, क्योंकि जो सत्ता आज मिट्टी रूप में अवस्थित

है, वही कल वृक्ष बन सकती है, लकड़ी बन सकती है। वस्तुतः सभी विशेषणों से रहित शुद्ध सत् स्वरूपता या सद्भाव ही सत्ता का मूल स्वभाव है । सत् वही है जो अबाधित है, जिसका कभी किसी ज्ञान द्वारा खण्डन नही होता । वस्तु की मिट्टी, वृक्ष आदि विशेष स्वरूप में सत्ता नहीं है, क्योंकि इसका अन्य ज्ञान द्वारा खण्डन हो जाता है । जिस पदार्थ के प्रति हमें अभी 'यह वृक्ष है' रूप ज्ञान हो रहा है, उसी पदार्थ के प्रति कालान्तर में हमें 'यह वृक्ष नहीं है' रूप निश्चय उस पदार्थ के वृक्ष रूप विशेष स्वरूप का खण्डन कर देता है । लकड़ी, वृक्ष आदि विभिन्न विशेष स्वरूपों के आधार रूप में अवस्थित शुद्ध सत्ता सामान्य या सत् स्वरूपता ही उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप है, क्योंकि उनके विशेष रूपों के ज्ञान का निरन्तर अन्य ज्ञान द्वारा खण्डन होते रहने पर भी उनकी सत्ता का खण्डन किसी भी ज्ञान द्वारा कभी नहीं होता । पदार्थ की सत्ता पहले भी थी, अभी भी है और भविष्य में भी रहेगी । अतः सत्ता सामान्य विशेषात्मक न होकर शुद्ध निर्विशेष सामान्य सत्ता है ।[४१] यह स्वयं प्रकाश होने के कारण चैतन्य स्वरूप और आनन्दमय है । यह सच्चिदानन्द सत्ता ब्रह्म कहलाती है । जो अद्वैत स्वरूप, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापक है। इसमें किसी भी प्रकार के भेद, किसी भी प्रकार की अनेकरूपता का सद्भाव नहीं है । यह सच्चिदानन्द ब्रह्म अनेक जड़ चेतन पदार्थों रूप से दृष्टिगोचर हो रहे नामरूपात्मक जगत के आधार रूप में विद्यमान उनका मूल उपादान कारण है ।[४२]

प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म जगत के सभी पदार्थों का मूल उपादान कारण है तो, ब्रह्म का जगत रूप में परिवर्तन मात्र नाम रूप का परिवर्तन नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म के निरवयव, अनिर्वचनीय, चेतन सत्ता होने के कारण वह नाम और आकृति से रहित तत्त्व है; ऐसी स्थिति में ब्रह्म जगत रूप में रूपान्तरण वास्तविक परिवर्तन क्यों नहीं होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में **शंकराचार्य** कहते हैं कि ब्रह्म जगत रूप में परिवर्तित नहीं होता, बल्कि ईश्वर अपनी माया द्वारा सत्ता के मूल अद्वैत स्वरूप को आवृत्त करके, उस पर अनेक भेदों से परिपूर्ण जगत को आरोपित कर देता है । जिस प्रकार अज्ञानी व्यक्ति को सीपी में चाँदी रूप भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अनादि अविद्याग्रस्त जीवात्मा ईश्वर की माया के छलावे में आ जाता है। वह माया द्वारा आरोपित नाम रूपात्मक जगत को यथार्थ समझ लेता है तथा उसके अधिष्ठान रूप में विद्यमान सच्चिदानन्द ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता ।

ईश्वर, माया, जीव, जगत आदि व्यावहारिक सत्ताएँ हैं । पारमार्थिक दृष्टि से इनकी सत्ता न होकर पूर्ण रूपेण निर्विकार सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही सत्ता है ।

जैन मत

जैन दार्शनिक उपर्युक्त मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि सत्ता सदैव द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप में ही अवस्थित होती है । वह प्रतिसमय वर्तमान पर्याय विशिष्ट द्रव्य है तथा इस द्रव्य का वर्तमान समय में इस रूप में सद्भाव होने के साथ ही साथ भूत, भविष्यकालीन पर्यायों रूप से अभाव भी है । उसका शाश्वत अस्तित्व उसकी प्रतिक्षणवर्ती पर्याय रूप से परिणमन पूर्वक सम्भव है । इस परिणमनशील स्वभाव के कारण ही उसके प्रति वह सत्ता भूतकाल में भी थी, वर्तमान समय में भी है और भविष्य में भी रहेगी;

रूप नित्यता की स्थापना होती है। यदि एक शाश्वत सत्ता की क्रमवर्ती समस्त पर्यायों को द्रव्यापेक्षया अभिन्न स्वीकार करने के साथ ही साथ पर्यायापेक्षया भी अभिन्न स्वीकार किया जाय तथा उसे वर्तमान पर्याय विशिष्ट रूप से सत् स्वीकार करने के साथ ही साथ भूत, भविष्यकालीन पर्यायों रूप से वर्तमान समय में असत् स्वीकार नहीं किया जाय तो पदार्थ की सभी पर्यायों के एक ही समय में अवस्थित हो जाने के कारण सत्ता मात्र एक समयवर्ती हो जायेगी तथा उसकी नित्यता की स्थापना असम्भव होगी।[४३]

एक द्रव्य अपनी समस्त पर्यायों में पूर्णरूपेण एक रूप विद्यमान है अथवा वह अनेक विशेष स्वभावों रूप से परिणमनशील एक सामान्य सत्ता है, इसका निर्णय प्रमाण द्वारा ही हो सकता है। प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों द्वारा शुद्ध निर्विशेष सामान्य सत्ता की उपलब्धि नहीं होती, बल्कि सामान्यविशेषात्मक सत्ता ही ज्ञात होती है। जैसे प्रत्यक्ष द्वारा हमें कण, पिण्डादि किसी विशेष स्वरूप में अवस्थित मिट्टी ही ज्ञात होती है तथा इन विशेष स्वरूपों से रहित शुद्ध सामान्य मृत्तिका द्रव्य की उपलब्धि हमें कभी नहीं होती।[४४]

अद्वैत वेदान्ती प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। **मण्डन मिश्र** कहते हैं कि प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता व्यावहारिक दृष्टि से ही है। पारमार्थिक दृष्टि से प्रत्यक्ष प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि शब्द प्रमाण द्वारा इसका खण्डन हो जाता है। शब्द प्रमाण सत्ता के परिवर्तनरहित अद्वैत स्वरूप का प्रतिपादन करता है। प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण इसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष से अधिक शक्तिशाली है। वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन की क्षमता शब्द प्रमाण में ही है। अतः इसके द्वारा प्रत्यक्ष की भ्रमात्मकता की सिद्धि होती है।[४५]

प्रश्न उठता है कि क्या सत्ता के उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, सामान्य विशेषात्मक स्वरूप की यथार्थता को स्वीकार किये बिना उसके प्रति गुरूपदेश, शास्त्र रचना आदि रूप शब्द प्रमाण की प्रवृत्ति संभव है ? जो जीवात्मा अनादि अविद्या के वशीभूत होकर, इस दृश्यजगत को यथार्थ समझ रहे हैं, उनके प्रति इस ज्ञान की भ्रमात्मकता तथा सत्ता के यथार्थ स्वरूप की सिद्धि के लिये गुरु द्वारा उपदेशादि कार्यों का सम्पादन होता है। इन कार्यों की सार्थकता जीवात्मा के अनादि अविद्या ग्रस्त अवस्था के विनाशपूर्वक उसके तत्त्वज्ञान रूप नवीन विशेष स्वरूप में परिवर्तित होने पर ही है। यदि कहा जाय कि चेतना का अविद्या और विद्या रूप भेद व्यावहारिक सत्य ही है; पारमार्थिक दृष्टि से उसमें इन भेदों का पूर्णतया अभाव है तो वह *मान्यता भी एक अन्वयी ज्ञाता में अनेक स्तरभेदों की स्थापना करती है।* जो चेतना व्यावहारिक सत्य की अनुभूति स्वरूप है वह सविषयक है; एक वस्तु के युगपत् और क्रमवर्ती अनेक स्वभावों का अनुभव कर रही है तथा वही चेतना शब्द प्रमाण की सहायता से कालान्तर में व्यावहारिक सत्य के स्तर से ऊपर उठकर पारमार्थिक सत्य की अनुभूति रूप से परिणमित होती है। यदि चेतना का व्यावहारिक और *पारमार्थिक सत्य की अनुभूति रूप अवस्था भेद भी आभास मात्र मान लिया जाय तो ऐसी स्थिति में दृश्य जगत् के ज्ञान के मिथ्यात्व तथा सच्चिदानन्दब्रह्म की सत्ता की सिद्धि का कोई आधार शेष नहीं रहेगा।*[४६]

संसारी जीव और पुद्गल द्रव्य का परिणमन अन्य द्रव्य सापेक्ष और कारणात्मक नियमों से नियंत्रित

होता है। संसारी जीव पुद्गल कर्मों से संयुक्त होकर तथा अनेक पुद्गल परमाणु परस्पर संयुक्त होकर अपने सामान्य स्वरूप के अनेक विभिन्न परिणामों को प्राप्त करते हैं। ये अन्य द्रव्य सापेक्ष पर्याय होने के कारण इन द्रव्यों की विभाव पर्याय कहलाती हैं। लेकिन इन द्रव्यों की यह विभाव पर्याय भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप से परिणमन की आन्तरिक योग्यता के कारण ही उत्पन्न होती है। यदि उनमें इस आन्तरिक सामर्थ्य का सद्भाव नहीं हो तो किसी भी बाहरी शक्ति द्वारा उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन किया जा सकना सम्भव है।[४७]

संसारी जीव के विपरीत मुक्तात्मा का परिणमन निरूपाधिक होता है। मुक्तात्मा अपने अन्य निरपेक्ष शुद्ध स्वभाव में अवस्थित होता है तथा इस अवस्था की प्राप्ति का प्रत्येक व्यक्ति के लिए परम मूल्य है। लेकिन इस अवस्था की प्राप्ति एक परिणामीनित्य चेतना सत्ता का ही हो सकती है। जिस बन्धन ग्रस्त जीवात्मा के गुरुमुख से तत्त्वमसि जैसे महावाक्यों का श्रवण किया है, तत्पश्चात् जो 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप से निरन्तर मनन कर रहा है, उसे ही कालान्तर में ब्रह्म स्वरूप के साक्षात्कार पूर्वक अपने मुक्त स्वरूप का बोध होता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानियों द्वारा बंधन ग्रस्त अज्ञानी जीवों को अज्ञान की निवृत्ति हेतु उपदेश देना, शास्त्रों की रचना करना तथा अज्ञानी श्रोता द्वारा उपदेश का अनुसरण कर मोक्ष प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ करना - दोनों ही कार्य चेतन सत्ता के द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप को यथार्थ स्वीकार करने पर ही सम्भव है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सत्ता न तो पूर्णतया सामान्य रूप और कूटस्थ नित्य है और न ही सर्वथा क्षणिक और विशेष रूप है। इसके विपरीत जो भी अस्तित्वान है वह सामान्यविशेषात्मक, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक तत्त्व है। जगत् में विद्यमान प्रत्येक जड़ चेतन पदार्थ अनन्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण परिणमनशील द्रव्य हैं तथा उसकी विभिन्न सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति, उसमें निश्चित कारणात्मक नियमों के अनुसार घटित होने वाली परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा होती है। सत्ता के इस शक्ति-व्यक्तिमय द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप के ज्ञान पूर्वक ही समस्त लोक व्यवहार और आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ सम्भव है। आज विज्ञान द्वारा पुद्गल द्रव्य में अन्तर्निहित असीम सम्भावनाओं को पहचानने तथा उन सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को समझकर प्रकृति पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। प्राचीन काल में भारतीय मनीषियों ने आत्मा के अनन्त शक्तिसम्पन्न परिणमनशील स्वरूप को समझने हेतु गहन अनुसंधान कार्य किया है। उन्होंने न केवल विभिन्न संसारी जीवों के ज्ञानादि गुणों में घटित हो रही उत्थान पतन की प्रक्रिया की व्याख्या हेतु कर्म सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया है; बल्कि उन्होंने इस सत्य का भी प्रतिपादन किया है कि जिस आत्मा में शक्ति रूप से अनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्यमय परमात्म स्वरूप विद्यमान है वह वर्तमान समय में अपने आप को अज्ञानी, शक्तिहीन और दुःखी क्यों अनुभव कर रहा है। साथ ही यह अपने इस वर्तमानकालीन व्यक्त स्वरूप का परित्याग कर अपने में शक्ति रूप से विद्यमान परमात्म स्वरूप को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार प्राचीन काल से ही मानव जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों के अनन्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण परिणमनशील स्वभाव को निरन्तर और अधिक जानने हेतु प्रयत्नरत है। ज्ञानार्जन की यह प्रक्रिया तथा इसके द्वारा वस्तु स्वरूप को समझकर, लौकिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किया जाने वाला पुरुषार्थ दोनों ही कार्य सत्ता के द्रव्यपर्यायात्मक स्वरूप को सिद्ध करते हैं।

संदर्भ

१. पंचास्तिकाय संग्रह,गाथा—१०

२. Apte's Sanskrit English Dictionary. Page-576

३. दवियादि गच्छदि ताइं ताइं सब्भाव पज्जयाइं जं ।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादौ ॥ पंचास्किासंग्रद्ध, गाथा - ९

४. जैनेन्द्र व्याकरण ४/१/१५८

५. न्यायविनिश्चय विवरण; भाग-१ पृष्ठ-४३४

६. तत्त्वार्थवार्तिक ५/२/४३६

७. गुणपर्ययवत् द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः ।

८. विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्याभेदाभेदो रसादिवत् ॥ न्यायविनिश्चय १/११५

९. न्यायविनिश्चयविवरण; भाग-१; पृष्ठ ४२८-२९

१०. गुण्यते पृथक् क्रियते द्रव्यं द्रव्याद्यैस्ते गुणाः । आलाप-पद्धति - ९३

११. गुणवत् द्रव्यं उत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः । न्यायविनिश्चय; १/११७ पूर्वार्द्ध

१२. पंचास्तिकाय समयव्याख्या टीका; गाथा-१०

१३. अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः ।.... तस्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते । यतो हि परस्परसाधितसिद्धि युक्तत्वात् तेषामस्तित्वमेकमेव । प्रवचनसार-तत्त्वप्रदीपिका टीका; गाथा-९६

१४. स्वद्रव्य चतुष्टयापेक्षया परस्पर गुणाः स्वभावा भवन्ति । आलाप-पद्धति; सूज ११९

१५. द्रव्याण्यपि भवन्ति । वही, सूज - १२०

१६. पंचास्तिकाय समयव्याख्या टीका; गाथा-१३

१७. पंचास्तिकाय संग्रह, गाथ-१३

१८. वही; गाथा-५०

१९. वही; गाथा-५१

२०. पूर्वापरपर्याययोः साधारणमेकं द्रव्यम् । द्रवति तास्तान्पर्यायान्गच्छतीति व्युत्पत्त्या त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशस्तदूर्ध्वताः - सामान्यमिति अभिधीयते । स्याद्वाद रत्नाकरः पृष्ठ-७३२
परापरविवर्तव्यापी द्रव्यमूर्ध्वता सामान्यं मृदिव स्थासादिषु । परीक्षा मुख सूत्र ४/६

२१. एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामः पर्यायः आत्मनि हर्षविषादादिवत् । वही; सूत्र-४/९१

२२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक; पृष्ठ-३९४

२३. आप्तमीमांसा-५७

२४. हेतु बिन्दु टीका पृष्ठ-१०५ से न्यायविनिश्चयविवरण; भाग-१ पृष्ठ-४४६ पर उद्धृत ।

२५. वही; पृष्ठ ४४७ पर उद्धृत ।

२६. प्रमाणवार्तिक १/७२-७४

२७. वही २/३

२८. वही १/६२-६३

२९. सौगत सिद्धान्त सार संग्रह; पृष्ठ-१११

३०. न्यायकुमुदचन्द्र; पृष्ठ-३६५

३१. अष्टसहस्त्री; पृष्ठ-२०३

३२. युक्त्यानुशासन टीका; पृष्ठ-११७-८

३३. प्रवचनसार; गाथा-९६

३४. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका; गाथा-९६

३५. अष्टसहस्त्री; पृष्ठ-२२०

३६. वही; पृष्ठ-८९-९०

३७. वही; पृष्ठ-५४

३८. भावानां द्रव्यपर्यायशक्त्यात्मकत्वात्। तत्र द्रव्यशक्तिनित्यैव अनादिनिधन स्वभावत्वात् द्रव्यस्य। पर्यायशक्तिस्त्यनित्यैव सादिपर्यवसानत्वात् पर्यायाणाम् । न च शक्तेर्नित्यत्वे सहकारिकारणानपेक्षमैवार्थस्य कार्यकारित्वाभ्युपगमात् । पर्यायशक्तिसमन्विता हि द्रव्यशक्ति कार्यकारिणी विशिष्टपर्यायपरिणतस्यैव द्रव्यस्य कार्यकारित्व प्रतीतेः । तत्परिणतिश्चास्य सहकारिकारणापेक्षया इति पर्यायशक्तेस्वथैव भावात् न सर्वथा कायोत्पतिः प्रसंगः सहकारिकारणापेक्षवैयर्थ्यें का। प्रमेयकमलमार्तण्ड-पृष्ठ-२००

भावस्यैकस्य यावंति कार्याणि कालत्रयेपि साक्षात्पारम्पर्येण वा तावन्त्यः शक्तयः सम्भाव्यतः इत्यभिदध्महे.... । तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकः पृष्ठ-१५८

३९. शक्तिपर्यायाणामपरशक्तिपर्यायोपनिबन्धनं यदि नास्ति व्यक्तिपर्यायाणामपि न भवेत्। अस्ति चेत्ः अनवस्थानं इति चेत् सत्यम्ः अनवस्थिता एवं पर्यायः अनन्तशक्तिवात् अर्थस्य। न्यायविनिश्चयविवरण भाग-१, पृष्ठ-४३३१

४०. छान्दोग्य उपनिषद्, शांकर भाष्य, ६/२/२

४१. वही

४२. वही ३/१४/१

४३. अष्टसहस्त्री, पृष्ठ-२०६

४४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ-६८

४५. ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ-४० से न्यायविनिश्चयविवरण भाग-१ पृष्ठ-४६३ पर उद्धृत

४६. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, पृष्ठ-१५८

४७. आप्तमीमांसा, श्लोक-२४-२५

१२

द्रव्य, गुण और पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध : सिद्धसेन दिवाकरकृत 'सन्मति-प्रकरण' के विशेष सन्दर्भ में

श्रीप्रकाश पाण्डेय

सिद्धसेन दिवाकर (४वीं-५वीं शती) द्वारा विरचित 'सन्मति-प्रकरण' जैन दार्शनिक जगत् का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो श्वेताम्बर एवं दिगंबर दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से माना जाता है। आचार्य सिद्धसेन की इस प्राकृत रचना में नयों का विशुद्ध विवेचन, तर्क के आधार पर पंचज्ञान की परिचर्चा, प्रतिपक्षी दर्शन का भी सापेक्ष भूमिका पर समर्थन तथा सम्यक्त्वस्पर्शी अनेकान्त का युक्तिपुरस्सर प्रतिपादन इस ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य है। सन्मति-प्रकरण में कुल तीन कांड और १६७ गाथायें हैं। प्रथम नयकांड में ५४, द्वितीय जीवकांड में ४६ तथा तृतीय ज्ञेयकांड में कुल ६९ गाथायें हैं। प्रथम नयकांड में नयवाद की व्यापक चर्चा उनके भेदों सहित की गयी है। द्वितीय जीवकांड में ज्ञान तथा तृतीय ज्ञेयकांड में ज्ञेय की मीमांसा की गयी है। सन्मति की भाषा प्राकृत (महाराष्ट्री) तथा शैली पद्यमय है। सन्मति-प्रकरण के मुख्य विवेच्य नयवाद, द्रव्य-गुण-पर्याय, अनेकान्तवाद, प्रमाण, नय-निक्षेप सम्बन्ध योजना आदि विषय हैं। चूँकि हमारा अभीष्ट द्रव्य, गुण और पर्याय का पारस्परिक सम्बन्ध है, अतः सर्वप्रथम हम द्रव्य, गुण, पर्याय का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके पारम्परिक सम्बन्धों की चर्चा करेंगे।

द्रव्य का स्वरूप और प्रकार

द्रव्य की अवधारणा जैन तत्त्वमीमांसा का एक विशिष्ट अंग है। जो अस्तित्ववान है, वह द्रव्य कहलाता है। 'द्रु' धातु के साथ 'य' प्रत्यय के योग से निष्पन्न द्रव्य शब्द का अर्थ है — योग्य। जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, प्राप्त होता है, और प्राप्त होगा, वह द्रव्य है। जैनेन्द्र व्याकरण के अनुसार द्रव्य शब्द इवार्थक निपात है **'द्रव्यं भव्ये'**[१] इस जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रानुसार 'द्रु' की तरह जो हो वह द्रव्य है। जिस प्रकार बिना गांठ की लकड़ी बढ़ई आदि के निमित्त से कुर्सी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है, उसी प्रकार द्रव्य भी बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त

होता रहता है। कुन्दकुन्द ने निरुक्त की दृष्टि से विचार करते हुए मुख्य रूप से द्रव्य की दो कसौटियों का निर्देश किया है – जो उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहता है। **कुन्दकुन्द** ने निरुक्त की दृष्टि से विचार करते हुए मुख्य रूप से द्रव्य की दो कसौटियों का निर्देश किया है – जो उन-उन सद्भूत पर्यायों को प्राप्त करता है, तथा जो सत्ता से अनन्यभूत हो, वह द्रव्य है। **उमास्वाति** ने द्रव्य का लक्षण सत् तथा '**उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं**' किया है[२] अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होते हुए भी ध्रुव या नित्य रहता है – वह द्रव्य है[३]। ध्रौव्य स्वभावमय नित्य, परिणमनशील अर्थ में प्रयुक्त होने वाले इस द्रव्य के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं यथा – सत्ता, सत् या सत्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि ये नौ शब्द सामान्यतः द्रव्य शब्द के वाचक हैं। जैन दर्शन में सत् और द्रव्य पर्यायवाची हैं। सांख्य इसे प्रकृति पुरुष के अर्थ में, चार्वाक भूतचतुष्टय के अर्थ में और न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद के रूप में द्रव्य शब्द को ग्रहण करते हैं। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य सत् है और द्रव्य का स्वभाव है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का ऐक्य परिणाम। आगमों में सत् के स्थान पर 'अस्तिकाय' और 'द्रव्य' इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा जाता है। द्रव्य की सर्वप्रथम परिभाषा **उत्तराध्ययन** (२८/६) में है, जहाँ '**गुणानां आसवो दव्वो**' कहकर गुणों के आश्रयस्थल को द्रव्य कहा गया है। किन्तु इसके पूर्व की गाथा में यह भी कहा गया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय सभी को जानने वाला ज्ञान है (उत्त० २८/५)। **उत्तराध्ययन** की यह परिभाषा न्याय-वैशेषिक दर्शन के अधिक निकट है। द्रव्य की अन्य परिभाषा '**गुणानां समूहो दव्वो**' और '**गुणपर्यायवद्द्रव्यम्**' के रूप में भी मिलती है। अतः द्रव्य के स्वरूप की दृष्टि से विचार करने पर मुख्य रूप से दो अवधारणायें उभरकर सामने आती हैं – द्रव्य का सत् अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होना तथा गुण और पर्याय युक्त होना। दोनों ही परिभाषायें आचार्य **उमास्वाति** (२सरी-३सरी शती) ने अपने **तत्त्वार्थसूत्र** में दी है। इसी को और स्पष्ट करते हुए **कुन्दकुन्द** ने **प्रवचनसार** (९५-९६) में कहा है कि 'जो अपरित्यक्त स्वभाववाला उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त तथा गुण, पर्याय सहित है, वह द्रव्य है। **अनुयोगद्वार** में नाम के अन्तर्गत-द्रव्यनाम, गुणनाम और पर्यायनाम इन तीन प्रकारों का उल्लेख है[४]। वहाँ द्रव्य के अर्थ में सत् संज्ञा उपलब्ध नहीं होती। उमास्वाति ने अन्य भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में स्वीकृत सत् की अवधारणा का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए सत् का स्वरूप निर्धारित किया जो मुख्यतया अनेकान्तवाद पर आधारित है। जैन दर्शन सत् का आधार न केवल नित्यता या अनित्यता बल्कि नित्यानित्यता मानता है। डॉ० **पद्मराजे** ने सत् की आवधारणा के आधार पर भारतीय दर्शनों को पाँच वर्गों में विभक्त किया है –

> The Philosophy of Being or Identity,
> The Philosophy of Becoming (change) or difference,
> The Philosophy subordinating identity to difference,
> The Philosophy subordinating difference to identity.
> The Philosophy co-ordinating both identity and dirrerence[५]

उपर्युक्त पंच अवधारणाओं में से जैन अवधारणा का उल्लेख पांचवें वर्ग में किया है। जैन दर्शन के अनुसार सत् वह है, जो भेद और अभेद सापेक्ष हो। उमास्वाति की सत् की परिभाषा में उत्पादव्ययध्रौव्यत्व[६] और गुणपर्यायात्मकत्व दोनों का समावेश हो जाता है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों की संयुक्त अवस्था को द्रव्य कहा है[७]। अन्यत्र द्रव्य के परिमाणात्मक स्वरूप की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं – एक द्रव्य के भीतर जो अतीत, वर्तमान और अनागत अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय होती है, वह द्रव्य उतना ही होता है[८]। सिद्धसेन ने द्रव्य के सन्दर्भ में पर्याय की चर्चा की है गुण की नहीं, क्योंकि वे मूलतः गुण और पर्याय को अभिन्न मानते हैं। जैन दर्शन में द्रव्य के छः प्रधान भेद किये गये हैं – जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। द्रव्य के दो भेद संयोग और समवाय द्रव्य भी मिलते हैं[९]। इसके अतिरिक्त द्रव्य के मूर्त-अमूर्त, क्रियावान-भाववान, एक-अनेक अपेक्षा परिणामी व नित्य अपेक्षा, सप्रदेशी-अप्रदेशी, क्षेत्रवान-अक्षेत्रवान, सर्वगत-असर्वगत आदि भेद भी मिलते हैं।

गुण स्वरूप और प्रकार

द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहते हैं। आगम साहित्य में मूलतः द्रव्य और पर्याय की चर्चा है। कहीं-कहीं गुण की भी चर्चा उपलब्ध होती है, किन्तु वहाँ गुण का वह अर्थ अभिप्रेत नहीं है जो वर्तमान सन्दर्भ में विवक्षित है। **आचारांग सूत्र** में एक स्थल पर आया है – **'जे गुणे से आवट्टे'**[१०]। यहाँ गुण का अर्थ इन्द्रिय-विषय है। इसी प्रकार **व्याख्याप्रज्ञप्ति** में पंचास्तिकाय के सन्दर्भ में 'गुण' शब्द का प्रयोग अनेकशः हुआ है, किन्तु वहाँ गुण का अर्थ सहभावी धर्म के अर्थ में न होकर उपकारक शक्ति के अर्थ में है। प्राचीन आगम साहित्य में सहभावी व क्रमभावी-दोनों ही धर्मों का पर्याय पद से निरूपण किया गया है। **अनुयोगद्वार** और **उत्तराध्ययन** में 'गुण' का ज्ञेय के सन्दर्भ में स्वतंत्र निरूपण हुआ है पर **अनुयोगद्वार** और **उत्तराध्ययन** की परम्परा उत्तरकालीन है। **उत्तराध्ययन** सूत्र में द्रव्य को गुणों का आश्रय न मानकर गुणों को एकमात्र द्रव्याश्रित सिद्ध किया है। वस्तुतः गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं, यह परिभाषा गुणों का द्रव्य के साथ नैरन्तर्य सूचित करती है।

उत्तराध्ययन में गुण और पर्याय का स्वतंत्र लक्षण किया गया है। **उमास्वाति** ने भी द्रव्य की परिभाषा में गुण और पर्याय दोनों का उल्लेख किया है। गुण की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि **'द्रव्याश्रया निर्गुण गुणाः'**[११]। **उमास्वाति** की इस परिभाषा में निर्गुण विशेषण का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। यह परिभाषा सामान्यतया आत्मविरोधी सी प्रतीत होती है, किन्तु इस परिभाषा की मूलभूत दृष्टि यह है कि यदि हम गुण का भी गुण मानेंगे तो अनवस्था दोष का प्रसंग आयेगा। द्रव्य के साथ गुणों की अपरिहार्यता है, किन्तु गुण में गुणों का सद्भाव नहीं है। वैशेषिक दर्शन में गुण की द्रव्य से स्वतन्त्र सत्ता मानी गयी है। उनके अनुसार द्रव्य जब उत्पन्न होता है तब प्रथम क्षण में वह निर्गुण होता है। बाद में समवाय के द्वारा द्रव्य और गुण का सम्बन्ध स्थापित होता है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य गुण का अविनाभावी सम्बन्ध है। जिस प्रकार द्रव्य की गुणों से पृथक् कोई सत्ता नहीं है उसी प्रकार गुणों की द्रव्य से पृथक् कोई अभिव्यक्ति नहीं होती। **भट्ट अकलंक** ने **"नित्यं द्रव्यमाश्रित्य ये वर्तन्ते ते गुणा इति"** कह कर गुण की परिभाषा की है।

गुण के भेद

गुण के दो भेद किये हैं – १. सामान्य या साधारण गुण तथा २. विशेष या असाधारण गुण। जो गुण समस्त द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं, सामान्य गुण कहलाते हैं। साधारण या सामान्य गुणों से केवल द्रव्यत्व की सिद्धि होती है और विशेष गुणों से द्रव्य विशेष की सिद्धि होती है जैसे - चैतन्य गुण जीव द्रव्य में ही होता है, शेष पांच द्रव्यों में नहीं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व ये दस सामान्य गुण पाये जाते हैं। प्रवचनसार की **तात्पर्यवृत्ति** के अनुसार अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोकृत्व. अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण हैं[१२]। **नयचक्र, आलापपद्धति, द्रव्यानुयोगतर्कणा** आदि ग्रन्थों में उपर्युक्त सामान्य गुणों के अतिरिक्त चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व चार सामान्य गुणों का उल्लेख और मिलता है।

विशेष गुण वे हैं जो समस्त द्रव्यों में समान रूप से उपलब्ध नहीं होते। वे विशेषताएं या लक्षण जिनके आधार पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से अलग किया जा सकता है, विशिष्ट गुण कहे जाते हैं। इन विशेष गुणों की संख्या सोलह है – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, गतिहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व, चेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व। इनमें से जीव व पुद्गल में छः-छः तथा शेष चार द्रव्यों में तीन-तीन होते हैं। **प्रवचनसार** टीका **तात्पर्यवृत्ति** के अनुसार अवगाहनाहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व आदि विशेष गुण हैं। ये क्रमशः आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव के विशेष गुण हैं। द्रव्य के अनुसार उसके गुण भी मूर्त्त, चेतन होते हैं। **अकलंक** ने अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायत्व, असर्वगतत्व, अनादिसन्तति- बन्धनबन्धत्व, प्रदेशत्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदि भावों को पारिणामिक भाव कहा है[१३]। गुण परिणमनशील हैं, किन्तु एकगुण अन्य गुण रूप परिणमन नहीं करता।

पर्याय स्वरूप और प्रकार

द्रव्य के विकार अथवा अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार द्रव्य में घटित होने वाले विभिन्न परिवर्तन ही पर्याय कहलाते हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है, परणमन करती है, वह पर्याय है[१४]। दूसरी परिभाषा के अनुसार जो द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहता है, उसे पर्याय कहा जाता है[१५]। जिस प्रकार द्रव्य का सहभावी धर्म गुण कहलाता है उसी प्रकार द्रव्य का क्रमभावी धर्म पर्याय कहलाता है, जैसे–सुख, दुःख और हर्ष आदि। दूसरे शब्दों में कहें तो द्रव्य का अन्वयी अंश गुण और व्यतिरेकी अंश पर्याय कहलाता है। द्रव्य भेद में अभेद का प्रतीक है, जबकि पर्याय अभेद में भेद का। कहा भी गया है '**परिसमन्तादायः पर्यायः**[१६]' अर्थात् जो सब ओर से भेद को प्राप्त करे, वह पर्याय है। **पूज्यपाद** ने पर्याय, विशेष, अपवाद, व्यावृत्ति को एकार्थक बताया है[१७]। पर्याय के लिये 'परिणाम' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। ऊर्ध्वतासामान्य रूप द्रव्य की

पर्यायों को परिणाम कहा जाता है। ऊर्ध्वतासामान्य का अर्थ है – कालकृत भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में समानता *की अनुभूति। जैसे द्रव्यार्थिकनय से जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक नय से अशाश्वत है।* ***उमास्वाति*** ने भी पर्याय के अर्थ में परिणाम का प्रयोग किया है[१८]। एक धर्म की निवृत्ति होने पर इतर धर्म की *उत्पत्तिरूप द्रव्य की जो परिस्पन्दनात्मक पर्याय है, उसे ऊर्ध्वतासामान्य परिणाम कहते हैं।*

पर्यायों के प्रकारों की आगमिक आधारों पर चर्चा करते हुए ***मुनि कन्हैयालाल 'कमल'*** *ने* **द्रव्यानुयोग** (पृ०३८) में कहा है कि **प्रज्ञापनासूत्र** में पर्याय के दो भेद प्रतिपादित हैं – (१) जीव पर्याय तथा (२) अजीव पर्याय। ये दोनों प्रकार की पर्यायें अनंत होती हैं। पुनः पर्याय के दो भेद हैं – द्रव्य पर्याय और गुण पर्याय[१९]। अनेक द्रव्यों में ऐक्य का बोध कराने में कारणभूत द्रव्य पर्याय है। गुणपर्याय वह है जो गुण के द्वारा अन्वय रूप एकत्व प्रतिपत्ति का कारणभूत होती है। एक अन्य अपेक्षा से पर्याय के दो भेद किये गये हैं – १. अर्थ पर्याय और २. व्यञ्जन पर्याय। भेदों की परम्परा में जितना सदृश परिणाम प्रवाह किसी एक शब्द के लिए वाच्य बनकर प्रयुक्त होता है, वह पर्याय व्यञ्जन पर्याय कहलाता है तथा परम्परा में जो अन्तिम और अविभाज्य है, वह अर्थ पर्याय कहलाता है जैसे चेतन पदार्थ का सामान्य रूप जीवत्व है। काल कर्म आदि के कारण उनमें उपाधिकृत संसारित्व, मनुष्यत्व, पुरुषत्व आदि भेदों वाली परम्पराओं में से पुरुष शब्द का प्रतिपाद्य जो सदृश पर्याय प्रवाह है, वह व्यञ्जन पर्याय तथा पुरुष रूप में सदृश पर्याय के अन्तर्गत दूसरे बाल, युवा आदि जो भेद हैं, उन्हें अर्थपर्याय कहते हैं[२०]। दूसरे शब्दों में कहें तो एक ही पर्याय की क्रमभावी पर्यायों को अर्थ पर्याय तथा पदार्थ की उसके विभिन्न प्रकारों एवं भेदों में जो पर्याय होती है, उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। इनमें से व्यञ्जन पर्याय स्थूल और दीर्घकालिक पर्याय है तथा अर्थ पर्याय सूक्ष्म और वर्तमानकालिक पर्याय है। अर्थ पर्याय-मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्यों में होती है, जबकि व्यञ्जन पर्याय का सम्बन्ध केवल मूर्त अथवा संसारी जीव व पुद्गल के साथ ही है। पर्यायों का एक विभाजन स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय के रूप में भी मिलता है – जो पर्याय परनिमित्तों से निरपेक्ष होती है, उसे स्वभाव पर्याय तथा जो परनिमित्तों से सापेक्ष होती है उसे, विभाव पर्याय कहा जाता है। पर्याय के लक्षण हैं – एकत्व, पृथकत्व, संख्या, संस्थान, संयोग तथा विभाग[२१]। पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं पायी जाती, किन्तु वह द्रव्य स्वरूप ही उपलब्ध होती है।

द्रव्य और गुण का सम्बन्ध

द्रव्य और गुण के सम्बन्ध को लेकर भारतीय दर्शन में मुख्य रूप से दो अवधारणायें उपलब्ध होती हैं। उनमें से एक अवधारणा एकान्ततः भिन्नता को आधार मानती है तो दूसरी एकान्ततः अभिन्नता को। एकान्त भेद को मानने वाले वैशेषिकों के अनुसार द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न हैं। आद्य क्षण में द्रव्य निर्गुण होता है तदनन्तर समवाय नामक पदार्थ के द्वारा दोनों में सम्बन्ध स्थापित होता है। द्रव्य और गुण की इस पृथकता के दो मुख्य कारण हैं –

१. लक्षण की भिन्नता
२. ग्राहक प्रमाण की भिन्नता

वैशेषिकों का कहना है कि द्रव्य और गुण के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य गुणों का आधार है, जबकि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं। द्रव्य गुणवान होता है, जबकि गुण निर्गुण होते हैं। द्रव्य क्रियावान होता है, जबकि गुण निष्क्रिय होते हैं। अतः दोनों नितान्त भिन्न हैं[२२]। इसी प्रकार गुण और द्रव्य के ग्राहक प्रमाण भी भिन्न-भिन्न हैं। घट, पट आदि द्रव्यों का ग्रहण एक से अधिक इन्द्रियों द्वारा होता है और इसमें मानसिक अनुसंधान भी साथ होता है। जबकि रूप, रस, गन्ध आदि गुणों का ग्रहण एक इन्द्रिय सापेक्ष होता है तथा इसमें मानसिक अनुसंधान भी नहीं होता। इस प्रकार दोनों के लक्षण और ग्राहक प्रमाण भिन्न होने से दोनों पृथक् हैं।

सिद्धसेन दिवाकर ने एकान्तभेदवादी वैशेषिकों की इस दलील को **सन्मति-प्रकरण** में 'कई' (केचिद्) शब्द द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में रखा है –

रूप-रस-गंध-फासा असमाणग्गहण-लक्खणा जम्हा ।
तम्हा दव्वाणुगया गुण त्ति ते केइ इच्छन्ति ॥[२३]

वृत्तिकार, **अभयदेवसूरि** ने अपने '**सन्मति-तर्क-प्रकरणम्**' में 'केइ' पद की व्याख्या में भेदवादी वैशेषिकों तथा 'स्वयूथ्य' अर्थात् कतिपय सिद्धान्त से अनभिज्ञ जैनाचार्यों का ग्रहण किया है। **पं० सुखलालजी** एवं **बेचरदासजी** ने वृत्तिकाकार के अभिमत की समीक्षा की है। उनकी मान्यता है कि द्रव्य को गुणों से भिन्न मानने वाला कोई जैनाचार्य तो सम्भव नहीं है[२४]। **उपाध्याय यशोविजय** ने अपने '**द्रव्य-गुण पर्याय नो रास**'[२५] में **कोइक दिगंबरानुसारी शक्तिरूप गुण भाषइ छइ, जे माटे ते... गुण पर्याय नुं कारण गुण**' कह कर किसी दिगम्बर विद्वान द्वारा भेद की परम्परा मानने का उल्लेख किया है, किन्तु यह दिगम्बर विद्वान कौन है ? यह कहना सर्वथा कठिन है। क्योंकि द्रव्य और गुण में सर्वथा भेद जैन दर्शन की अनेकान्त व्यवस्था के नितान्त प्रतिकूल है। फिर भी यह कल्पना की जा सकती है कि द्रव्य और गुण में भेद स्वीकारने वाले वैशेषिकों से प्रभावित रहे होंगे।

इस एकान्त भेदभाव का प्रबल खण्डन **उमास्वाति, सिद्धसेन, अकलंक, कुन्दकुन्द, हरिभद्र** आदि आचार्यों ने किया है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक व्यपदेश, संख्या, संस्थान, विषय आदि के आधार पर द्रव्य और गुण को भिन्न बतलाते हैं, किन्तु **कुन्दकुन्दाचार्य** के अनुसार व्यपदेश, संख्या, संस्थान, विषय आदि जिस तरह भेद में होते हैं, उसी तरह अभेद में भी होते हैं। जहाँ अनेक द्रव्यों की अपेक्षा प्रतिपादन हो वहाँ व्यपदेश आदि का भेद भेदवाद का प्रतीक बन जाता है। जहाँ एक ही द्रव्य की अपेक्षा कथन हो वहाँ व्यपदेश आदि अभेद का प्रतीक बन जाता है[२६]। अतः द्रव्य और गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। सर्वथा भेद वहीं होता है जहाँ प्रदेश भेद हो। जिस प्रकार स्वर्ण और पीत में संज्ञा आदि का भेद होने पर भी प्रदेश भेद नहीं है, उसी प्रकार द्रव्य और गुण में भी प्रदेश भेद नहीं है। वैशेषिकों का यह तर्क कि धर्म और धर्मी सर्वथा भिन्न होने पर भी समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं, जैन दर्शन को मान्य नहीं है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि एक तो समवाय की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, यदि समवाय की स्वतन्त्र सत्ता मान भी लें तो जिस प्रकार पट में पटत्व का हेतु समवाय है, उसी प्रकार समवाय में समवायत्व

के संबन्ध का हेतु कोई दूसरा समवाय होना चाहिए। इसी तरह दूसरे समवाय में समवायत्व के संबन्ध का हेतु कोई तीसरा समवाय मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी। यदि कहा जाय कि समवाय में समवायत्व का होना अपेक्षित नहीं है तो समवाय निःस्वभाव हो जायेगा। अतः धर्म और धर्मी को सर्वथा भिन्न मानना और फिर उसमें समवाय सम्बन्ध मानना कथमपि युक्तियुक्त नहीं है। जैन दर्शन ऐसे पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध मानता है[२७]। जैनों के अनुसार गुण से रहित होकर न तो द्रव्य की कोई सत्ता होती है, न द्रव्य से रहित गुण की। अतः सत्ता के स्तर पर गुण और द्रव्य में अभेद है, जबकि वैचारिक स्तर पर दोनों में भेद किया जा सकता है[२८]।

सिद्धसेन दिवाकर का अभिमत

सिद्धसेन दिवाकर अनेकान्तवाद के प्रतिष्ठापक होने के कारण द्रव्य और गुण के भेदाभेद सम्बन्ध को सापेक्षता के आधार पर समाहित करते हैं। जैनों की '**उत्त्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्**' की व्याख्या को आधार बनाकर भेदवादी कहते हैं कि द्रव्य का लक्षण है स्थिरता और गुण का लक्षण है – उत्पाद व्यय, अतः दोनों के लक्षण भिन्न होने से दोनों भिन्न हैं। **सिद्धसेन** के अनुसार इस अवधारणा में अव्याप्तिदोष है। द्रव्य की तरह गुण भी स्थिर रहते हैं और गुण की तरह द्रव्य का भी उत्पाद-व्यय देखा जाता है, किन्तु मात्र स्थिरता को द्रव्य का, एवं उत्पत्ति-विनाश को गुण का लक्षण बताना अव्याप्तिदोष है। यह लक्षण केवल द्रव्य और केवल गुण में भिन्न-भिन्न घटेगा, किन्तु एक समग्र सत् में नहीं[२९]। **सिद्धसेन** की मान्यता है कि धर्मी और धर्म केवल एकान्त भिन्न नहीं हैं, वे परस्पर अभिन्न भी हैं। धर्मी भी, धर्म की भांति उत्पाद-विनाशवान ही है और धर्म भी धर्मी की भाति स्थिर है। अतः द्रव्य या सत् धर्म-धर्मी उभय रूप है। वे तर्क देते हैं कि यदि गुण द्रव्य से भिन्न हैं तो या वे मूर्त होंगे या अमूर्त। यदि मूर्त हों तो परमाणु भी इन्द्रियग्राह्य बन जायेंगे जो सम्भव नहीं है और यदि अमूर्त हों तो उनका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण ही सम्भव नहीं होगा, जबकि घट, पट, नील आदि का प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है, अतः द्रव्य को गुणों से भिन्न नहीं माना जा सकता[३०]। **सिद्धसेन** के अनुसार उपर्युक्त दोषापत्ति से बचने का श्रेयस्कर मार्ग है–भेदाभेद की स्वीकृति। भेदाभेद मानने पर मूर्त-अमूर्त का प्रश्न स्वतः समाहित हो जाता है। **सिद्धसेन दिवाकर** ने मूर्त-अमूर्त की भेद रेखा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की सहभाविता से अलग इन्द्रियों की ग्राह्यता व अग्राह्यता के आधार पर निर्धारित की है। **कुन्दकुन्द** ने भी मूर्त को इन्द्रियग्राह्य और अमूर्त को इन्द्रिय अग्राह्य कहा है[३१]। **सन्मतिकार** ने मूर्त और अमूर्त के परिप्रेक्ष्य में मूलतः परमाणु का उल्लेख किया है। जहाँ तक परमाणु के इन्द्रियग्राह्य न होने का प्रश्न है, **सिद्धसेन** का विचार आगम सम्मत है, पर जहाँ वे मूर्त-अमूर्त की भेदक कसौटी के रूप में इन्द्रियग्राह्यता को आधार बनाते हैं, वहाँ वे आगम परम्परा से भिन्न जाते प्रतीत होते हैं।

द्रव्य और गुण का एकान्त अभेदवाद

भेदवादी द्रव्य की निरंश अखंड सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार द्रव्य में गुणकृत विभाग नहीं होते। द्रव्य और गुण परस्पर अव्यतिरिक्त होने से अभिन्न हैं। अद्वैत वेदान्ती, सांख्य और मीमांसक वस्तु

को सर्वथा सामान्य मानते हैं । उनके मत में सामान्य से अलग विशेष कहीं दृष्टिगोचर ही नहीं होते । वे मानते हैं कि सामान्य से अलग विशेषों का अस्तित्व मानने पर प्रश्न उठता है कि विशेषों में विशेषत्व होता है या नहीं ? यदि विशेषों में विशेषत्व होता है तो कहना होगा कि वही विशेषत्व सामान्यवादियों का सामान्य है । यदि वह कहें कि विशेषों में विशेषत्व नहीं होता तो विशेष निःस्वभाव हो जायेंगे । अतः सामान्य ही सत् है[३२] ।

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु तत्त्व न तो केवल सामान्य है न केवल विशेष बल्कि वह सामान्य-विशेषात्मक है । विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष खरविषाणवत् असंभव है । द्रव्य, गुण और पर्याय में से अभेदवादी केवल द्रव्य को ही पदार्थ मानते हैं । गुण और पर्याय के आधार पर होने वाली भिन्नता उनकी दृष्टि में मिथ्या अथवा प्रतिभास मात्र है । जैन दार्शनिक द्रव्य को गुणपर्यायवत् मानने से द्रव्य और गुण का नितान्त अभेद स्वीकार नहीं करते[३३] । **डो. महेन्द्रकुमार जैन** के अनुसार द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता, इसलिए वे द्रव्य से अभिन्न हैं । किन्तु प्रयोजन आदि भेद से उसका अभिन्न रूप से निरूपण किया जा सकता है, अतः वे भिन्न भी हैं[३४] ।

सिद्धसेन दिवाकर का अभिमत

सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार द्रव्य और गुण दोनों परस्पर भिन्नाभिन्न हैं । द्रव्य और गुण में न तो एकान्त अभेद है न एकान्त भेद । सामान्य और विशेष दोनों परस्पर अनुविद्ध हैं । एकान्त सामान्य अथवा एकान्त विशेष के प्रतिपादन का अर्थ होगा द्रव्यरहित पर्याय और पर्यायरहित द्रव्य का प्रतिपादन । वस्तुतः कोई भी विचार या वचन एकान्त सामान्य या विशेष के आधार पर प्रवृत्ति नहीं कर सकता । दोनों सापेक्ष रहकर ही यथार्थ का प्रतिपादन कर सकते हैं । वृत्तिकार **अभयदेवसूरि** नियम का उल्लेख करते हैं – **यत् यदात्मकं भवति तत् तद्भावे न भवति**[३५] । **सिद्धसेन** कहते हैं कि सामान्य के अभाव में विशेष का और विशेष के अभाव में सामान्य का सद्भाव कथमपि सम्भव नहीं है । जिस प्रकार एक ही पुरुष सम्बन्धों की भिन्नता के कारण पिता, पुत्र, भान्जा, मामा आदि के रूप में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा पुकारा जाता है, उसी प्रकार एक और निर्विशेष होने पर भी सामान्य भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के सम्बन्ध से भिन्न रूप में व्यहृत होता है । वही सामान्य जब नेत्रग्राह्य होता है तो रूप, एवं श्रोतग्राह्य होता है तो शब्द कहलाता है । अतः गुण वस्तुतः द्रव्य से भिन्न नहीं है, परमार्थतः सत्ता द्रव्य की ही है[३६] ।

सन्मति-प्रकरण में **सिद्धसेन** ने अभेदवादी के उपर्युक्त मन्तव्य को पूर्वपक्ष में रखकर खण्डन किया है । वे अभेदवादी विचार का इस अंश तक तो समर्थन करते हैं कि सम्बन्ध विशेष के कारण वही सामान्य द्रव्य भिन्न-भिन्न रूपों में व्यवहृत होता है, परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि जहाँ एक ही इन्द्रिय के सम्बन्ध से सम्बद्ध दो वस्तुओं में विषमता परिलक्षित होती है, वहाँ इसकी उपपत्ति कैसे हो । उदाहरणार्थ – एक समान दो कृष्ण पदार्थों का चक्षु के साथ सम्बन्ध होने पर 'ये कृष्ण वर्ण वाले हैं' इतना तो बोध हो जाता है पर वह किसी दूसरे कृष्ण पदार्थ से अनन्तगुणा कृष्ण है या असंख्यगुणा इस भेद का ज्ञान सम्बन्ध मात्र से कैसे होगा ? एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न सम्बन्धों के कारण पिता, पुत्र, भाई, मामा के रूप

में पहचाना तो जाता है, परन्तु वही पुरुष एक की अपेक्षा लम्बा और दूसरे की अपेक्षा छोटा या मोटा, दुबला आदि कैसे घटित होगा इस विषमता को प्रतिभास या कल्पना भी नहीं कहा जा सकता है[३७]। आगमों में भी एक परमाणु का दूसरे परमाणु का अनन्तगुणा भेद वर्णित है। इसी प्रकार वर्ण, रस, गन्ध आदि के अवान्तर भेदों में षड्गुण हानि-वृद्धि की दृष्टि तारतम्य निरूपित है, अतः यह मात्र कल्पना या आरोपण नहीं है। इस प्रकार द्रव्य और गुणों के बीच एकान्त भेद या अभेद न मानकर भेदाभेद ही मानना चाहिए।

गुण और पर्याय : एकार्थक या भिन्नार्थक

यहाँ यह एक विचारणीय प्रश्न है कि गुण और पर्याय एकार्थक है या भिन्नात्मक। **उत्तराध्ययन सूत्र** में द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों का स्वतन्त्र लक्षण निरूपित है[३८]। **उमास्वाति, कुन्दकुन्द** और **पूज्यपाद** ने द्रव्य और गुण तथा गुण और पर्याय में अर्थभेद बताया है। अर्थ कहने से द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों का ग्रहण होता है। **सिद्धसेन दिवाकर** ने गुण और पर्याय का अभेदपक्ष स्वीकार किया है। उन्होंने द्रव्य और पर्याय इन दो को ही मान्य किया है। उनका यह विचार आगम सम्मत है –

> **दो उण णया भगवया दव्वट्ठिय-पज्जवाट्ठिया नियमा।**
> **एत्तो य गुणविसेसे गुणट्ठियणओ वि जुज्जंतो।**
>
> **जं पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं।**
> **पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया ॥**[३९]

अर्थात् भगवान ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही नय निश्चित किये हैं। यदि पर्याय से भिन्न गुण होता तो गुणार्थिक नय भी उन्हें निश्चित करना चाहिए था। चूँकि अर्हतों ने उन-उन सूत्रों में गौतम आदि के समक्ष पर्याय संज्ञा निश्चित करके उसी का विवेचन किया है, अतः पर्याय से भिन्न गुण नहीं है। ध्यातव्य है कि पर्यायार्थिक नय से भिन्न गुणार्थिक नय की उद्भावना करते हुए गुण का निरास तथा गुण और पर्याय में अभेद प्रस्थापना का सर्वप्रथम प्रयास **सिद्धसेन** ने किया है। **अकलंक** और **विद्यानन्दी** ने भेद-अभेद दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। **अकलंक** ने **'गुणपर्यायवत्द्रव्यम्'** की परिभाषा में लिखा है कि गुण ही पर्याय है, क्योंकि गुण और पर्याय दोनों में समानाधिकरण्य है। प्रश्न हो सकता है कि गुण और पर्याय जब एकार्थक हैं तो **'गुणवत्द्रव्यम्'** या **'पर्यायवत्द्रव्यम्'** ऐसा निर्देश होना चाहिए था – **गुणपर्यायवद्द्रव्यम्** क्यों। इसका समाधान करते हुए वार्तिककार लिखते हैं कि वस्तुतः द्रव्य से भिन्न गुण उपलब्ध नहीं होते। द्रव्य का परिणमन ही पर्याय है और गुण उसी परिणमन की एक अभिव्यक्ति है। तत्त्वतः गुण और पर्याय में अभेद है।

द्रव्य और पर्याय का भेदाभेदवाद

द्रव्य में गुण और पर्याय दोनों रहते हैं। गुण का अर्थ है-सहभावी धर्म या हमेशा रहने वाले धर्म तथा पर्याय का अर्थ है क्रमभावी धर्म या परिवर्तन को प्राप्त होते रहने वाले धर्म। **सिद्धसेन** ने आगमिक संदर्भों के आधार पर गुण और पर्याय के द्वैत का निराकरण कर दोनों की एकार्थता सिद्ध की। अब जब गुण और पर्याय एक हैं तो द्रव्य और पर्याय का क्या संबन्ध है, यह प्रश्न विचारणीय है।

न्याय-वैशेषिक आदि भेदवादी होने के कारण गुण, कर्म आदि का द्रव्य से भेद मानते हैं तथा सांख्य और वेदान्ती उनका अभेद। जैन दार्शनिक दोनों में भेदाभेद का सम्बन्ध मानते हैं। **आचारांग** में कहा गया है – **'जो आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया'**[४०] अर्थात् जो आत्मा है, वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वही आत्मा है। प्रथमदृष्ट्या यह सूत्र अभेद का वाचक प्रतीत होता है पर जैसा कि निर्युक्तिकार ने कहा है – **'णत्थि जिणवयणं णयविहूणं'** किसी भी कथन के हार्द को सापेक्षता के आधार पर ही समझा जा सकता है। ज्ञान आत्मा का परिणाम विशेष है जो बदलता भी रहता है, अतः पर्याय दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं, किन्तु फल की दृष्टि से विचार करें तो आत्मा की ज्ञान से अभिन्नता सिद्ध होती है। ज्ञान का फल है विरति। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता और न ही विरति इसलिए उसका ज्ञान अज्ञान कहलाता है। **भगवतीसूत्र** में **'आया भंते सिय णाणे, सिय अण्णाणे, णाणे पुण नियमं आया'** कहकर सूत्रकार ने आत्मा को ज्ञान से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है[४१]। आत्मा ज्ञान का परिणाम है, अतः वह नियमतः आत्मा ही है। इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय दोनों कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं। **सिद्धसेन दिवाकर** के अनुसार द्रव्यार्थिक नय का विषय है – द्रव्य और पर्याय दोनों कथंचित भिन्न और कथंचित अभिन्न हैं। **सिद्धसेन** का मत है **कि** दोनों नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों में से किसी एक नय का विषय सत् का लक्षण नहीं बनता। सामान्य और विशेष मिलकर ही सत् का लक्षण बनते हैं, अतः द्रव्य और पर्याय दोनों भिन्नाभिन्न हैं।

द्रव्य : उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समन्वय

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस परिभाषा के अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की समन्वित अवस्था ही सत् या द्रव्य कहलाती है। **स्थानांग**[४२] में इसे मातृकापद कहा गया है। जिस प्रकार समस्त शास्त्रों का आधार अकार आदि वर्णाक्षर हैं, उसी प्रकार समस्त तत्त्वमीमांसा का आधार यह त्रिपदी है। अन्यत्र यह **'उप्पन्नेइ वा विगमइ वा धुवेई वा'** इस रूप में भी प्राप्त होता है। **सिद्धसेन दिवाकर** ने **उमास्वाति** के द्रव्य के लक्षण को यथावत् माना है। उनकी विशेषता यह है कि वे पूर्व प्रचलित द्रव्य के स्वरूप को यथावत् स्वीकार करते हुए भी उसका नय दृष्टि से विवेचन करते हैं। **सन्मति-प्रकरण** के अनुसार पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से सभी पदार्थ सर्वदा के लिए उत्पत्ति और विनाश रहित ही हैं। उत्पत्ति और नाश रूप पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं होता और द्रव्य अर्थात् ध्रुवांश से रहित कोई पर्याय नहीं होती। कहा भी है–

दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं[४३] ॥

यह त्रिपदी ही वस्तु की अनंतधर्मात्मकता का आधार है। वस्तु के त्रयात्मक स्वरूप का समर्थन **समन्तभद्र**[४४], **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण**[४५], **अमृतचंद्रसूरि**[४६], **जिनदासगणि**[४७] तथा **अभयदेवसूरि**[४८] आदि जैन दार्शनिकों ने भी किया है।

उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य का भेदाभेदवाद

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समन्वित रूप ही द्रव्य या सत् है। परन्तु इन तीनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है, ये तीनों एक साथ होते हैं या क्रम से, तीनों का काल भिन्न है या अभिन्न ? आदि प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। **उमास्वाति** ने **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** कह कर सत् की अवधारणा तो दी, लेकिन उत्पाद आदि के परस्पर सम्बन्ध की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की। **सिद्धसेन दिवाकर** ने इस अवधारणा पर नयदृष्टि से विचार किया है। उनके अनुसार—

तिण्णि वि उप्पायाई अभिण्णकाला या भिण्णकाला य।
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा ॥[४९]

अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों का काल भिन्न भी और अभिन्न भी। इसी प्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप यह लक्षण भी लक्ष्यभूत द्रव्य या सत् से भिन्न भी है और अभिन्न भी। क्रमवर्ती दो पर्यायों को लेकर उनके उत्पाद और विनाश का यदि विचार करें तो उन्हें समकालीन कहा जा सकता है, क्योंकि जिस समय पूर्व पर्याय का विगम (नाश) होता है, उसी समय उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है। उत्पाद और विनाश के समय वस्तु सामान्य धर्म की अपेक्षा स्थिर रहती है, अतः तीनों अभिन्नकालिक हैं[५०]। यदि हम एक ही पर्याय की दृष्टि से विचार करें तो उत्पाद आदि तीनों को भिन्नकालिक मानना होगा। क्रमवर्ती पर्यायों में जहाँ पूर्व पर्याय का अन्तिम क्षण ही उत्तर पर्याय का आदि क्षण होता है वहीं एक ही पर्याय का आदि क्षण और अन्तिम क्षण भिन्न-भिन्न होता है। मृत्तिका के नाश वे घट के उत्पाद का एक ही समय हो सकता है, पर घट के उत्पाद और घट के विनाश का एक समय नहीं हो सकता। एक ही पर्याय के उत्पत्ति और विनाश की तरह स्थिति का काल भी भिन्न ही होगा। उत्पाद का समय अर्थात् उसका प्रारंभिक समय और विनाश अर्थात् उसका अन्तिम समय **सिद्धसेन दिवाकर** ने अंगुली के दृष्टांत से और स्पष्ट किया है — अंगुली एक वस्तु है। अंगुली के आकुंचन और प्रसरण का काल एक ही नहीं हो सकता[५१]। वक्रता और सरलता एक ही वस्तु में एक ही काल में सम्भव न होने से क्रमवर्ती है। दो क्रमवर्ती पर्यायों में उत्पाद और नाश का काल भेद नहीं होता, इसलिए जो समय अंगुली के आकुंचन रूप अवस्था के उत्पाद का है वही समय उसके प्रसरण रूप अवस्था के व्यय का है। दोनों ही अवस्थाओं में अंगुली नामक वस्तु स्थिर है। अतः एक ही अंगुली में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों की समकालिकता सिद्ध होती है।

सिद्धसेन ने उत्पाद आदि के भेदाभेद त्रैकालिकता की सिद्धि का जो प्रयास किया है, उसके मूल *में उनकी अनेकान्तिक दृष्टि है। उन्होंने प्रत्येक विरोधी अवधारणा के समन्वय का प्रयास किया है।* वे मानते हैं कि महा सत्ता रूप द्रव्य तथा अंतिम अविभाज्य अंश पर्याय से अतिरिक्त सभी पर्याय पदार्थ द्रव्य और पर्याय के उभय रूप होते हैं। द्रव्य और पर्याय दोनों मिलकर ही सत् का सर्वांग लक्षण बनते हैं। द्रव्य के सन्दर्भ में उन्होंने पर्याय को ही माना है तथा गुण को पर्याय में ही सन्निविष्ट माना है। तदनुसार गुणार्थिक नय की परिकल्पना करते हुए भी मूलतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में ही समूची

तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा को अन्तर्भावित करने का प्रयास किया है। अनेकान्त के आधाररूप इस द्रव्य, गुण, पर्याय के सन्दर्भ में **सिद्धसेन** के विचार जहाँ अनेक अंशों में आगम-विचार-सरणि का समर्थन करते हैं वहीं, उनके कतिपय स्वोपज्ञ मन्तव्यों की भी पुष्टि करते हैं।

संदर्भ

१. जैनेन्द्र व्याकरण ४:१:१५८

२. तत्त्वार्थसूत्र ५/२९

३. प्रवचनसार, ज्ञेयाधिकार-३

४. अनुयोगद्वार २५५

५. Dr. Padmarajiah, Jain theories of Reality and Knowledge, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay 1963 p.26

६. तत्त्वार्थसूत्र ५/२९

७. सन्मतिप्रकरण १/१२

८. वही-१/३१

९. धवला १/१/१/१/१७/६

१०. आचारांगसूत्र १/१/५

११. तत्त्वार्थसूत्र ५/४१

१२. जैनसिद्धान्त दीपिका १/३८, जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग-२, पृ.२४३

१३. तत्त्वार्थवार्तिक २/७

१४. स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्ति, नयचक्र, श्रुत. पृ.५७

१५. उत्तराध्ययन २८/६

१६. तत्त्वार्थराजवार्तिक १/३१, १/१५, धवला पु० पृ०८४

१७. सर्वार्थसिद्धि-१/३३

१८. तत्त्वार्थसूत्र ५/४१

१९. पंचास्तिकाय ता० वृ०१६/३५/१२

२०. सन्मति-प्रकरण १/३० पर पं०सुखलालजी एवं पं० बेचरदासजी का विवेचन

२१. उत्तराध्ययन २८/१३

२२. क्रियावद् गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्, वैशे० सूत्र १/१/१५

२३. सन्मति-प्रकरण ३/८

२४. सन्मति-प्रकरण ३/८ पर पं०सुखलालजी की व्याख्या पृ०६३

२५. ढाल २, दोहरा-१० सन्मति-तर्क-प्रकरणम्, अभयदेवसूरिकृत वृत्ति, सूत्र ३/८ की व्याख्या में उद्धृत।

२६. पंचास्तिकाय ४६

२७. स्याद्वादमंजरी, श्लोक २७
२८. जैन विद्या के विविध आयाम (डॉ० सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ) खंड ७ पृ०१०३
२९. सन्मति-प्रकरण ३/२३
३०. वही ३/२४
३१. पंचास्तिकाय-६७
३२. स्याद्वादमंजरी-१४ की व्याख्या
३३. जैन-दर्शन, डॉ०महेन्द्र कुमार जैन, पृ०१४४
३४. तत्त्वार्थवार्तिक ५/२/९
३५. सन्मति-तर्क-प्रकरणम्, अभयदेवसूरिकृत वृत्ति
३६. सन्मति-प्रकरण ३/१७-१८
३७. वही, ३/२०, २१, २२
३८. उत्तराध्ययनसूत्र अ०२८, गाथा-६
३९. सन्मति-प्रकरण ३/१०-११
४०. आचारांग-१/५/५
४१. भगवती १२/२०६
४२. स्थानांगसूत्र-१०/४६
४३. सन्मति-प्रकरण १/१२
४४. आप्तमीमांसा-५९-६०
४५. विशेषावश्यकभाष्य-२६६६
४६. पंचास्तिकाय, गा०११ की टीका
४७. दशवैकालिक, जिनदासगणिचूर्णि, पृ०४१०
४८. सन्मति-प्रकरण ३/३५
४९. सन्मति-प्रकरण ३/३७
५०. दर्शन का नया प्रस्थान, डॉ०साध्वी मुदितयशा, पृ०१७६

१३
निश्चयनय और व्यवहारनय के आलोक में वर्णित पर्याय की अवधारणा

जयकुमार उपाध्ये

जैन धर्म आत्मवादी धर्म है, व्यक्तिवादी नहीं है। समतावादी धर्म है। व्यक्तिवाद का अर्थ है अपने स्वार्थ पर केन्द्रित रहकर केवल अपने बारे में ही सोचे। समाज, राष्ट्र, विश्व के समस्त जीवों के हितों की उपेक्षा करे। जिस धर्म का समस्त आचार-विचार और व्यवहार अहिंसा की धुरी पर ही केन्द्रित हो वह धर्म व्यक्तिवादी नहीं हो सकता। इस पवित्र धर्म दर्शन का विकास मात्र तत्त्व ज्ञान की भूमि पर न होकर पुनीत आचार के पक्ष पर आरूढ़ है।

विश्व दो द्रव्यों से निर्मित है। "**जीवमजीवं दव्वं**" (द्रव्य संग्रह) पहला जीव और दूसरा अजीव नामक दो द्रव्य हैं। जीव द्रव्य में चेतना, ज्ञान, सुख आदि गुण हैं। अजीव द्रव्य अचेतन है, जिसे पुद्‌गल कहते हैं। उसके पांच भेद हैं। पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल। ये सभी द्रव्य अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। यह छः द्रव्य लोकाकाश में एक साथ (एकाक्षेत्रावगाही) रहने पर भी अपने-अपने द्रव्यत्व की स्वतंत्र सत्ता को कभी नहीं छोड़ते। पुद्‌गल रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण से युक्त है। धर्म द्रव्य जीव पुद्‌गल के गमन का सहकारी है। अधर्म द्रव्य जीव और पुद्‌गलों को ठहरने में उदासीन निमित्त है। आकाश द्रव्य सब द्रव्यों को अवकाश (स्थान) प्रदान करता है। काल द्रव्य का उपकार सब द्रव्यों को वर्तना है। सभी द्रव्य अपने ही परिणमनों के कर्ता हैं। दूसरे द्रव्य के परिणमन के कर्ता नहीं है। परन्तु एक दूसरे के परिणमनों में निमित्त मात्र हैं।

प्रवचनसार ग्रंथ के प्रथम अध्याय में **आचार्य कुन्दकुन्द** देव ने जिनेंद्र देव के शब्द ब्रह्म में द्रव्य की व्यवस्था इस प्रकार बतायी है।

> **दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।**
> **तेसु गुणपज्जायाणं अप्पा दव्वं त्ति उवदेसो॥** – प्रव० – ॥ १/८७ ॥

तात्पर्य :- द्रव्य, गुण, पर्याय ये अर्थ नाम से कहे गये हैं, 'अर्यते निश्चीयते इति अर्थः' इस

निरुक्ति के अनुसार द्रव्य, गुण, पर्याय जाने जाते हैं । इस कारण से वे अर्थ कहलाते हैं । द्रव्य, गुण, पर्याय को अर्थ कहने पर भी सत् द्रव्य ही है । गुण पर्याय उस सद्भूत द्रव्य की विशेषतायें हैं । गुण व पर्यायें सीधे नहीं जाने जाते, परन्तु गुण व पर्याय रूप से द्रव्य के बारे में जानने से गुण का व पर्याय का जानना कहा है । जो प्राप्त किया जाये वह अर्थ है, जो गुण पर्यायों को प्राप्त करे वह अर्थ द्रव्य है। आश्रय भूत अर्थों के द्वारा जो प्राप्त किया जाये वह अर्थ गुण है । क्रम परिणाम से द्रव्य के द्वारा जो प्राप्त किया जाये वह पर्याय है । गुण व पर्यायों का सर्वस्व द्रव्य ही है, क्योंकि गुण व पर्याय द्रव्य से पृथक् नहीं है । प्रत्येक द्रव्य अपने गुण, पर्याय से तन्मय है, अन्य द्रव्य के गुण और पर्याय और अत्यंत जुदा है । द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप ज्ञान होने पर मोह का क्षय हो जाता है । यथार्थ स्वरूप आगमों में वर्णित है, अतः उन शास्त्रों का अध्ययन करना साधक का परम कर्त्तव्य है । इसलिए शास्त्र अध्ययन को मोह क्षय का उपाय बताया है ।

द्रव्य में गुण और पर्यायें होती हैं **(गुणपर्यायवत् द्रव्यम्)** तत्त्वा–॥५/३८॥ गुण सदा रहते हैं। कभी नष्ट नहीं होते हैं । पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होती रहती है । अतः गुणों की दृष्टि से द्रव्य नित्य है, पर्याय की दृष्टि से अनित्य व क्षणभंगुर है । यह नित्य-अनित्यता सापेक्ष है ।

आचार्य **कुन्दकुन्द** देव ने **पंचास्तिकाय** ग्रंथ में द्रव्य का लक्षण बताया है –

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादवयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयारायं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥ – पञ्चास्तिकाय ॥ १० ॥

जिनेन्द्र देव ने द्रव्य का लक्षण सत् (**सद्द्रव्यलक्षणम्**। तत्त्वा – ॥५/२९॥) बताया है, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संयुक्त है । वह द्रव्य है । तथा जो गुण व पर्याय का आश्रय है, वह द्रव्य है । जिसमें प्रतिसमय उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता पाई जाती है, वही सत् है । मिट्टी से घट बनाते समय मिट्टी की पिंड रूप पर्याय नष्ट हो जाती है, घट पर्याय उत्पन्न होती है और मिट्टी कायम रहती है । ऐसा नहीं है कि पिंड पर्याय का नाश पृथक् समय में होता है और घट पर्याय की उत्पत्ति पृथक् में होती है । किन्तु जो समय पहले पर्याय के नाश का है, वही समय आगे की पर्याय की उत्पाद का है । इस तरह प्रतिसमय पूर्व पर्याय का नाश और आगे की पर्याय की उत्पत्ति के होते हुए भी द्रव्य कायम रहता है । अतः वस्तु प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कही जाती है । **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्** (तत्त्वा–५/३०)

आशय यह है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है और उसमें वह परिवर्तन प्रति समय होता रहता है । जैसे एक बालक कुछ समय बाद युवा हो जाता है, और कुछ समय के बाद बूढ़ा हो जाता है । बचपन से युवापन और युवापन से बुढ़ापा एकदम नहीं आ जाता है परन्तु प्रतिसमय बच्चे में जो परिवर्तन होता रहता है वही कुछ समय बाद युवापन के रूप में दृष्टिगोचर होता है । प्रति समय होने वाला परिवर्तन इतना सूक्ष्म है कि उसे हम देख सकने में असमर्थ हैं । इस परिवर्तन के होते हुए भी उस बच्चे में एकरूपता बनी रहती है, जिसके कारण बड़ा हो जाने पर भी हम उसे पहचान लेते हैं । यदि ऐसा न मानकर द्रव्य को केवल नित्य ही मान लिया जाये तो उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन के होते हुए भी उस बच्चे में

एकरूपता बनी रहती है, जिसके कारण बड़ा हो जाने पर भी हम उसे पहचान लेते हैं। यदि ऐसा न मानकर द्रव्य को केवल नित्य ही मान लिया जाये तो उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकेगा और यदि केवल अनित्य ही मान लिया जाये तो आत्मा के सर्वथा क्षणिक होने से, पहले जाने हुए का स्मरण नहीं बन सकेगा। अतः प्रत्येक द्रव्य, उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य स्वभाव वाला है। चूँकि द्रव्य में गुण ध्रुव होते हैं और पर्याय उत्पाद-विनाशशील होती है, अतः गुणपर्यायात्मक कहो या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहो दोनों का एक ही अभिप्राय है। द्रव्य के इन दोनों लक्षणों में वास्तव में कोई भेद नहीं है, किन्तु एक लक्षण से दूसरे का व्यञ्जन मात्र है।

जैन दर्शन के द्रव्य-गुण-पर्याय सिद्धान्त के प्रतिपादन का महर्षि **पतञ्जली** ने भी अपने महाभाष्य में उल्लेख किया है। द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य है। सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकार से पिण्ड रूप होता है। पिण्ड रूप का विनाश करके उससे माला बनाई जाती है। माला का विनाश करके उससे कड़े बनाये जाते हैं। कड़ों को तोड़कर उससे स्वस्तिक बनाये जाते हैं। उसे जलाकर फिर सुवर्ण पिण्ड हो जाता है। इस प्रकर सोना जो पीले रंग का है वह द्रव्य वही रहता है, परन्तु उसके अनेक पर्याय विनाश होकर अनेक पर्याय उत्पन्न होते हैं। **आप्तमीमांसा** में लिखते हैं –

घट-मौली-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोदे माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥ - आप्तमीमांसा - ॥६९॥

एक राजा के पास एक सोने का घड़ा है। राजा के एक पुत्र और एक पुत्री है। पुत्री सोने का घट चाहती है, परन्तु राजपुत्र घट को तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। राजा घट को तुड़वाकर मुकुट बना देता है। घट के नाश से पुत्री दुःखी होती है। मुकुट के उत्पाद से पुत्र प्रसन्न होता है, परन्तु राजा सुवर्ण का इच्छुक है। जो कि घट टूटकर मुकुट बन जाने पर भी कायम रहता है। अतः राजा को न शोक होता है न हर्ष। अतः वस्तु त्रयात्मक है।

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं॥ - प्रवचनसार - ॥१०१॥

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होता है और पर्यायें द्रव्य में स्थित है तथ्य यह है कि किसी भाव अर्थात् सत् का अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् सत् का उत्पाद नहीं होता सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त रहते हैं। विश्व में जितने सत् हैं, वे त्रैकालिक हैं। उनकी संख्या में कभी परिवर्तन नहीं होता; पर उनके गुण और पर्यायों में परिवर्तन अवश्य होता है, इसका अपवाद नहीं हो सकता है।

प्रत्येक सत् परिणमनशील होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय धारण करता है। उसके पूर्व पर्यायों के व्यय और उत्तर पर्यायों के उत्पाद की यह धारा अनादि अनन्त है, कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। चेतन अथवा अचेतन सभी प्रकार के सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की परम्परा से युक्त है। यह विलक्षण पदार्थ का मौलिक धर्म है, अतः उसे प्रतिक्षण परिणमन

करना ही चाहिए। ये परिणमन कभी सदृश होते हैं और कभी विसदृश तथा ये कभी एक-दूसरे के निमित्त से भी प्रभावित होते हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की परिणमन-परम्परा कभी भी समाप्त नहीं होती। अगणित और अनन्त परिवर्तन होने पर भी वस्तु की सत्ता कभी नष्ट नहीं होती और न कभी उसका मौलिक द्रव्यत्व ही नष्ट होता है। उसका गुण-पर्यायात्मक स्वरूप बना रहता है।

आचार्य **कुन्दकुन्द** ने **'समयसार'** को केवल अध्यात्म दृष्टि से लिखा है। इसलिए उसमें निश्चय नय का ही प्राधान्य है। आचार्य ने आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीय दृष्टि को भी प्रश्रय दिया है।

'समयसार' जैन दर्शन में एक अद्वितीय ग्रन्थ है, क्योंकि शुद्ध नय की दृष्टि से आत्म तत्त्व का विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। आध्यात्मिक दृष्टि में निश्चय तथा व्यवहार नय का निरूपण है तथा शास्त्रीय दृष्टि से द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक एवं नैगम आदि सात भेद बतलाए हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय निश्चय नय में समा जाते हैं। व्यवहार नय में केवल उपचार का कथन रह जाता है। निश्चय नय वस्तु के एकत्व, अभिन्नत्व, स्वाश्रित, परनिरपेक्ष, त्रैकालिक स्वभाव को जानने वाला नय है। अपने गुण पर्यायाओं से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को आचार्यों ने निश्चय नय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहार नय का विषय कहा है।

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को आत्मा के स्वभाव के रूप में स्वीकार नहीं किया है। चूँकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं। इसी प्रकार गुणस्थान जो आत्मा के क्रमिक विकास के सोपान हैं वे जीव का स्वभाव नहीं बनते। निश्चय नय स्वभाव के विषय को वर्णित करता है विभाव को नहीं। जो स्व में सदा रहता है, वह स्वभाव है जैसे—जीव के ज्ञान, दर्शन आदि। जो स्व में पर के निमित्त से होते हैं, वे विभाव है जैसे—जीव में क्रोधादि। विभाव आत्मा में पर के निमित्त से होते हैं, वे आगन्तुक हैं।

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थे देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥ - समयसार ॥ ११ ॥

आचार्य **कुन्द-कुन्द** विभावों को ही व्यवहार का विषय मानते हैं। निश्चयनय को भूतार्थ व्यवहारनय को अभूतार्थ कहकर, निश्चयनय की प्रमुखता बतलाई है। तात्पर्य यह है कि आत्मस्वरूप के ख्याति को ही सम्यक् दर्शन कहा है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप निश्चय में ही विचार करता है। किन्तु व्यवहार नय बाह्य स्वरूप को ध्यान में रखते हुए वस्तु का विचार करता है। परिवर्तन एवं पर्याय वस्तु के बाह्य स्वरूप में ही दृष्टिगोचर होती हैं, आन्तरिक में नहीं। सत् के सम्बन्ध में चार मान्यतायें प्रचलित हैं —

१. सत् एक और नित्य है।
२. सत् नाना और उत्पाद-व्यय-परिणमनशील है।
३. सत् कारण द्रव्यों की अपेक्षा नित्य और कार्य द्रव्यों की अपेक्षा अनित्य है।
४. सत् चेतन है, असत् अचेतन है। चेतन नित्य है और अचेतन परिणामी नित्य है।

पर्याय स्वरूप निर्धारण एवं भेद

द्रव्य की परिणति को पर्याय कहते हैं । पर्याय का वास्तविक अर्थ वस्तु का अंश है । **'परिसमन्तादायः पर्याय'** – जो सब ओर से भेद को प्राप्त करे, वह पर्याय है । **आलापपद्धति** न्याय ग्रन्थ में पर्याय शब्द की व्युत्पत्ति बताते हैं कि – **स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः इति** । प्रति समय में गुणों की होने वाली अवस्था का नाम पर्याय है । व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय एकार्थक है । **पंचाध्यायी** के प्रथम अध्याय पद्य नं०-१६५ में पर्याय क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पाद-व्ययरूप और कथंचित ध्रौव्यात्मक होती है । पर्याय के दो भेद हैं । **१. व्यञ्जन पर्याय २. अर्थ पर्याय**

प्रदेशत्व गुण की अपेक्षा से किसी आकार को प्राप्त किये द्रव्य की जो परिणति होती है, उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं और अन्य गुणों की अपेक्षा षड्गुण हानि वृद्धि रूप जो परिणति होती है, उसे अर्थ पर्याय कहते हैं । इन दोनों पर्यायों के स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से दो-दो भेद होते हैं । स्वनिमित्तक पर्याय स्वभाव पर्याय है । परनिमित्तक पर्याय विभाव पर्याय है । जीव और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्यों का परिणमन स्वनिमित्तक होता है । अतः उनमें स्वभाव पर्याय सर्वदा रहती है । जीव और पुद्गल की जो पर्याय परनिमित्तक है, वह विभाव पर्याय कहलाती है । पर का निमित्त दूर हो जाने पर जो पर्याय होती है, वह स्वभाव पर्याय कही जाती है । निश्चय नय और व्यवहार नय की परिभाषायें हैं –

णिच्छयववहारणया मूलिम भेया णयाण सव्वाणं ।
णिच्छय साहण हेऊ दव्वय पज्जत्थिया मुणत । - नयचक्र ॥ १८२ ॥

समस्त नयों में प्रधानतः से २ नय है – १.निश्चय नय २. व्यवहार नय

निश्चय नय इन्हीं दोनों के विकल्प हैं । "ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहते हैं ।"

नयचक्रकार माइल्लधवल लिखते हैं :– जो एक वस्तु के धर्मों में कथंचित् भेद व उपचार करता है, उसे व्यवहार नय कहते हैं और उससे विपरीत निश्चय नय होता है । **आलाप पद्धति** में अभेद और अनुपचार रूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चय नय है और भेद तथा उपचार रूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहार नय है ।

तत्त्वानुशासन के अनुसार जिसका अभिन्न कर्ता-कर्म आदि विषय है, वह व्यवहार नय है ।

अमृतचंद्राचार्य की **आत्मख्याति** टीका के अनुसार –

'आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो व्यवहारनयः'

आत्माश्रित कथन को निश्चय नय तथा पराश्रित कथन को व्यवहार नय कहते हैं ।

पंडितप्रवर **टोडरमलजी** ने निश्चय व्यवहार का सांगोपांग विवेचन किया है ।

१. सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं ।
२. एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चय नय है और उपचार से युक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावरूप कहना व्यवहारनय है ।
३. जिस द्रव्य की परिणति हो, उसे उस ही का कहना निश्चय नय है और उसे ही अन्य द्रव्य का कहने वाला व्यवहार नय है ।
४. व्यवहार नय स्वद्रव्य को, पर-द्रव्य को व उनके भावों को व कारण कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है तथा निश्चय नय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी से नहीं मिलाता है ।

उक्त समस्त परिभाषाओं पर ध्यान देने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :–

१. निश्चय नय का विषय अभेद है और व्यवहार नय का भेद ।
२. निश्चय नय सच्चा निरूपण करता है और व्यवहार नय उपचरित ।
३. निश्चय नय सत्यार्थ है और व्यवहार नय असत्यार्थ ।
४. निश्चय नय आत्माश्रित कथन करता है और व्यवहार नय पराश्रित ।
५. निश्चय नय असंयोगी कथन करता है और व्यवहार नय संयोगी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निश्चय और व्यवहार की विषय वस्तु और कथन शैली में मात्र भेद ही नहीं है अपितु विरोध दिखाई देता है, क्योंकि जिस विषयवस्तु को निश्चय नय अभेद अखंड कहता है, व्यवहार उसी भेद में भेद बताने लगता है और जिन दो वस्तुओं को व्यवहार एक बताता है, निश्चय के अनुसार वे कदापि एक नहीं हो सकती है ।

माटी के घड़े को घी का कहना व्यवहार है पर यह व्यवहार झूठा है, क्योंकि घड़ा घी मय नहीं है, किन्तु माटी मय है । उसी प्रकार द्रव्य को निश्चय और पर्याय को व्यवहार कहते हैं । और यह व्यवहार घी के घड़े की भाँति झूठा है ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार घड़ा घी मय नहीं है, उसी प्रकार पर्याय है ही नहीं—यह बात नहीं है । पर्याय अस्तिरूप है । राग पर्याय असद्भूत व्यवहार नय का विषय है । इन पर्यायों को अभूतार्थ कहा है – इस कारण वे पर्याय है ही नहीं, घी के घड़े के समान झूठी है ऐसा नहीं है। क्षायिक आदि चार भावों को परद्रव्य और परभाव कहा इससे वे पर्यायें हैं ही नहीं, झूठी है ऐसा नहीं है । घड़ा कुम्हार ने बनाया ऐसा कहना जैसे झूठा है, उसी प्रकार अशुद्ध पर्यायों को व्यवहार कहा । अतः ये पर्यायें भी झूठी है – ऐसा नहीं है । जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि पर्याय नय के विषय है; अतः व्यवहार नय से भूतार्थ है।

राजमार्ग तो यही है कि हम निश्चय और व्यवहार नय का स्वरूप समझकर, व्यवहार नय और *उसका विषय छोड़कर तथा निश्चय नय के भी विकल्प को तोड़कर, निश्चयनय की विषयभूत वस्तु का* आश्रय लेकर नय पक्षातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति को प्राप्त करे ।

आगम में पर्यायों का वर्गीकरण चार विभागों में किया गया है :–

१. **अनादि अनन्त पर्याय –** जो अनादिकाल से और अनन्तकाल तक रहेगी, उसे अनादि अनन्त पर्याय कहते हैं । जैसे सुमेरू पर्वत, अकृत्रिमजिनबिंब व चैत्यालय आदि ।

२. **अनादिसांत पर्याय –** जो पर्याय है वो अनादिकाल से है पर जिनका अंत हो जाता है, उन्हें अनादि सांत कहते हैं । जैसे जीव को संसारपर्याय ।

३. **सादि सांत पर्याय –** जो पर्याय न तो अनादि है और न अनन्त है, उन्हें सादि सांत कहते हैं । जैसे जीव के मनुष्य पर्याय आदि । एक समय की पर्याय भी इसी में समाहित हैं ।

४. **सादि अनन्त पर्याय –** जो पर्यायें अनादि नहीं है, पर अनन्तकाल तक रहने वाली हैं, उन्हें सादि अनन्त कहते हैं, जैसे-जीव की सिद्धपर्याय ।

सिद्धो में वीर्य गुण है वह अनन्त विज्ञान एवं अनन्त दर्शन के माध्यम से त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य व समस्त पर्यायों की जानने की प्रवृत्ति करता है ।

अनंतविज्ञानमनंतदृष्टि द्रर्व्येषु च पर्ययेषु ।
व्यापारयन्तं हतसंकरादि सिद्धत्रवीर्याख्य गुणं न्यासामि ॥

पर्याय संसार का सूचक हैं, इसलिए पर्याय रहित उन सिद्ध परमेष्टि के 'निष्पीत अनंत गुण पर्याय गुण' को प्रणाम करके विषय को विराम देता हूँ। इसलिए कि उन्होंने संसार के अनंत पर्यायों को निश्चय पूर्वक पान करके सिद्ध पद पा चुके हैं ।

१४
पर्याय मात्र को ग्रहण करने वाला नय : ऋजुसूत्रनय

अनेकान्त कुमार जैन

जैन दर्शन में वस्तु को समझने व समझाने की दृष्टि से अभिप्राय को ग्रहण करने वाला सिद्धान्त 'नय' कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में इसके सात भेद माने गये हैं। वे सात प्रकार हैं – नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय, एवम्भूतनय। इनमें आरम्भ के तीन नय द्रव्य को विषय करते हैं, इसलिए द्रव्यार्थिक नय तथा शेष चार पर्याय को ग्रहण करते हैं, इसलिए पर्यायार्थिक नय कहलाते हैं। इन सातों नयों के विषय उत्तरोत्तर क्रमशः सूक्ष्म होते चले जाते हैं। इनमें मुख्य रूप से पर्याय को अपना विषय करने वाला ऋजुसूत्रनय कहलाता है।

वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है। द्रव्यार्थिक नय सामान्य को ग्रहण करता है और पर्यायार्थिक नय विशेष को ग्रहण करता है। संग्रहण और व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय हैं। ये दोनों नय सामान्य में द्वैत बतलाते हुए उस अन्तिम विशेष तक ले जाते हैं, जिसके बाद द्वैत अद्वैत संभव ही न हो। इस अंतिम विशेष से पूर्व के सभी विशेषों को संग्रह नय तो अद्वैत रूप से ग्रहण कर लेता है और व्यवहार नय आगे-आगे द्वैत करता जाता है। किन्तु यह अंतिम विशेष न तो संग्रहनय का विषय बन सकता है और न ही व्यवहार नय का, क्योंकि जहाँ द्वैत ही संभव नहीं, वहाँ अद्वैत भी कैसे देखा जा सकेगा ? यह विशेष या अंश ही पर्यायार्थिक नय का विषय है, जिसे ऋजुसूत्रनय ग्रहण करता है। अद्वैताग्राही संग्रहनय के साथ तो द्वैतग्राही व्यवहार नय रहता है, किन्तु पूर्ण एकत्व गत विशेष ग्राही ऋजुसूत्रनय के साथ अन्य कोई नहीं रहता, क्योंकि अद्वैत में द्वैत रहता हैं, सामान्य में विशेष रहता है किन्तु विशेष में अन्यविशेष नहीं। इसीलिए द्रव्यार्थिक नय का विषय द्वैत अद्वैत है तथा पर्यायार्थिक नय का विषय एकत्व है। अतः ऋजुसूत्र एकत्वग्राही है।

ऋजुसूत्रनय का लक्षण

अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार ऋजुसूत्रनयविधि-प्रत्युन्नग्राही (वर्तमान-प्रभावी पर्याय को ग्रहण करने वाली) जानना चाहिए।[१] ***विशेषावश्यक भाष्यकार*** *की भी यही मान्यता है।*[२] **वाचक उमास्वाति** के

अनुसार जो वर्तमान कालवर्ती घटादिक पर्याय रूप पदार्थों को ग्रहण करता है, उसको ऋजुसूत्रनय कहते हैं। वर्तमान क्षण में ही विद्यमान उन्हीं घटादिक पदार्थों के जानने को ऋजुसूत्रनय कहते हैं।[३] **सिद्धसेन दिवाकर** कहते हैं कि ऋजुसूत्र नय ही पर्यायार्थिक नय का मूल आधार है।[४] **देवनन्दि पूज्यपाद** कहते हैं कि ऋजु का अर्थ प्रगुण है। जो ऋजु अर्थात् सरल को सूत्रित करता है अर्थात् स्वीकार करता है, वह ऋजुसूत्रनय है। यह नय पहले हुए और पश्चात् होने वाले तीनों कालों के विषयों को ग्रहण न करके वर्तमानकाल के विषयभूत पदार्थों को ग्रहण करता है, क्योंकि अतीत के विनष्ट और अनागत के अनुत्पन्न होने से उनमें व्यवहार नहीं हो सकता। यह वर्तमान काल समयमात्र है और उसके विषयभूत पर्यायमात्र को विषय करने वाला यह ऋजुसूत्र नय है। तब प्रश्न उठता है कि इस तरह तो संव्यवहार के लोप का प्रसंग आता है ? किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ इस नय का विषयमात्र दिखलाया है, लोक संव्यवहार तो सब नयों के समूह का कार्य है।[५]

आचार्य अकलंकदेव के अनुसार जिस प्रकार यन्त्रादि या सुई में सरलसूत बिना किसी कठिनाई के डाला जाता है, उसी तरह ऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती वर्तमान पर्याय को विषय करता है। अतीत और अनागत चूँकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं, अतः उनसे व्यवहार नहीं हो सकता। इसका विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय है। यह नय व्यवहार लोप की कोई चिंता नहीं करता। व्यवहार तो पूर्वोक्त व्यवहार आदि नयों से ही सध जाता है।[६] **वीरसेनाचार्य** मानते हैं कि ऋजु-प्रगुण अर्थात् एक समयवर्ती पर्याय को जो सूत्रित करता है अर्थात् सूचित करता है, वह ऋजुसूत्रनय है। इस नय का विषय पच्यमान पक्व है, जिसका अर्थ कंथचित् पच्यमान और कथंचित् उपरतपाक होता है।[७] वे **धवला** में कहते हैं कि जो तीन काल विषयक अपूर्व पर्यायों को छोड़कर वर्तमान काल विषयक पर्याय को ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्रनय है।[८] **आचार्य विद्यानंद** कहते हैं कि ऋजुसूत्रनय प्रधान रूप से क्षण-क्षण में ध्वंस होने वाली पर्याय को वस्तुरूप में विषय करता है और वहाँ विद्यमान होते हुए भी विवक्षा नहीं होने से द्रव्य की गौणता है।

भावार्थ यह है कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय को ही वस्तु स्वरूप से विषय करता है, क्योंकि भूतपर्यायें तो नष्ट हो चुकी हैं और भविष्य पर्यायें अभी उत्पन्न ही नहीं हुई हैं। अतः उनसे व्यापार नहीं चल सकता। यह इस नय की दृष्टि है। यद्यपि यह नय द्रव्य का निरास नहीं करता, किन्तु उसकी ओर से इसकी दृष्टि उदासीन है। इसी से इस नय को पर्यायार्थिक नय का भेद माना जाता है। उसकी दृष्टि में सभी पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, जबकि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में सभी पदार्थ सर्वदा उत्पत्ति और विनाश से रहित है।[९] **आचार्य देवसेन** मानते हैं कि जो नय ऋजु अर्थात् अवक्र, सरल को सूत्रित अर्थात् ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्रनय है।[१०] **सिद्धर्षि** के अनुसार जो क्षण-क्षण में नष्ट होने वाले परमाणु रूप विशेष सत्य हैं — ऐसा मानते हैं, उनके संघात से घटित ऋजुसूत्र है।[११] **माइल्लधवल** के अनुसार जो द्रव्य में एक समयवर्ती अध्रुवपर्याय को ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय कहते हैं।[१२]

वादिराजसूरि की मान्यता है कि जो नय प्रकृष्ट गुण सहित ऋजु अर्थात् सरल (मात्र वर्तमान) पर्याय को सूत्रित अर्थात् ग्रहण करता है, वह ऋजुसूत्रनय है। जैसे इसके अनुसार सर्वत्र वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करना, न पूर्व की और न बाद की।[१३]

आचार्य प्रभाचन्द्र के अनुसार ऋजु स्पष्ट रूप वर्तमान मात्र क्षण को, पर्याय को जानने वाला ऋजुसूत्रनय है। जैसे इस समय सुख पर्याय है, इत्यादि। यहाँ अतीतादि द्रव्य सत् है, किन्तु उसकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वर्तमान पर्याय में अतीत पर्याय तो नष्ट हो चुकने असम्भव है और अनागत पर्याय अभी उत्पन्न ही नहीं हुई है।

इस तरह वर्तमान मात्र को विषय करने से लोक व्यवहार के लोप की आशंका भी नहीं करनी चाहिए, यहाँ केवल इसी नय का विषय बताया है। लोक व्यवहार तो सकल नयों के समुदाय से सम्पन्न होता है।[१४] **वादिदेवसूरि** कहते हैं कि पदार्थ की वर्तमान क्षण में रहने वाली पर्याय को ही प्रधान रूप से विषय करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्र नय कहलाता है। जैसे-इस समय सुख रूप पर्याय है — इस वाक्य से सुख पर्याय की प्रधानता द्योतित की गयी है, सुख-पर्याय के आधारभूत द्रव्यजीव को गौण कर दिया गया है।[१५]

लघुअनन्तवीर्य (वि०१२वीं) के अनुसार प्रतिपक्ष की अपेक्षा रहित शुद्धपर्याय को ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्रनय है।[१६] **मल्लिषेण** का मानना है कि वस्तु की अतीत और अनागत पर्यायों को छोड़कर वर्तमान क्षण की पर्यायों को जानना ऋजुसूत्रनय का विषय है। वस्तु की अतीत पर्याय नष्ट हो जाती है और अनागत पर्याय उत्पन्न नहीं होती, इसलिए अतीत और अनागत पर्याय खरविषाण की तरह सम्पूर्ण सामर्थ्य रहित होकर कोई अर्थक्रिया नहीं कर सकती, इसलिए अवस्तु है, क्योंकि "अर्थक्रिया करने वाला ही वास्तव में सत् कहा जाता है।" वर्तमान क्षण में विद्यमान वस्तु से ही समस्त अर्थक्रिया हो सकती है, इसलिए यथार्थ में वही सत् है। अतएव वस्तु का स्वरूप निरंश मानना चाहिए, क्योंकि वस्तु को अंश सहित मानना युक्ति से सिद्ध नहीं होता। शंका-वस्तु के अनेक स्वभाव माने बिना वह अनेक अवयवों में नहीं रह सकती, इसलिए वस्तु में अनेक स्वभाव मानने चाहिए। समाधान-यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह मानने में विरोध आता है तथापि एक और अनेक परस्पर विरोध होने से एक स्वभाव वाली वस्तु में अनेक स्वभाव और अनेक स्वभाव-वाली वस्तु में एक स्वभाव नहीं बन सकते। अतएव अपने स्वरूप में स्थित परमाणु ही परस्पर के संयोग से कथंचित् समूह रूप होकर सम्पूर्ण कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा स्थूल रूप धारण न करने वाले स्वरूप में स्थित परमाणु ही यथार्थ में सत् कहे जा सकते हैं। अतएव ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा निज-स्वरूप वस्तु है, पर-स्वरूप को अनुपयोगी होने के कारण वस्तु नहीं कह सकते।[१७]

मल्लिषेण ने **स्याद्वादमंजरी** में एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि स्थिति-ध्रौव्य का अभाव(गौणत्व) होने से, केवल नश्वर पर्याय का सद्भाव होने के कारण, अर्थक्रियाकारी होने से पारमार्थिक पर्याय का आश्रयी ऋजुसूत्रनय होता है।[१८] **उपाध्याय यशोविजय** के अनुसार ऋजु *अर्थात्* सिर्फ वर्तमानकालवर्ती पर्याय को मान्य करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्रनय है, यथा— इस समय सुख पर्याय है। यहाँ क्षणस्थायी सुख नामक पर्याय को प्रधान माना गया है, किन्तु उसके आधार आत्मद्रव्य को गौण कर दिया है, अतः विवक्षित नहीं किया गया है।[१९]

इस प्रकार ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय मात्र को ही ग्रहण करता है ।

ऋजुसूत्रनय के भेद :

आचार्य सिद्धसेन के अनुसार ऋजुसूत्रनय ही पर्याय नय का मूल आधार है और शब्द आदि नय तो उस ऋजुसूत्र की ही उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद वाली शाखायें-प्रशाखायें हैं ।[२०] कालकृत भेद का अवलम्बन लेकर वस्तुविभाग का आरम्भ होते ही ऋजुसूत्रनय माना जाता है और वहीं से पर्यायास्तिक नय प्रारम्भ समझा जाता है । अतः **सिद्धसेन** ने यहाँ पर ऋजुसूत्रनय को पर्यायास्तिक नय का मूल आधार कहा है। बाद के शब्दादि जो तीन नय हैं, वे यद्यपि ऋजुसूत्र नय का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होने से उसी के भेद है, तथापि ऋजुसूत्र आदि चारों नय पर्यायास्तिक नय के प्रकार कहे जा सकते हैं । शब्द आदि तीन नय मात्र वर्तमानकाल स्पर्शी ऋजुसूत्रनय के आधार पर उत्तरोत्तर सूक्ष्म विशेषताओं को लेकर प्रवृत्त होते हैं और इसीलिए ये सब उसी के विस्तार हैं । ऋजुसूत्र नय एक वृक्ष जैसा है, तो शब्दनय उसकी शाखा-डाल है, समभिरूढ़ उसकी प्रशाखा-टहनी है और एवंभूत उस टहनी की भी प्रतिशाखा सबसे छोटी और पतली शाखा है ।[२१]

धवला के अनुसार विषयभेद से ऋजुसूत्रनय के भी दो भेद हो जाते हैं[२२] –

०१. सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय (शुद्ध ऋजुसूत्र नय)

०२. स्थूल ऋजुसूत्रनय (अशुद्ध ऋजुसूत्र नय)

०१ सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय (शुद्ध ऋजुसूत्रनय)

सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय सूक्ष्म सत् की स्वतंत्र सत्ता को विषय करता है । निरवयव एक प्रदेशी तथा एक सूक्ष्म समय स्थायी तथा स्वलक्षणभूत स्वभाव स्वरूप, व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता देखने वाली दृष्टि को सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं । **वीरसेनाचार्य** के अनुसार अर्थ पर्याय को ग्रहण करने वाला शुद्ध ऋजुसूत्रनय प्रत्येक क्षण में परिणमन करने वाले समस्त पदार्थों को विषय करता हुआ अपने विषय से सादृश्य सामान्य और सद्भाव रूप सामान्य को दूर करने वाला है ।[२३] **देवसेनाचार्य** कहते हैं कि जो द्रव्य में एक समयवर्ती ध्रुव पर्याय को अर्थात् द्रव्य की केवल एक समय प्रमाण स्थिति को ग्रहण करता है, वह सूक्ष्मऋजुसूत्र है, जैसे-सर्व ही शब्द क्षणिक हैं ।[२४] वे **आलापपद्धति** में कहते हैं कि जो नय एक समयवर्ती पर्याय को विषय करता है, वह सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय है ।[२५] **देवसेनभट्टारक** मानते हैं कि द्रव्य में समयमात्र रहने वाली पर्याय को जो नय-ग्रहण करता है, वह सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहा गया है । जैसे – सर्वक्षणिक है ।[२६] वे आगे कहते हैं कि प्रति समय प्रवर्तमान अर्थपर्याय में वस्तु परिणमन को विषय करने वाला सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय है। अर्थपर्याय की अपेक्षा समयमात्र काल है ।[२७] **माइल्लधवल** के अनुसार जो द्रव्य में एक समयवर्ती अध्रुवपर्याय को ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय कहते हैं, जैसे सभी शब्द क्षणिक हैं ।[२८]

भावार्थ यह है कि जो द्रव्य की भूत और भावी पर्यायों को छोड़कर जो वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है, उस ज्ञान और वचन को ऋजुसूत्रनय कहते हैं । प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिणमनशील

है, इसलिए वास्तव में तो एक पर्याय एक समय तक ही रहती है। उस एक समयवर्ती पर्याय को अर्थ पर्याय कहते हैं। वह अर्थपर्याय सूक्ष्म-ऋजुसूत्रनय का विषय है।

०२. स्थूल ऋजुसूत्रनय (अशुद्ध ऋजुसूत्रनय)

स्थूल ऋजुसूत्रनय विशेषों की एकता को ग्रहण करके उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। व्यञ्जन पर्याय की स्वतन्त्र सत्ता इसका विषय है। **वीरसेनाचार्य** के अनुसार अशुद्ध ऋजुसूत्रनय चक्षु इन्द्रियों की विषयभूत व्यञ्जन पर्यायों को विषय करने वाला है। उन पर्यायों का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्टतः छह माह अथवा संख्यात वर्ष तक है, क्योंकि चक्षुइन्द्रिय से ग्राह्य व्यञ्जनपर्यायें द्रव्य की प्रधानता से रहित होती हुई इतने काल तक अवस्थित पायी जाती है।[२९] **देवसेनाचार्य** कहते हैं कि अपनी-अपनी स्थिति प्रमाण काल में वर्तमान अर्थात् जन्म से मरण पर्यन्त मनुष्यादि पर्यायों को जो उतने काल तक के लिए टिकने वाला एक स्वतन्त्र पदार्थ मानता है, वह स्थूल ऋजुसूत्र नय है।[३०] वे **आलापपद्धति** में कहते हैं कि जो नय अनेक समयवर्ती स्थूलपर्याय को विषय करता है, वह स्थूल ऋजुसूत्रनय है। जैसे-मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी आयु-प्रमाण काल तक रहती हैं।[३१] **देवसेन भट्टारक** मानते हैं कि मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी स्थिति काल तक रहती है। उतने काल तक मनुष्य आदि कहना स्थूल ऋजुसूत्र नय है।[३२] नर-नारक आदि और घट-घट आदि व्यञ्जन पर्यायों में जीवन और पुद्गल नामक पदार्थ परिणत हुए हैं। इस प्रकार का विषय स्थूल ऋजुसूत्र नय का है। व्यञ्जन पर्याय की अपेक्षा आरम्भ से अवसान तक वर्तमान पर्याय निश्चय करना चाहिए।[३३] **माइल्लधवल** के अनुसार जो अपनी स्थिति पर्यन्त रहने वाली मनुष्य आदि पर्याय को उतने समय तक मनुष्य रूप से ग्रहण करता है, वह स्थूलऋजुसूत्रनय है।[३४]

भावार्थ यह है कि व्यवहार में एक स्थूल पर्याय को छोड़कर जो वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है, उस ज्ञान और वचन को ऋजुसूत्रनय कहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिणमनशील है, इसलिए वास्तव में तो एक पर्याय एक समय तक ही रहती है। उस एक समयवर्ती पर्याय को अर्थ पर्याय कहते हैं। वह अर्थपर्याय सूक्ष्म-ऋजुसूत्रनय का विषय है।

भावार्थ यह है कि व्यवहार में एक स्थूल पर्याय जब तक रहती है, तब तक लोग उसे वर्तमान पर्याय कहते हैं, जैसे मनुष्य पर्याय आयुपर्यन्त रहती है। ऐसी स्थूलपर्याय को स्थूलऋजुसूत्रनय ग्रहण करता है।

निष्कर्ष –

१. पर्याय को ग्रहण करने तथा द्रव्य को गौण करने वाला ऋजुसूत्रनय का लक्षण ऐतिहासिक विकासक्रम में हमें निम्न रूप से प्राप्त होता है।

(अ) **अनुयोगद्वार सूत्र** में कहा है कि "ऋजुसूत्रनय विधि-प्रत्युत्पन्नग्राही अर्थात् वर्तमान पर्याय को ग्रहण करने वाला।" **विशेषावश्यक भाष्य** भी इसका समर्थन करता है। ऋजुसूत्रनय

के इसी लक्षण को ही आगे के अधिकांश आचार्यों ने संक्षिप्त तथा विस्तार पूर्वक समझाया। उनमें वाचक उमास्वाति, आचार्य **सिद्धसेन**, **पूज्यपाद, अकलंकदेव, वीरसेन, विद्यानन्द, देवसेन, सिद्धर्षि, माइल्लधवल, वादिराजसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, मल्लिषेण तथा उपाध्याय यशोविजय** प्रमुख हैं।

(ब) **लघु अनन्तवीर्य** के अनुसार 'प्रतिपक्ष की अपेक्षा रहित शुद्ध पर्याय को ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्र नय है।' इस प्रकार की परिभाषा मात्र इन्होंने ही दी। वैसे यहाँ शुद्ध पर्याय से तात्पर्य वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्याय से ही है जिसका ग्रहण वर्तमान के क्षणमात्र में ही होता है। अतः **लघु अनन्तवीर्य** का अभिप्राय भी लगभग वही है जो अन्य जैनाचार्यों का रहा।

२. **आचार्य सिद्धसेन** ने ऋजुसूत्रनय को पर्यायास्तिक नय का मूल आधार कहा और उसके बाद प्रवृत्त होने वाले शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूतनय को इसी ऋजुसूत्र नय के भेद के रूप में मान्यता प्रदान की। धवलाकार **वीरसेनाचार्य** ने सर्वप्रथम ऋजुसूत्रनय के दो भेद किये – **(१) शुद्ध ऋजुसूत्रनय** – जो सूक्ष्म सत् की स्वतन्त्र सत्ता को विषय करता है। इसे सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय भी कहते हैं। **(२) अशुद्ध ऋजुसूत्रनय** – जो विशेषों की एकता को ग्रहण करके उसकी स्वतन्त्र सत्ता को विषय करता है। इसे स्थूल ऋजुसूत्रनय भी कहते हैं। अर्थात् शुद्ध ऋजुसूत्र नय अर्थ पर्याय को ग्रहण करता है और अशुद्ध ऋजुसूत्रनय व्यञ्जन पर्याय को ग्रहण करता है। आगे के आचार्यों में **देवसेन** तथा **माइल्लधवल** इसी प्रकार के भेद करते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि पर्याय के जितने भी प्रकार हो सकते हैं, उनको नयवाद अपनी एक अभिव्यक्ति देता है। ऋजुसूत्र नय पर्याय को ही विषय करता है, उसकी दृष्टि सम्यक् एकान्त की इसलिए है, क्योंकि वह द्रव्य का निषेध नहीं करता बल्कि उसे गौण कर देता है।

संदर्भ

१. पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो। – अनुयोगद्वार सूत्र, नयनिरूपण, गाथा-१३९, पृ०४६७

२. पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ नयविहीमुणे अव्वे॥ – विशेषावश्यक भाष्य, भाग-२, गाथा-२१८४, पृ०४४८

३. सत्तं साम्प्रतानामर्थनामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः।
...तेष्वेव-सत्सु साम्प्रतेषु सम्प्रत्ययः ऋजुसूत्रः॥ – तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, १/२५, पृ०६१, ६३

४. मूलणिमेणं पुज्जुवणयस्स उज्जुसुवयणविच्छेदो। - सन्मति प्रकरण प्रथमकाण्ड गाथा – ४, पृ०३

५. ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः। पूर्वापरांस्त्रिकालविषयानतिशय्यवर्तमान-कालविषयानादत्ते अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहारभावात्। तच्च वर्तमानं समयमात्रम्।

द्विषयपर्यायमात्रग्राह्यमृजुसूत्रः। ननु संव्यवहारलोपसंग इति चेद् ? न, अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः। – सर्वार्थसिद्धि, प्र० अ० सूत्र-३३, प्र०२४५, पृ०१०२

६. सूत्रपातवद्रजुत्वात् ऋजुः सूत्रः, यथा ऋजुः सूत्रपातस्तथा ऋजुप्रगुण सूत्रयति तन्त्रयति ऋजुसूत्रः।
पूर्वास्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषमादत्ते। अतीतानागातयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहारभावात्।

समयमात्रमस्य निर्दिधिक्षितम् । ..... सर्वसंव्यहारलोपि इति चेत्, न, विषयमात्रप्रदर्शनात्, पूर्वनयवक्तव्यात् संव्यवहारिसिद्धिर्भवति। — तत्त्वार्थराजवार्तिकम्, प्र० अ० सूत्र-३३, पृ.९६, ९८

७. ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूचयतीति ऋजुसूत्रः । अस्य विषयः पच्यमान पक्वः । पक्वस्तु स्यात्पच्यमानः स्यादुपरतपाक इति । पच्यमान इति वर्तमानः, पक्व इत्यतीतः । - जयधवला, गा०१३-१४, प्र०१८५, पृ०२०३-४

८. अपूर्वास्त्रिकाल विषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयमादत्ते यः स ऋजुसूत्रः । — धवला पु०९, ख.४, भाग-१, कतअनुयोगद्वारेनयप्ररूपणा, पृ०१७१-७२

९. ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु सत्सूत्रयेदृजु ।
प्राधान्येन गुणीभावाद्द्रव्यस्यानर्पणात्सतः ॥ — त.श्लोकवार्तिक, चतुर्थखण्ड, सूत्र १/३३, श्लोक-६१, पृ०२४८

१०. ऋजु प्रांजलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । आलापपद्धति, सू०१९९, पृ०१८८

११. ये सौगतास्तु क्षणक्षयिणः परमाणुलक्षणा विशेषाः सत्या इति मन्यन्ते, तत्संघातघटित ऋजुसूत्र इति । — न्यायावतार, सिद्धर्षि विवृत्तिसहितं, कां-२९ परविवृत्ति, पृ०८५

१२. जो एयसमयवट्टी गेण्हइ दव्वे धुवत्तपज्जायं ।
सो रिउसुत्तो सुहुमो सव्वंपि सद्दं जहा खणियं ॥ — नयचक्र, गा०२१०, पृ०११३

१३. ऋजु प्रगुणं सूत्रणमृजुसूत्रः, यथा सर्व वर्तमानमात्रनैव न पूर्व नापि पश्चादिति । — न्यायविनिश्चयविवरण, ३/९१, पृ०३६६

१४. ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीत्यृजुसूत्रः "सुखक्षणः सम्प्रत्यस्ति" इत्यादि । द्रव्यस्य सतोप्यनर्पणात्, तीतानागतक्षणयोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेनासम्भवात् । न चैवं लोकव्यवहारविलोपप्रसंगः नयस्यास्यैवं विषयमात्रपुरुपणात् लोकव्यवहारस्तु सकलनयसमूहसाध्य इति । प्रमेयकमलामार्त्तण्ड, तृतीयभाग, नयविवेचनम्, पृ०६६२

१५. ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः । यथा — सुखविवर्त्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादि । — प्रमाणनयतत्त्वालोक ७/२८-२९, पृ०१४२-१४३

१६. शुद्धपर्यायग्राही प्रतिपक्षसापेक्ष ऋजुसूत्रः । प्रमेयरत्नमाला, षष्ठः समुद्देशः पृष्ठ ३४७

१७. ऋजुसूत्रः पुनरिदं मन्यते-वर्तमानक्षणविवर्त्येव वस्तुरूपम् । नातीतमनागतं च । अतीतव्य विनष्टवाद् अनागतस्यालब्धात्मलाभत्वात् खरविषाणादिभ्योऽविशिष्यमाणतया सकलशक्तिविरह-रूपत्वात् नार्थक्रियानिर्वर्तनक्षमत्वम् तदभावोच्च न वस्तुत्वं । "यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत्" इति वचनात् । वर्तमानक्षणलिङ्गितं पुनर्वस्तुरूपं समस्तार्थक्रियासु व्याप्रियत इति तदेव पारमार्थिकम् । तदपि च निरंशमभ्युगन्तव्यम् अंशव्याप्तेर्युक्तिरिक्तत्वात् । एकस्य अनेकस्वाभावतामन्तरेण अनेकस्यावयवव्यापनोयोगात् अनेकस्वभावता एवास्तु इति चेत् । न । विरोधव्याधाघ्रातत्वात् । तथाहि-यदि एकः स्वभावः कथमनेकः अनेकश्चेत्कथमेकः एकानेकयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात् । तस्मात् स्वरूपनिग्नाः परमाणव एव परस्परोपसर्पणद्वारेण कथचिन्निश्चयरूपतामपन्ना निखिलकार्येषु व्यापारभाज इति त एव स्वलक्षणं न स्थूलता धारयत् पारमार्थिकमिति । एवमस्याभिप्रायेण यदेव स्वकीयं तदेव वस्तु न परकीयम्, अनुपयोगित्वादिति । — स्याद्वादमंजरी, पृ०२४४-२४५.

१८. तत्रर्जलूत्रनीतिः स्याद् शुद्धपर्यायसंश्रिता ।
नश्वरस्यैव भावस्य भावात् स्थितवियोगतः ॥ स्याद्वादमंजरी, पृ०२४७ परउद्धत

१९. ऋजु वर्तमानक्षणस्थायियपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः । यथा सुखविवर्तः सम्प्रत्यस्ति । अत्र हि क्षणस्थायि सुखाख्यं पर्यायमात्रं प्राधान्येन प्रदर्श्यते, तदधिकरणभूतं पुनरात्मद्रव्यं गौणतया नार्प्यत इति । — जैनतर्कभाषा, नयपरिच्छेदः, पृ०६१

२०. मूलणिमेणं पज्जवणयस्य उज्जुसुयवयणविच्छेदो ।
तस्य उ सद्दाईआ साहपसाहा सुहुमभेया ॥ – सन्मतिप्रकरण, १/५, पृ०३

२१. तुलनीय, सन्मतिप्रकरण, गा.१/५ पर पं० सुखलालजी का विवेचन, पृ०४

२२. उजुसुदो दुविहो सुदो असुदो चेदि । – धवला, पुस्तक – ९, ४/१/४९ कदिअणियोगद्दारे णयविभासणदा, पृ.२४४
अपि च ऋजुसूत्रोपि द्विविधः । आलापपद्धति, सूत्र–७३, पृ०१२६.

२३. तत्थ सुदो विसईकयअत्थपज्जाओ पडिक्खणं विवट्टमाणासेसत्थो अप्पणोविसयादो ओसारिदसारिच्छ-तबभावलक्खणसामण्णो । – धवला, पुस्तक – ९, ४/१/४९, कदि अणियोगद्दारे णयविभासणदा, पृ०२४४

२४. य एक समयवर्तिनं गृह्णाति द्रव्ये धुवत्वपर्यायम् । सः ऋजुसूत्रः सूक्ष्मः सर्वः शब्दो यथाक्षणिकः । – वृहन्नयचक्र, श्लोक – २११

२५. सूक्ष्मर्जुसूत्रो यथा एकसमयावस्थायी पर्याय । – आलापपद्धति, सूत्र-७४, पृ०१२७

२६. द्रव्ये गृह्णाति पर्यायं ध्रुवं समयमात्रिकं ।
ऋजुसूत्राभिधः सूक्ष्मः स सर्व क्षणिकं यथा । – श्रुतभवनदीपकनयचक्र, पृ०४२

२७. प्रतिसमय प्रवर्तमानार्थपर्याये वस्तुपरिणमनमित्येषः सूक्ष्मऋजुसूत्र नयो भवति । अर्थपर्यायापेक्षया समयमात्रं । – वही, पृ०१६, १७

२८. जो एयसमयवट्टी गेण्हइ दव्वे धुवत्तपंजायं ।
सो रिउसुतो सुहुमो सव्वंपि सद्दं जहा खणियं ॥ – माइल्लधवलनयचक्र, गा०२१०, पृ०११३

२९. तत्थ जो सो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंजणपज्जयविसओ । तेसिं कालो जहण्णेण अंतोमुहुत्तमुक्कस्सेण छम्मासा संखेज्जा वासाणि वा । कुदो ? चक्खिंदियगेज्झवेजणपज्जायाणमप्पहाणीभूददव्वाणमेत्तियं कालभवटठाणुवलंभादो । – धवला, पुस्तक-९, ४/१/४९ कदिअणुयोगद्दारे नयविभसाणदा पृ०२४४

३०. मनुजादिपर्यायः मनुष्य इति स्वकस्थितिषु वर्तमानः ।
यो भणति तावत्कालं स स्थूलो भवति ऋजुसूत्रः ॥ – वृहन्नयचक्र, श्लोक-२१२

३१. स्थूलर्जुसूत्रो यथा मनुष्यादिपर्यायास्तदायुः प्रमाणकालंतिष्ठन्ति । – आलापद्धति, सूत्र-७५, पृ०१२७

३२. यो नरादिकपर्यायं स्वकीयस्थितिवर्त्तनं ।
तावत्कालं तथा चष्टे स्थूलाख्यऋजुसूत्रकः ॥ – श्रुतभवनदीपकनयचक्र, पृ०४२

३३. नरनारकादिघटपटादिव्यञ्जनपर्यायेषु जीवपुद्‌गलाभिधानरूपवस्तूनि परिणतानीति स्थूलऋजुसूत्रनयः ।
व्यञ्जनपर्यायपेक्षया प्रारम्भतः प्रारभ्य अवसान यावद्भवतीति निश्चयः कर्त्तव्य इति तात्पर्य । – वही, पृ०१६, १७

३४. मणुवाइयइपजाओ मणुसोत्ति सगट्ठिदीसु वट्टंतो ।
जो भणइ तावकालं सो थूलो होइ रिउसुत्तो ॥ – नयचक्र, गाथा-२११, पृ०११३

१५
जैन दर्शन में पर्याय

कुलदीप कुमार

पर्याय जैन दर्शन का अति महत्त्वपूर्ण विषय है। पर्याय का वास्तविक अर्थ वस्तु का अंश है। ध्रुव, अन्वयी या सहभुव तथा क्षणिक, व्यतिरेकी या क्रमभावी के भेद से वे अंश दो प्रकार के हैं। अन्वयी को गुण और व्यतिरेकी को पर्याय कहते हैं। पर्याय गुण के विशेष परिणमनरूप होती हैं। अंश की अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, पर रूढ से केवल व्यतिरेकी अंश को ही पर्याय कहते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्यात्मक है। सांख्य दर्शन में वस्तु को सर्वथा नित्य माना गया है और बौद्धदर्शन में वस्तु को अनित्य माना गया है, परन्तु जैनदर्शन के अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सर्वथा अनित्य हो, उसमें एक ही समय में नित्यता भी है और अनित्यता भी।

पर्याय को कुछ विद्वान सामान्य अपेक्षा से क्रिया भी कहते हैं, परन्तु पर्याय एवं क्रिया में बहुत अन्तर है। क्रिया वस्तु के हलन-चलन रूप परिणमन को कहते हैं, परन्तु पर्याय वस्तु के सूक्ष्म परिणमन को कहते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है, अतः हम कह सकते हैं कि प्रत्येक वस्तु नित्यानित्यात्मक है। यद्यपि द्रव्य का लक्षण सत् है, फिर भी प्रकारान्तर से गुण और पर्यायों के समूह को भी द्रव्य कहते हैं, जिस प्रकार जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख-ज्ञान आदि गुण पाए जाते हैं और नर-नारी आदि पर्यायें पाई जाती हैं। किन्तु द्रव्य से गुण और पर्याय की पृथक् सत्ता नहीं है। ऐसा नहीं है कि गुण पृथक् है, पर्याय पृथक् और उनके मेल से द्रव्य बना है, किन्तु अनादि काल से गुणपर्यायात्मक ही द्रव्य है। साधारण रीति से गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती हैं, अतः द्रव्य को नित्य-अनित्य कहा जाता है। जैनदर्शन के अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य हो, अपितु प्रत्येक वस्तु नित्यानित्यात्मक है। उसमें एक साथ नित्यता भी है और अनित्यता भी है। वस्तुतः कोई भी वस्तु तभी सत् हो सकती है, जब उसमें एक साथ नित्यता और

अनित्यता दोनों निवास करती हैं। एकान्ततः नित्य वस्तु भी कभी सत् नहीं हो सकती और एकान्ततः अनित्य वस्तु भी कभी सत् नहीं हो सकती। क्योंकि सत् का लक्षण ही यह है –

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।"

अर्थात् जिसमें प्रतिसमय उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता पाई जाती है, वही सत् है। जिस प्रकार सोने (सुवर्ण) से हार बनाते समय सोने की पिण्डरूप पर्याय नष्ट होती है, हार पर्याय उत्पन्न होती है और सोना कायम रहता है। ऐसा नहीं है कि पिण्ड पर्याय का नाश पृथक् समय में होता है और हार पर्याय की उत्पत्ति पृथक् समय में होती है; किन्तु जो समय पहली पर्याय के नाश का है, वही समय आगे की पर्याय के उत्पाद का है। इस प्रकार प्रतिसमय पूर्व पर्याय का नाश और आगे की पर्याय की उत्पत्ति के होते हुए भी द्रव्य कायम रहता है। अतः वस्तु प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कही जाती है। आचार्य **कुन्दकुन्द** ने **प्रवचनसार** में कहा है कि –

"उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया ।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥"[२]

अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं, और पर्यायें नियम से द्रव्य में ही होती हैं, इसलिए यह सब द्रव्य ही है।

"समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥"[३]

अर्थात् द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, स्थिति और नाश नामक अर्थों के साथ वास्तव में एकमेक है, इसलिए यह तीन का समुदाय (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) वास्तव में द्रव्य है।

"पाडुब्भवदि य अण्णे पज्जाओ पज्जाओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥"[४]

अर्थात् द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और कोई अन्य पर्याय नष्ट होती है, फिर भी द्रव्य न तो नष्ट होता है, न उत्पन्न होता है अर्थात् ध्रुव रहता है।

जैनदर्शन के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन महर्षि **पतञ्जलि** ने भी अपने महाभाष्य के **पश्पशाह्निक** में निम्नलिखित शब्दों में किया है –

"द्रव्यं नित्यम्, आकृतिरनित्या । सुवर्ण कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते । पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खादिरांगारसदृशे कुण्डलं भवतः । आकृतिरन्या च अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।"

अर्थात् द्रव्य नित्य है और आकार यानी पर्याय अनित्य है। सुवर्ण किसी एक विशिष्ट आकार से पिण्ड रूप होता है। पिण्ड रूप का विनाश करके, उससे माला बनाई जाती है। माला का विनाश करके, उससे कड़े बनाए जाते हैं। कड़ों को तोड़कर, उससे स्वस्तिक बनाए जाते हैं। स्वस्तिकों को गलाकर फिर सुवर्ण पिण्ड हो जाता है। उसके पिण्ड आकार का विनाश करके खदिर अंगार के समान दो कुण्ड़ल बना लिए जाते हैं। इस प्रकार आकार बदलता रहता है। आकार के नष्ट होने पर भी द्रव्य शेष रहता ही है।

महर्षि **पतञ्जलि** के उक्त कथन से भी यह भलीभाँति स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वस्तु एक ही समय में नित्य-अनित्यात्मक है, उसे कदापि एकान्तरूप से नित्य या अनित्य नहीं माना जा सकता है।

आचार्य **समन्तभद्र** ने **आप्तमीमांसा** ग्रन्थ में दो बड़े ही सुन्दर दृष्टान्तों के माध्यम से द्रव्य की त्रयात्मकता (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) को सिद्ध किया है। वे दोनों दृष्टान्त इस प्रकार से हैं –

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥"[५]

एक राजा के एक पुत्र है और एक पुत्री। राजा के पास सोने का घड़ा है। पुत्री उस घट को चाहती है, किन्तु राजपुत्र उस घट को तोड़कर, उसका मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र की खुशी के लिए घट को तुड़वाकर, उसका मुकुट बनवा देता है। घट के नाश से पुत्री दु:खी होती है, मुकुट के उत्पाद से पुत्र प्रसन्न होता है और राजा न खुश होता है, न दु:खी होती है; क्योंकि वह सुवर्ण का इच्छुक है जो कि घट के टूट जाने पर भी उसमें कायम रहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तु त्रयात्मक है।

"पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम्॥"[६]

अर्थात् जिस व्यक्ति ने केवल दूध ही पीने का व्रत लिया है, वह दही नहीं खाता। जिसने केवल दही नहीं खाने का व्रत लिया है, वह दूध नहीं पीता और जिसने गोरस मात्र न खाने का व्रत लिया है वह न दूध पीता है और न दही, क्योंकि दूध और दही दोनों गोरस की दो पर्यायें है, अतः गोरसत्व दोनों में है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि वस्तु त्रयात्मक अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

मीमांसा दर्शन में महामति **कुमारिल** भट्ट भी वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप मानते हैं। उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए **स्वामी समन्तभद्र** के उक्त दृष्टान्त को अपनाया है। वे लिखते हैं कि –

"वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते सदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥"[७]

**"हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ।।**[८]

**"नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्वा विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ।।"**[९]

अर्थात् जब सुवर्ण के प्याले को तोड़कर, उसकी माला बनाई जाती है, तब जिसको प्याले की आवश्यकता है, उसको शोक होता है, जिसे माला की आवश्यकता है, उसे हर्ष होता है और जिसे सुवर्ण की आवश्यकता है, उसे न हर्ष होता है और न शोक, अतः वस्तु त्रयात्मक है । यदि उत्पाद, स्थिति और व्यय न होते तो तीन व्यक्तियों के तीन प्रकार के भाव न होते, क्योंकि प्याले के नाश के बिना प्याले की आवश्यकता वाले को शोक नहीं हो सकता । माला के उत्पाद के बिना माला की आवश्यकता वाले को हर्ष नहीं हो सकता और सुवर्ण की स्थिरता के बिना सुवर्ण इच्छुक का प्याले के विनाश और माला के उत्पाद में माध्यस्थ नहीं रह सकता, अतः वस्तु सामान्य से नित्य है, पर्याय रूप से अनित्य है ।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि जैनदर्शन में द्रव्य एक है, और वह प्रतिसमय उत्पाद और ध्रौव्यस्वरूप है। अतएव वह द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य है ।

पर्याय का निरुक्त्यर्थ :

(क) **"परि समन्तादायः पर्यायः ।"**[१०]

अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे, वह पर्याय है ।

(ख) **"स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः ।"**[११]

अर्थात् जो स्वभाव-विभाव रूप से गमन करती है, परिणमन करती है, वह पर्याय है ।

(ग) **"पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः ।"**[१२]

अर्थात् पर्याय का अर्थ – विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है ।

(घ) **"तस्य मिथो भवनं प्रति विरोध्याविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वाद् अपितु व्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः ।"**[१३]

अर्थात् – स्वाभाविक या नैमित्तिक विरोधी या अविरोधी धर्मों में अमुक शब्द व्यवहार के लिए विवक्षित द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं ।

(ङ) **"पर्यायाणामेतद्धर्म यत्त्वंशकल्पनं द्रव्यं । स च परिणामोऽवस्था तेषामेव (गुणानामेव)"**[१४]

अर्थात् द्रव्य में जो अंश कल्पना की जाती है यही तो पर्यायों का स्वरूप है । परिणमन गुणों की ही अवस्था है । अर्थात् गुणों की ही प्रतिसमय होने वाली अवस्था का नाम पर्याय है ।

(च) **"तद्भावः परिणामः ।"**[१५]

उसका होना अर्थात् प्रतिसमय बदलते रहना परिणाम है । अर्थात् गुण के परिणमन को पर्याय कहते हैं । परिणाम पर्याय का ही दूसरा नाम है ।

(छ) **"सामान्यविशेषगुणा एकस्मिन् धर्माणि वस्तुत्वनिष्पादकास्तेषां परिणामः पर्यायः ।"**[१६]

सामान्यविशेषात्मक गुण एक द्रव्य में वस्तुत्व के बतलाने वाले हैं । उनका परिणाम पर्याय है ।

पर्याय के समानार्थी शब्द :

जैन साहित्य में पर्याय के अनेक समानार्थी शब्द बताए गए हैं । यथा –

(क) **"पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः ।"**[१७]

अर्थ :– पर्याय विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति – इन सबका एक अर्थ है ।

(ख) **"व्यवहारो च वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो ।"**[१८]

अर्थ :– व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये एक एकार्थवाची (समानार्थी) हैं ।

(ग) **"पर्ययः पर्यव इत्यनर्थान्तरम् ।"**[१९]

अर्थ :– पर्य, पर्यव और पर्याय – ये समानार्थी हैं ।

(घ) **"अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।**
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचक एते ॥"[२०]

अर्थ :– अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भंग - ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं ।

पर्याय के भेद :

जैन ग्रन्थों में पर्याय के भेदों का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है । यथा –

(क) **"द्विधा पर्याया द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च ।"**[२१]
द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय के भेद से पर्याय दो प्रकार की हैं ।

(ख) **"यः पर्यायः सः द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति ।"**[२२]
जो पर्याय है वह दो प्रकार की है – क्रमभावी और सहभावी ।

(ग) **"पर्यायस्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात् ।"**[२३]
पर्याय दो प्रकार की हैं – स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ।

(घ) "**अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यञ्जनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति ।**"[२४]

अर्थपर्याय व व्यञ्जनपर्याय के भेद से भी पर्याय दो प्रकार की हैं ।

(ङ) "**स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते कारणशुद्धपर्याय और कार्यशुद्धपर्याय चेति ।**"[२५]

(च) "**सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा ।**
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥"[२६]

पर्याय के दो भेद हैं – अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय । इनमें अर्थपर्याय अति सूक्ष्म हैं । अर्थात् अवाय (ज्ञान) विषयक हैं, इसलिए शब्द से नहीं कही जा सकती हैं और प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, परन्तु व्यञ्जनपर्याय स्थूल हैं, शब्दगोचर हैं अर्थात् शब्दों से व्यक्त की जा सकती हैं और चिरस्थायी हैं।

(छ) "**सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया ।**
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥"[२७]

अर्थात् पुद्गल द्रव्य के शब्द, बंध, सूक्ष्म, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आताप – इन सहित विभाव व्यञ्जनपर्यायें होती हैं ।

संदर्भ

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०

२. प्रवचनसार, गाथा-१०१

३. वही, गाथा-१०२

४. वही, गाथा-१०३

५. आप्तमीमांसा, श्लोक-५९

६. वही, श्लोक-६०

७. मीमांसाश्लोकवार्तिक, श्लोक-२१

८. वही, श्लोक-२२

९. वही, श्लोक-२३

१०. तत्त्वार्थवार्तिकम् १/३३/१

११. आलापपद्धति-६

१२. सर्वार्थसिद्धि-१/३३/१४१/१

१३. राजवार्तिकम्–१/२९/४/८९/४

१४. पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध-२६, ११७

१५. तत्त्वार्थसूत्र-५/४२

१६. श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृ०सं०-७५७
१७. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, १/३३
१८. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, गोम्मट्टसार (जीवकाण्ड), गाथा-५७२
१९. आचार्य मल्लिषेणसूरि, स्याद्वादमंजरी, २३/२७२/११
२०. पञ्चाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्लोक-६०
२१. आचार्य जयसेन, पंचास्तिकायटीका—१६/३५
२२. आचार्य विद्यानन्दि, श्लोकवार्तिक, १/३३/६०
२३. आलाप-पद्धति, ३
२४. आचार्य जयसेन, पंचास्तिकाय-टीका, १६/३६
२५. नियमसार-टीका, गाथा-१५
२६. आचार्य वसुनन्दि, श्रावकाचार, गाथा-२५
२७. वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा-१६

१६
पज्जयमूढा हि परसमया

राकेश कुमार जैन

विश्वदर्शनों में जैन दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। जैनदर्शन ने द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक विश्व-व्यवस्था को जितने सुन्दरतम तथा सत्यार्थ स्वरूप के साथ रखा है, उससे विज्ञान-जगत् भी भौंचक है, आश्चर्यचकित है। साथ ही अनेक सन्दर्भों में विज्ञान-जगत् ने जैनदर्शन से मार्गदर्शन प्राप्त किया है, अनेक विज्ञान-जगत् की शोधपूर्ण खोजें जैनदर्शन में पहले से ही विद्यमान हैं, पौद्गलिक शक्तियों का जो वर्णन जैनदर्शन में विद्यमान है, उससे और भी दिशा-निर्देश ग्रहण किये जा सकते हैं।

जैन दर्शन के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक[१] तथा नित्यानित्यात्मक अनेकान्त स्वरूप ने जहाँ एक तरफ भारतीय दर्शनों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई, वहीं पाश्चात्य दर्शन के अनेक दार्शनिक-हेरेक्लीट्स, सॉक्रेटीज्, प्लेटो, एरिस्टॉटल, जीनो, एपीक्यूरस, पायथागोरस, प्रोक्तस[२] आदि स्पष्टतः जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों से सहमत दिखाई देते हैं।

वस्तु स्वयं अनेकान्तात्मक है, अतः अनेकान्तवाद, स्याद्वाद तथा नयवाद के बिना उसके स्वरूप को जान पाना तथा उसका कथन संभव नहीं है।[३] पर्यायमूढ़ता भी एकान्तवाद का ही एक प्रकार है, अतः इस विषय के माध्यम से हम एकान्तवाद पर अनेकान्त की विजय का ही ध्वज फहराना चाहते हैं। सर्वप्रथम मंगलाचरण के रूप में निम्न श्लोक के द्वारा अनेकान्तमयी धर्म को नमस्कार करता हूँ —

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥[४]

अर्थ — जात्यन्ध पुरुषों के द्वारा कथित हाथी के विधान का निषेध करने वाले, तथा समस्त नयों के द्वारा प्रकाशित वस्तु के स्वभावों के विरोध को दूर करने वाले, उत्कृष्ट जैनसिद्धान्त के प्राणस्वरूप अनेकान्त धर्म को मैं नमस्कार करता हूँ।

इस विषय पर यह मेरा लघुप्रयास है, मेरा समस्त विद्वद्गणों से सानुरोध निवेदन है कि यदि

इस विषय के प्रतिपादन में कहीं भी कोई भूल-चूक हो तो कृपया मुझे अवश्य अवगत करायें, क्योंकि जिनशासन समुद्र की भाँति विशाल एवं गंभीर है ।

इस विषय का सामान्यत: अवलोकन करने पर एक यक्ष प्रश्न सर्वप्रथम उभरकर सामने आता है कि यदि पर्यायमूढ़ता करने से हम परसमय होते हैं, या मिथ्यादृष्टि होते हैं तो हम पर्याय के स्वरूप को जानें ही क्यों ? परन्तु मेरा निवेदन है कि यदि पर्यायमूढ़ता दूर करनी है तो उसके लिए भी हमें पर्याय का स्वरूप जानना आवश्यक है; क्योंकि हमें जिसे ग्रहण करना है, उसे भी जानना जरूरी है; जिसे छोड़ना है, उसे भी जानना जरूरी है तथा जिसके प्रति उपेक्षाभाव रखना है, उसे भी जानना जरूरी है । कहा भी है – 'अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।'[५] विषय सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति तो उसका साक्षात् फल है ही; अत: हम यह निर्धारण बाद में करेंगे कि हमें इस विषय को जानने के बाद क्या करना है? ग्रहण करना है ? या त्याग करना है ? या उपेक्षा करनी है ? सर्वप्रथम तत्सम्बन्धी अपने अज्ञान की निवृत्ति करके साक्षात् फल को प्राप्त करना हमारा अभीष्ट है ।

सामान्यत: 'मूढ़ता' शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शक के २५ मूल दोषों के अन्तर्गत तीन प्रकार की मुढ़ताओं में किया जाता है ।[६] उनके नाम है–देवमूढ़ता[७], गुरूमूढ़ता[८] और लोकमूढ़ता[९] । इसी प्रकार मूलाचार में चार प्रकार की मूढ़ताओं का वर्णन किया गया है – लौकिक मूढ़ता, वैदिकमूढ़ता, समयमूढ़ता और देवमूढ़ता ।[१०] लेकिन इन सभी मूढ़ताओं के विश्लेषण में 'पर्यायमूढ़ता' का कहीं भी उल्लेख नहीं है । आध्यात्मिक विषयों के प्रतिपादक **आचार्य कुन्दकुन्द** ने अपने **प्रवचनसार** ग्रन्थ के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन नामक द्वितीय महाधिकार की सर्वप्रथम दो गाथा में इसका उल्लेख किया है । वे कहते हैं –

> **"अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।**
> **तेहिं पुण पज्जाया पज्जायमूढ़ा हि परसमय ॥ ९३ ॥**
>
> **जे पज्जयेसु णिरदा जीवा पदसमइग ति णिद्दिट्ठं ।**
> **आदसहावम्हि ठिदा ते समसमया मुणेदव्वा ॥ ९४ ॥"**

अर्थ – पदार्थ द्रव्यस्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं, लेकिन पर्यायमूढ़ जीव परसमय हैं ।

जो जीव पर्यायों में लीन हैं, उन्हें परसमय कहा गया है तथा जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं, उन्हें स्वसमय जानना चाहिए ।

उक्त पर्यायमूढ़ता या परसमय की चर्चा करने से पूर्व मूढता के विषय में कुछ जानना आवश्यक है ।

कोश ग्रन्थों में 'मूढ' शब्द के अनेक अर्थ दिए गये हैं । जैसे-मूर्ख, मुग्ध अज्ञानी, भ्रष्ट बुद्धिवाला, मतिभ्रष्ट, अजान, बेवकूफ, स्तब्ध, चकित[१२] आदि । **वामन शिवराम आप्टे** कृत **संस्कृत-हिन्दी कोश** में 'मूढ' शब्द के छह प्रकार से अर्थ दिये हैं – "(भूतकालिक कर्मवाचक कृदन्त-मुह्+क्त) १. जड़ीभूत, मोहित २. उद्विग्न, व्याकुल, विह्वल, सूझबूझ से हीन जैसे – किंकर्तव्यतामूढ ३. नासमझ, मूर्ख, मन्दबुद्धि,

जड़, अज्ञानी, जैसे-विचारमूढ, ४. भ्रान्त, भ्रमपूर्ण, प्रतारित, विचलित ५. अपक्वजन्मा ६. संशयोत्पादक। संयुक्त पद बनाते हुए **मूढात्मन्** - मन से जड़ीभूत, **मूढवाद** - गलत धारणा, मूढधी, **मूढमति** - मूर्ख, निर्बुद्धि, सीधासादा तथा **मूढसत्त्व** - मोहित, दीवाना आदि अर्थों के द्वारा 'मूढ' शब्द को समझाया गया है।[१३] "योग में चित्त की पाँच वृत्तियों या अवस्थाओं में एक 'मूढता' मानी गयी है। तथा इसमें चित्त तमोगुण के कारण निद्रायुक्त अथवा स्तब्ध रहता है – ऐसा कहा है ?[१४]

मूढ़ता के विषय में उक्त विवेचन से हम यह समझ सकते हैं कि मूढ़ता कोई अच्छी वस्तु नहीं है तथा किसी भी वस्तु की मूढ़ता उचित नहीं मानी गयी है। मूढ़ता में विशेषता होती है कि वह हमारी आँखें बन्द कर देती है, हमें जड़ बना देती है, हमें नासमझ, मूर्ख, किंकर्तव्यविमूढ, संशयग्रस्त तथा भ्रान्त बना देती है। इतना ही नहीं, उसके कारण हमारा चित व्याकुल, उद्विग्न, विह्वल हो जाता है, जिससे अनन्त आकुलता का जन्म होता है। इसका एक अर्थ मोहित या दीवाना भी बताया गया है, तात्पर्य यह है कि मूढ़ता दुनिया के हमारे रास्ते बन्द करके मात्र एक रास्ता ही खुला रखती है और हम मात्र उसी दिशा में ही सोचते, विचारते और चलते रहते हैं। वह हमें यह विचार करने का अवसर भी नहीं देती कि यह रास्ता हमें कहाँ ले जा रहा है ? यह हमारे अभीष्ट की सिद्धि कराती भी है या नहीं ? आदि

आचार्यकल्प **पण्डित टोडरमलजी** ने अपने मौलिक ग्रन्थ **मोक्षमार्ग प्रकाशक** में मोहनधूल का एक उदाहरण दिया है।[१५] जिस प्रकार यह मोहनधूल जिस किसी के सिर पर डाल दी जाती है तो उसकी सोचने-समझने की शक्ति क्षीण हो जाती है, कुण्ठित हो जाती है, उसी प्रकार यह मूढ़ता भी मोहनधूल का भावात्मक प्रयोग है, हमें मोहनधूल नामक किसी पदार्थ की खोज करने की आवश्यकता नहीं है, यह मूढ़ता ही मानो मोहनधूल है। यही कारण है कि मूढ़ता को 'मोह' संज्ञा से भी अभिहित किया गया है।

अनेक प्रकार की कलाओं में सम्मोहन भी एक कला मानी गयी है, जो हमें प्रत्येक वस्तु को भी देखने नहीं देती। सुना है – एक सम्मोहनकर्ता ने कुछ दिन पूर्व आगरा का ताजमहल गायब कर दिया था तथा वहाँ उपस्थिति लोगों के पूछने पर, उन्होंने वहाँ ताजमहल होने से स्पष्ट इंकार कर दिया। वस्तुतः यह सम्मोहन विद्या का प्रभाव था, ताजमहल तो वहीं था। उसी प्रकार इस मूढता में भी अलौकिक सम्मोहन शक्ति है, परन्तु इस सम्मोहन (सत्-मोहन) में कुछ भी सत् नहीं है, सब कुछ असत् है, मिथ्या है।

पर्याय-मूढ़ता – यह पद पर्याय और मूढ़ता इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'मूढ़ता' शब्द के उपरोक्त अर्थों का सामंजस्य बिठाने पर सम्पूर्ण वाक्य की निम्न निष्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं –

(१) जो पर्याय के सम्बन्ध में नहीं जानते, वे परसमय हैं।

(२) जो पर्याय में मोहित हैं, वे परसमय हैं।

(३) जिन्हें पर्याय के अलावा कुछ नहीं दिखता, वे परसमय हैं।

(४) जो पर्याय को अपना मानते हैं, वे परसमय हैं।

(५) जो पर्याय नहीं है, उसे जो पर्याय मानते हैं, वे परसमय हैं ।

(६) जो पर्याय के लक्ष्य में मतिभ्रष्ट हो गये हैं, वे परसमय हैं ।

(७) जो पर्याय के लक्ष्य से सदाकाल उद्विग्न रहते हैं, व्याकुल रहते हैं, विह्वल रहते हैं; वे परसमय हैं ।

(८) जिनकी पर्याय के सम्बन्ध में गलत धारणा है, वे परसमय हैं ।

(९) जो पर्याय के सम्बन्ध संशयग्रस्त हैं, भ्रमपूर्ण हैं; वे परसमय हैं ।

(१०) जिन्हें पर्याय ने दीवाना बना दिया है । वे परसमय है ।

अथवा जो पर्याय के पीछे दीवाने हो रहे हैं ।

एक बात ध्यान देने की है कि जब वस्तु व्यवस्था द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक है, तथा पर्याय भी उसी वस्तु व्यवस्था का एक भाग है तो क्या कारण है कि मात्र पर्याय में मूढ़ होने को 'परसमय' कहा है, 'द्रव्यमूढ़ता' या 'गुणमूढ़ता' को नही । यहाँ तक कि उसे मिथ्यात्व भी कह दिया गया है ।[१६] यद्यपि आचार्यों ने परसमय को भी दो प्रकार से व्याख्यायित किया है – स्थूल परसमय और सूक्ष्म परसमय ।[१७] वहाँ स्थूल परसमय तो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को ही कहा है, परन्तु सूक्ष्म परसमय तो सराग अवस्था में स्थित ज्ञानी को कहा है, क्योंकि शुद्धोपयोग में स्थित नहीं रहने के कारण ज्ञानी को भी सूक्ष्म परमसय कहा गया है ।[१८] वास्तविक स्वसमय तो वही है, जो दर्शन ज्ञान चरित्ररूप निश्चय रत्नत्रय में स्थित हो ।[१९]

प्रश्न यही है कि क्या पदार्थमूढ़ता, द्रव्यमूढ़ता या गुणमूढ़ता को भी परसमय कहा जा सकता है ? यदि हाँ तो फिर क्यों नहीं कहा गया, अकेले पर्यायमूढ़ता को ही परसमय या मिथ्यादृष्टि तक क्यों कहा गया है ? वास्तव में इसमें एक रहस्य है, जिसे खोजना आवश्यक है ।

यद्यपि **आचार्य जयसेन** पर्यायमूढ़ता का अर्थ द्रव्य-गुण-पर्याय के परिज्ञान में मूढ़ करते हैं, साथ ही वे एक विशिष्ट अर्थ भी जोड़ते हैं, वह है भेदविज्ञान-मूढ़ । अब पुनः प्रश्न है कि पर्यायमूढ़ता का अर्थ भेद-विज्ञानमूढ़ कैसे हो सकता है अथवा यहाँ किससे भेदविज्ञान कराने का प्रयोजन है ? इसी प्रकार **आचार्य अमृतचन्द्र** ने पर्याय मूढ़ता का अर्थ तत्त्व की अप्रतिपत्ति (अज्ञान) किया है ।[२१] एक तरफ स्वयं **आचार्य अमृतचन्द्र** कहते हैं कि "सर्व पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभाव की प्रकाश पारमेश्वरी व्यवस्था भली-उत्तम-पूर्ण व योग्य है, दूसरी कोई नहीं ।" तथा दूसरी तरफ वे स्वयं ही तुरंत लिखते हैं कि "बहुत से जीव पर्याय मात्र का अवलम्बन करके, तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है – ऐसे मोह को प्राप्त होते हुए परसमय होते हैं ।"[२२]

यहाँ फिर प्रश्न है कि द्रव्य-गुण-पर्याय वाली पर्याय और पर्याय-मूढ़ता वाली पर्याय अलग-अलग है या एक ही है ।

उक्त समस्त शंकाओं का समाधान **आचार्य अमृतचन्द्र** ने **प्रवचनसार** गाथा ९४ की टीका में अत्यन्त स्पष्टता के साथ दिया है। यदि हम उसका गहराई से अवलोकन करें तो सारी शंकायें निरस्त हो सकती हैं। वे लिखते हैं –

"जो जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्याय का - जो कि सकल अविद्याओं का एक मूल है, उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना करने में नपुंसक होने से उसी में बल धारण करते हैं, जिनकी निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है – ऐसे वे 'यह मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' – इस प्रकार अहंकार-ममकार से ठगाये जाते हुए, अतिचलित चेतना विलासमात्र आत्म-व्यवहार से च्युत होकर, जिसमें रागरत कौटुम्बिक क्रिया-कलाप को छाती से लगाया जाता है-ऐसे मनुष्य-व्यवहार का आश्रय करके रागी-द्वेषी होते हुए, परद्रव्यरूप कर्म के साथ संगतता के कारण वास्तव में परसमय होते हैं।

तथा जो असंकीर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायों से सुरक्षित भगवान आत्मा के स्वभाव का, जो कि सकल विद्याओं का एक मूल है, उसका-आश्रय करके, यथोक्त आत्म-स्वभाव की संभावना में समर्थ होने से पर्यायमात्र के प्रति बल को दूर करके, आत्मा के स्वभाव में ही स्थिति करते हैं, लीन होते हैं, वे, जिन्होंने सहज-विकसित अनेकान्त दृष्टि से समस्त एकान्त दृष्टि के परिग्रह के आग्रह प्रक्षीण कर दिये हैं, ऐसे-मनुष्यादि गतियों में और उन गतियों के शरीरों में अहंकार-ममकार न करके, अनेक कक्षों (कमरों) में संचारित रत्न-दीपक की भाँति एकरूप ही आत्मा को उपलब्ध (अनुभव) करते हुए, अविचलित चेतनाविलास मात्र आत्म-व्यवहार को अंगीकार करके, जिसमें समस्त कौटुम्बिक क्रिया-कलाप से भेंट की जाती है–ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय नहीं करते हुए, राग-द्वेष का उन्मेष (प्रगटपना) रुक जाने से परम उदासीनता का आलंबन लेते हुए, समस्त **परद्रव्यों की संगति** दूर कर देने से मात्र स्वद्रव्य के साथ ही संगतता होने से वास्तव में स्वसमय होते हैं। इसलिए स्वसमय ही आत्मा का तत्त्व है।"[२३]

इस टीका के बाद भावार्थ लिखते हुए कहा गया है कि "मैं मनुष्य हूँ, शरीरादि की समस्त क्रियाओं को मैं करता हूँ, स्त्री-पुत्र-धनादि के ग्रहण-त्याग का मैं स्वामी हूँ, इत्यादि मानना मनुष्य-व्यवहार है; तथा मात्र अचलित चेतन ही मैं हूँ' – ऐसा मानना-परिणमित होना ही आत्म-व्यवहार है।

जो मनुष्यादि पर्याय में लीन हैं, वे एकान्तदृष्टिवाले लोग मनुष्य-व्यवहार का आश्रय करते हैं, इसलिए रागी-द्वेषी होते हैं और इस प्रकार **परद्रव्य रूप कर्म** के साथ सम्बन्ध करते होने से वे परसमय हैं। तथा जो भगवान आत्मस्वभाव में ही स्थित हैं, वे अनेकान्तदृष्टि वाले लोग मनुष्य व्यवहार का आश्रय नहीं करके आत्म-व्यवहार का आश्रय करते हैं, इसलिए रागी-द्वेषी नहीं होते अर्थात् परम उदासीन रहते हैं और इस प्रकार **परद्रव्य रूप कर्म** के साथ सम्बन्ध न करके, मात्र स्वद्रव्य के साथ ही सम्बन्ध करते हैं, इसलिए वे स्वसमय हैं।"[२४]

आचार्य जयसेन पर्यायमूढ़ता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं – "वे जीव कर्मोदय जनित मनुष्यादि रूप पर्यायों में निरत रहने के कारण परसमय या मिथ्यादृष्टि होते हैं।"

उपरोक्त कथन के माध्यम से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य जो असंकीर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय में स्थित है, उसे तो भगवान आत्मा सम्बोधन से संबोधित कर रहे हैं तथा पर्यायमूढ़ता वाली पर्याय में कर्मोदयजनित पर्याय, जीव-पुद्‌गलात्मक असमानजातीय पर्याय, परद्रव्य की संगति आदि विशेषणों के प्रयोग कर रहे हैं । तात्पर्य यह है कि जो पर्याय परद्रव्य की संगति से रहित है, वह तो असंकीर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय के अन्तर्गत आती है तथा जो परद्रव्य की संगति से सहित है, वह पर्यायमूढ़ता का विषय बनती है, दोनों में महान अन्तर है ।

द्रव्य-गुण-पर्याय में यह जीव सामान्यतः द्रव्य एवं गुण के प्रति मूढ़ता नहीं करता, क्योंकि द्रव्य-गुण तो अन्तरंग तत्त्व हैं, हमें उनका साक्षात् दर्शन ही नहीं होता, क्योंकि वे हमारे सामने सीधे-सीधे नहीं आते, हमारे सामने तो उनकी कोई न कोई पर्याय आती है, अथवा वे द्रव्य का गुण किसी न किसी पर्याय के रूप में प्रगट होते हैं, इस प्रकार हम द्रव्य गुण को अव्यक्त और पर्याय को व्यक्त भी कह सकते हैं ।[२५]

यद्यपि द्रव्य-गुण तो मूलतत्त्व हैं, लेकिन जिस प्रकार वृक्ष की मूल दिखाई नहीं देती, ऊपर-ऊपर के फूल-पत्ते आदि ही दिखाई देते हैं; उसी प्रकार वस्तु के द्रव्य-गुण वृक्ष की मूल(जड़) के समान दिखाई नहीं देते, उन दोनों के कारण प्रकट होने वाली, तथा थोड़े ही समय तक टिकने वाली पर्याय ही दिखाई देती है तथा यह मिथ्यादृष्टि जीव इसी पर्यायमात्र को ही सम्पूर्ण वस्तु मानकर अपना सम्पूर्ण व्यवहार निश्चित करता है ।

पर्याय के भी दो भेद हैं – एक स्वभावपर्याय और दूसरी विभावपर्याय[२६] । स्वभावपर्याय तो स्वद्रव्य या स्वगुण से प्रकट होने वाली पर्याय है, अतः शुद्ध है; इनमें भी एक तो कारणस्वभावपर्याय या कारणशुद्धपर्याय है, जो अनादि अनन्त एकरूप है, परमपारिणामिक भाव स्वरूप है तथा दूसरी कार्यस्वभावपर्याय या कार्यशुद्धपर्याय है, जो कार्यशुद्धपर्याय का आश्रय करके प्रकट होती है, परन्तु स्वयं कार्यस्वरूप है, अतः कारणशुद्धपर्याय कहलाती है[२८] उक्त दोनों स्वभावपर्यायें द्रव्यरूप भी हैं और गुणरूप भी हैं । जैसे सिद्धपर्याय स्वभाव द्रव्य पर्याय है और केवलज्ञानादि स्वभाव-गुणपर्याय हैं । इसका विस्तृत विवेचन **नियमसार** ग्रन्थ में किया गया है ।[२९] लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव को द्रव्य-गुण के साथ इस स्वभावपर्याय का भी कुछ पता नहीं है, अतः इन पर्यायों में भी मूढ़ता करने का कोई प्रसंग नहीं है, मिथ्यादृष्टि तो पर्यायों में भी विभावपर्यायों में ही निरत है, लीन है, मूढ़भाव सहित एकमेक हो रहा है, मोहित हो रहा है ।

विभावपर्याय परद्रव्य सापेक्ष पर्याय को कहते हैं, इसके भी विभाव-द्रव्यपर्याय और विभावगुणपर्याय के रूप में दो भेद किये जाते हैं । विभावद्रव्यपर्याय को विभावव्यञ्जनपर्याय आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है । इसके भी दो भेद हैं । १. समानजातीय और २. असमानजातीय ।[३०] पुद्‌गलद्रव्यों की स्कन्धरूप पर्याय समानजातीय विभावद्रव्यपर्याय या विभाव व्यञ्जन पर्याय है और जीव-पुद्‌गल की मिश्र रूप मनुष्य आदि रूप संसारी पर्यायें भी परद्रव्य के निमित्त से होने वाली गुणपर्यायों को विभावगुणपर्याय कहते हैं, इसके भी समानजातीय और असमानजातीय भेद किये जा सकते हैं । जैसे

स्कन्धों की गुणपर्यायें-काला, नीला, पीला आदि तथा सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि पर्यायें समानजातीय विभावगुणपर्यायें हैं और कर्मोंदयजनित या कर्म सापेक्ष जीव को गुण-पर्यायें विभावगुणपर्यायें हैं । जैसे-ज्ञानगुण की अज्ञान रूप का अल्पज्ञान रूप पर्याय श्रद्धान गुण को मिथ्यादर्शरूप पर्याय, चारित्र की राग-द्वेष, कषाय रूप पर्यायें आदि असमानजातीय विभावगुण पर्यायें कही जा सकती हैं । सामान्यतया गुणपर्यायों के समानजातीय और असमानजातीय भेद नहीं किये गये हैं, परन्तु इस प्रकार भेद करने में कोई आपत्ति तो नहीं होनी चाहिए । हाँ, मिथ्यादृष्टि जीव इन्हीं समानजातीय, असमानजातीय द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायों का रूप विभावपर्यायों में ही उलझा हुआ है, इन्हीं के इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करके, अनादिकाल से मिथ्यात्व युक्त राग-द्वेष-मोह करके, अपने असंकीर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय मय स्वरूप का अनुभव नहीं करता, आश्रय नहीं करता है, इसे ही आचार्यदेव ने '**पज्जयमूढ़ा हि परसमया**' कहा है ।

इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए **कुन्दकुन्द** द्रव्य-गुण-पर्याय-तीनों के मूढ़भाव की चर्चा भी करते हैं –

"दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्य हविद मोहो ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो यप्पा रागं व दोसं वा ।[३१]

अर्थ – जीव का द्रव्यादि (द्रव्य-गुण-पर्याय) सम्बन्धी मूढ़भाव 'मोह' कहलाता है, उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव राग-द्वेष को प्राप्त करके क्षुब्ध होता है ।"

इसका गंभीर स्पष्टीकरण **आचार्य अमृतचन्द्र** ने किया है –

"धतूरा खाए हुए मनुष्य की भाँति, जीव के पूर्व वर्णित द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उनमें होने वाला तत्त्व-अप्रतिपत्ति लक्षण वाला मूढ़भाव वास्तव में मोह है । उस मोह से अपना निजस्वरूप आच्छादित होने से यह आत्मा परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप से, परगुण को स्वगुणरूप से और परपर्यायों को स्वपर्यायरूप समझकर-अंगीकार करके, अतिरूढ़-दृढतर संस्कार के कारण परद्रव्य को ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्ध इन्द्रियों की रुचि के वश से अद्वैत में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष करके अतिप्रचुर जलसमूह के वेग से प्रहार को प्राप्त सेतुबन्ध (पुल) की भाँति दो भागों में खण्ड़ित होता हुआ, अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है; इससे मोह, राग और द्वेष – इन भेदों के कारण मोह तीन प्रकार का है ।"[३२]

परमात्मप्रकाशकार मुनिराज योगीन्द्रदेव इस पर्यायमूढ़ता के सम्बन्ध में अपभ्रंश भाषा में कहते हैं –

"पज्जयस्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधइ बहुविधकम्माणि जेण संसारे भमेइ ॥[३३]

अर्थ – शरीर आदि पर्यायों में रत जीव मिथ्यादृष्टि होता है, तथा वह अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधता हुआ संसार में भ्रमण करता रहता है ।"

परद्रव्य से संयुक्त पर्याय में मूढ़ता का स्वरूप कभी-कभी इतना विद्रूप हो जाता है कि उसमें स्वद्रव्य-गुण-पर्याय का अंश भी अवशिष्ट नहीं रहता और वह जीव परद्रव्य-गुण-पर्याय को ही अपना स्वरूप मानने लगता है उसी में लीन रहता है – इसे **मोक्षपाहुड़** में इस प्रकार कहा है –

> **"जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेई सो साहू ।**
> **मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ।।**[३४]

अर्थ – परद्रव्य में रत साधु मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्व रूप परिणत हुआ वह दुष्ट आठ कर्मों से बन्धन को प्राप्त होता है ।

इसी प्रकरण में आचार्य ने यह भी कहा है कि "स्वद्रव्य में रत साधु नियम से सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त(क्त्व) रूप परिणत हुआ वह दुष्ट आठ कर्मों को नष्ट करता है" आचार्य देव के उपदेशात्मक वचन भी इसी बात के द्योतक हैं –

> **"परदव्वादो दुग्गई, सद्दव्वादो हु सुग्गई होइद ।**
> **इय णादुण सदव्वे, कुणह रईविरह इयरम्मि ।।**[३५]

अर्थ – परद्रव्य के लक्ष्य से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य के लक्ष्य से सुगति होती है–यह स्पष्ट जानो; इसलिए हे भव्य जीवों ! तुम ऐसा जानकर, स्वद्रव्य में रति करो और अन्य पर द्रव्यों से विरक्त होओ ।"

उक्त गाथा में प्रयुक्त पद – 'परदव्वादो दुग्गइ' और 'सद्दव्वादो सुग्गइ" भी किसी सूक्ति वचन से कम नहीं हैं । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि परद्रव्य से दुर्गति होती है – इसका तात्पर्य यही है कि परद्रव्य के लक्ष्य से, आश्रय करने से, प्रीति करने से दुर्गति होती है; इसी प्रकार स्वद्रव्य से अर्थात् स्वद्रव्य का आश्रय करने से, उसका लक्ष्य करने से, उसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करने से सुगति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है तथा यदि कोई कमजोरी रह जाये तो सुगति अर्थात् स्वर्गादि की प्राप्ति होती है– ऐसा समझना चाहिए ।

'पज्जयमूढा हि परसमया' – इस पद का यथार्थ भाव न समझकर बहुत से कथित ज्ञानी यह अर्थ करते देखे जाते हैं कि हमें पर्याय को जानना ही नहीं चाहिए, क्योंकि उससे पर्यायमूढ़ता हो जायेगी । मेरा उन कथित ज्ञानियों से आग्रहपूर्ण निवेदन है कि ऐसा करके हम अपने पैर पर स्वयं कुल्हाड़ी मार लेंगे, क्योंकि द्रव्य-गुण तो अव्यक्त हैं; अतः अव्यक्त द्रव्य-गुण तक पहुँचने का एकमात्र माध्यम पर्याय ही है, इसी पर्याय के द्वारा हम जगत् की समस्त वस्तुओं तक, अनेक द्रव्य व गुणों तक पहुँच सकते हैं, क्योंकि वही व्यक्त है ।[३६] यदि हमने उसी को जानने से मना कर दिया तो हम उस एकमात्र सूत्र (सुराग) *से हाथ धो बैठेंगे, जो हमारी द्रव्य-गुण की खोज में सहायक बन सकता है । हाँ, हम मूढ़-अज्ञानियों के* समान पर्यायमात्र को ही वस्तु न मान लेवें, इसका ध्यान तो रखना होगा ।

जैसे-किसी बहुत बड़े तस्करों के गिरोह के लीडर (नेता) को पकड़ना हो और हमें उसी गिरोह

का कोई छोटा सा चमचा (कार्यकर्ता) हाथ लग गया हो तो हमें क्या करना चाहिए, उसे ही अपराधी मानकर सजा-ए-मौत दे देनी चाहिए या उसके अन्य साथियों तथा उसके लीडर को पकड़ना चाहिए। यदि हम उस कार्यकर्ता को ही समाप्त कर देते हैं तो हम उस एकमात्र सूत्र को भी खत्म कर देते हैं, जो हमें बड़े गिरोह का भण्डाफोड़ करने में सहायक हो सकता था। उसी प्रकार द्रव्य या गुण तक पहुँचने के लिए पर्याय ही वह जरिया (माध्यम) है, जो हमें द्रव्य गुण से मिलवा सकता है या उनका परिचय करवा सकता है।

हमें पर्याय जानने के लिए पर्याय को नहीं जानना है, बल्कि द्रव्य और गुणों को जानने के लिए पर्याय को जानना है। जो पर्याय जानने के लिए पर्याय को जानते हैं, उन्हें ही पर्यायमूढ़ कहा है, क्योंकि उनकी वहीं इतिश्री हो जाती है। तथा जो द्रव्यस्वभाव तक पहुँचने के लिए पर्याय को जानते हैं, वे मूढ़ नहीं, ज्ञानी हैं। जैसे जीववस्तु को जानने के लिए '**उपयोगोलक्षणम्**'[३७] कहा गया है, उपयोग के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप भेद तथा उसके भी आठ और चार[३८] प्रकार के भेद पर्यायरूप ही हैं, अतः हम ज्ञानोपयोग-पर्याय से ज्ञानगुण समझते हैं, पश्चात् ज्ञान गुण को आधार बनाकर चेतनस्वरूप जीव तक पहुँचते हैं, वही विधि मूल जीववस्तु तक पहुँचने की है। मूल जीववस्तु अव्यक्त होने के कारण ही उसे अलिंगग्रहण कहा गया है।[३९] इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रव्य-गुण-पर्याय में द्रव्य अव्यक्त है, पर्याय व्यक्त है और गुण बीच की कड़ी होने से व्यक्ताव्यक्त है। पर्याय की अपेक्षा गुण अव्यक्त है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा गुण व्यक्त है, इसी कारण उसे व्यक्ताव्यक्त कहा जा रहा है। द्रव्य अनन्तगुणात्मक है, अतः उसकी अनन्तता उसे अव्यक्त बनाती है, जबकि एक गुण द्रव्य की तुलना में व्यक्त है। इसी प्रकार एक गुण में भी अनन्त पर्यायें शक्ति रूप से हैं, अतः वह भी अनन्तता युक्त होने से अव्यक्त है, जबकि एकपर्याय गुण की तुलना में व्यक्त है।

यद्यपि एक समय की सूक्ष्म पर्याय भी हमारे स्थूल क्षयोपशम ज्ञान के द्वारा गोचर नहीं होने से वह भी अव्यक्त ही है, तथा असंख्यात समय प्रमाणवाली स्थूल पर्यायें ही हमारे क्षयोपशमज्ञान के द्वारा ज्ञात होती है।

वास्तव में हमने आज तक शुद्ध द्रव्य या शुद्ध गुण शुद्ध पर्याय को तो देखा ही नहीं है, क्योंकि वे आँखों के द्वारा या इन्द्रियों के द्वारा गोचर ही नहीं हैं। अनादिकाल से हमने इन्द्रियों को ही प्रमाण मान रखा है, इस कारण इनके द्वारा जो कुछ दिखाई देता है,उसे ही प्रमाण मानते हैं। जीव में सिद्धजीव के द्रव्यगुण-पर्याय शुद्ध हैं, पुद्गल में सूक्ष्म परमाणु के द्रव्य-गुण-पर्याय शुद्ध हैं, शेष धर्मादि द्रव्यों के तो सभी द्रव्य-गुण-पर्याय शुद्ध हैं, लेकिन हमने आज तक इन्हें कभी देखा नहीं है, अतः शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय क्या वस्तु है, इसके बारे में मन सम्बन्धी श्रुतज्ञान का भी प्रयोग कभी नहीं किया है, जिसके द्वारा शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय जाने जा सकते हैं। आज तक हमने या तो पौद्गलिक जगत् के स्थूल स्कन्धरूप परिणमनों को देखा है या जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय मनुष्यादि पर्यायों को देखा है, अतः हमने इन्हें ही जीव मान लिया है, इनमें ही एकत्व-ममत्व स्थापित कर लिया है, यही जीव की सबसे बड़ी भूल है, अतः इसे ही मिथ्यात्व कहा गया है। इस जीव में पर्याय मूढ़ता के संस्कार इतने गहरे हैं कि यह जीव जिस पर्याय में जाता है, उसे ही अपना मानने लगता है, यहाँ तक कि पूर्व की पर्यायों को भूल जाता है, मात्र वर्तमान पर्याय में ही तन्मय रहता है।[४०]

आचार्य कुन्दकुन्द ने मूढदृष्टि का सजीव चित्रण करते हुए इसी दशा का वर्णन किया है –

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥

अर्थ – मूढदृष्टि-अज्ञानी-मोही-मिथ्यादृष्टि है, वह बाह्य पदार्थ–धन, धान्य, कुटुम्ब आदि पदार्थों में स्फुरित मनवाला है, तथा इन्द्रियों के द्वार से अपने स्वरूप से च्युत है और इन्द्रियों को ही आत्मा जानता है–ऐसा होता हुआ अपने देह को ही आत्मा जानता है, निश्चय करता है; इस प्रकार मिथ्यादृष्टि-बहिरात्मा है ।

छह ढाला में भी मिथ्यादृष्टि जीव की भूलों का मार्मिक वर्णन किया गया है, उसके कुछ स्थल दृष्टव्य हैं –

मैं सुखी-दुःखी मैं रंक-राव मेरे धन-गृह-गोधन प्रभाव ।
मेरे सुत-तिय मैं सबल-दीन बेरूप सुभग मूरख-प्रवीन ॥

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशन आपको नाश मान ।
रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन ॥

यह पर्यायमूढ़ता वाला जीव यद्यपि पर्याय में मूढ़ता तो करता है, लेकिन उसके भी वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता । इस पर्याय का क्या स्वरूप है ? उसकी कितने काल की स्थिति है ? वह कैसे निर्मित हुई ? उसका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव क्या है ? आदि कुछ भी नहीं जानता । उदाहरण के लिए मनुष्य पर्याय का विचार करते हैं – यह मनुष्य पर्याय किसी एक द्रव्य की पर्याय नहीं है, इसमें एक जीव है और अनन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्डरूप यह शरीर है, इन दोनों के संयोग से इस दशा को मनुष्य कहते हैं । इस पर्याय की स्थिति मात्र थोड़े ही समय की है, शरीर और आत्मा के संयोग रूप पर्याय है तो उसका वियोग भी अवश्य होगा, पश्चात् वियोग होने पर क्या होगा ? शरीर क्या होगा ? और आत्मा का क्या होगा ? क्या ये नष्ट हो जायेंगे या इनकी भी मात्र पर्याय बदलेगी ? यदि पर्याय बदलेगी तो क्या मेरी आत्मा का नाश हो जायेगा ? यदि नहीं तो मुझे चिन्ता करने की क्या जरूरत है? मेरी आत्मा तो अन्य पर्याय में भी सत्‌रूप रहेगी, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ सकता, ऐसी पर्यायों का बदलना तो इस मनुष्य पर्याय में भी अनेक बार हुआ है, मैं बालक था, फिर मैं जवान हुआ, फिर वृद्ध हुआ, पर्यायें तो बदलीं; लेकिन मैं तो सदा से कायम रहा हूँ और भविष्य में भी कायम रहूँगा । इसी प्रकार शरीर तो पर्याय का नाम है, उसमें जो मूलभूत पुद्गल परमाणु हैं, उनका कभी भी नाश नहीं हो सकता । इस प्रकार मनुष्य पर्याय के बारे में भी इस मोही जीव को कुछ पता नहीं है ।

वास्तव में उसको इन सबको समझने की आवश्यकता ही भासित नहीं होती । पर्यायमूढ़ता ने इसे इस तरह जकड़ रखा है कि इस मनुष्य पर्याय को तो 'स्व' जानता है, अतः उसी में अहं बुद्धि करता है, शरीर के सम्बन्ध से जितने सम्बन्ध जुड़ते हैं, उन्हें अपना सम्बन्धी जानता है, शरीर को उत्पन्न करने

वालों को माता-पिता जानता है, शरीर को रमण कराने वाली स्त्री को रमणी जानता है, स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न पुत्रादि को अपना मानता है, अन्य भी इसी शरीर के ये सम्बन्ध रखने वालों को अपना रिश्तेदार मानता है, शरीर के सुख के बाह्य साधनों को जोड़ने हेतु एड़ी-चोटी का पसीना बहाता है, व्यापार करता है, उसमें अनेक प्रकार के पाप करता है, इस पर्याय सम्बन्धी समस्त क्रियाकलापों को छाती से लगाता है, रिश्तेदारों-मित्रों से सम्बन्ध बनाने और सम्बन्धों को टिकाये रखने में अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देता है, कदाचित् इसमें कोई विघ्न उपस्थित कर दे तो उसे अपना शत्रु मानता है, शत्रुता निभाने में भी कोई कसर नहीं छोड़ता, अपनी जान की बाजी लगाकर भी दुश्मनी निभाता है – और भी जिस-तिस प्रकार से पर्यायमूढ़ता करता है ।

शास्त्रीय भाषा में कहें तो पर्यायमूढ़ता का तात्पर्य है कि इस पर्याय मात्र को ऐकान्तिक श्रद्धान करना, ज्ञान करना और आचरण करना है । पर्याय के प्रति ही समर्पण करना, उसी की रुचि करना, उसी में अहंबुद्धि करना, उसी को अपना मानना, उसी में रमना, जमना और लीन होना; उसके सामने अन्य समस्त वस्तुतत्त्व को तिलांजलि देना शामिल है ।

पर्याय की मूढ़ता को इसलिए भी निरर्थक कहा जा रहा है, क्योंकि पर्याय का स्वरूप जानने पर हमें उसके यथार्थ का बोध होता है तथा पर्याय के व्यामोह में हम क्या-क्या खो रहे हैं, उसका भी पता चलता है । यह सौदा हमें कितना महंगा सौदा साबित हुआ है, इसका विचार उत्पन्न होता है । हम अपने को ठगा-ठगा-सा महसूस करते हैं; मानो हमने दो पैसे की चीज के लिए अपने करोड़ो रुपये का नुकसान कर दिया हो । यही पर्याय के साथ हुआ है, वह है तो मात्र दो पैसे की चीज, लेकिन हमने उसके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है । इसे हम ऐसे भी कह सकते हैं कि हमने राई की ओट में पर्वत को तिलांजलि दे रखी है ।

उक्त बात की सिद्धि में कुछ विचार करते हैं –

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि 'द्रव्यदृष्टि' सम्यक् दृष्टि अने पर्यायदृष्टि ते मिथ्यादृष्टि' – ऐसा उन्होंने इसलिए कहा कि द्रव्य-पर्याय की तुलना करने पर पर्याय का अस्तित्व और द्रव्य के अस्तित्व की कोई तुलना ही नहीं है । जैसे द्रव्य अनादि अनन्त है, पर्याय मात्र एक समय की है । द्रव्य तो अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों का समुदाय है, जबकि पर्याय उन अनन्तानन्त पर्यायों मात्र में से मात्र एक पर्याय है। द्रव्य तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनन्तता का धारक है, जबकि पर्याय उन सबकी एक झलक मात्र है, परिणमन मात्र है, परिवर्तन मात्र है । इस प्रकार यद्यपि द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद तो नहीं है, परन्तु उसमें उनके अस्तित्व में अन्तर एक और अनन्त का है । जैसे समुद्र और समुद्र की एक बूँद में जो अन्तर है, वही अन्तर द्रव्य और पर्याय में है । यह उदाहरण भी स्थूल है, हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जो अन्तर समुद्र और उसकी लहर में है, वही अन्तर द्रव्य और उसकी पर्याय में है । क्योंकि लहर आती है, जाती है, लेकिन अपने साथ एक बूँद भी लाती नहीं है, और अपने साथ एक बूँद भी ले जाती नहीं है, उसी प्रकार पर्याय भी द्रव्य का परिवर्तन मात्र है, उससे द्रव्य में एक अंश की भी घटती-बढ़ती नहीं होती है ।

द्रव्यदृष्टि को सम्यग्दृष्टि तथा पर्यायदृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहने के पीछे यह कारण भी है कि द्रव्य को अंशी कहा जाता है और पर्याय को अंश कहा जाता है। अंशी में तो उसके सभी अंश शामिल होते हैं, जबकि अंश में सम्पूर्ण अंशी शामिल नहीं होता, अतः अंशी को ग्रहण करने पर अंशी का ग्रहण तो स्वयमेव हो जाता है, लेकिन अंश का ग्रहण करने पर भी अंशी का ग्रहण एकदेशी ही होता है। इसी प्रकार द्रव्यदृष्टि में समस्त पर्यायों का ग्रहण स्वयमेव हो जाता है, लेकिन पर्याय दृष्टि करने पर सम्पूर्ण द्रव्य का ग्रहण नहीं होता, इसीलिए पर्यायदृष्टि को मिथ्यात्व तथा द्रव्यदृष्टि को सम्यक्त्व कहा गया है। यद्यपि जिनागम में जानने की अपेक्षा द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के माध्यम से द्रव्य-पर्याय दोनों को जानना सम्यग्ज्ञान कहा गया है, अतः उस अपेक्षा से हम भी उसका समर्थन पहले इसी लेख में कर आये हैं, लेकिन पर्याय मात्र के प्रति बल दूर करना ही इस व्याख्यान का प्रयोजन है, पर्याय को पर्याय तक सीमित रखने में कोई बुराई नहीं है, लेकिन पर्याय को सर्वस्व मानने में अनन्त मिथ्यात्व है, उसका फल अनन्त संसार है।

यदि हम समग्र जिनशासन को देखें तो उसका अधिकांश भाग पर्याय के व्याख्यान से ही भरा पड़ा है; क्योंकि संसार और मोक्ष भी पर्यायें हैं, संसार मार्ग और मोक्ष मार्ग भी पर्यायें हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र भी पर्यायें हैं, इतना ही नहीं, बल्कि सात तत्त्वों और नौ पदार्थों में भी पर्याय की ही मुख्यता है, – आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, मोक्ष – ये सभी पर्यायें ही तो हैं। चार अनुयोगों में प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग तो पूर्णतः पर्याय के व्याख्यान से भरे पड़े हैं ही, द्रव्यानुयोग का भी ९०% भाग पर्याय का व्याख्यान करता हैं। लेकिन यह सब जानने का विषय है, श्रद्धान और ध्यान करने लायक तो इस सारे व्याख्यान का सार अपना त्रिकाली ध्रुव आत्म-तत्त्व ही है, इसके लिए नीतिशास्त्र का एक श्लोक बताना चाहता हूँ, जो मुझे आचार्यप्रवर मुनि **श्री विद्यानन्दजी** के सान्निध्य में प्राप्त हुआ है, वह श्लोक निम्न प्रकार है –

यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अध्रुवं परिसेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यंति, अध्रुवं नष्टमेव च॥

अर्थ – जो ध्रुव वस्तु (द्रव्य) को छोड़कर अध्रुव (पर्याय) का आश्रय लेते हैं, उनसे कहते हैं कि ध्रुव वस्तु को उन्होंने छोड़ दिया और अध्रुव वस्तु ने उन्हें छोड़ दिया। उनकी दशा कैसी हो गई – यह बताने की जरूरत नहीं है।

इसी संदर्भ में जैनदर्शन की एक बात पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ कि यदि कोई द्रव्यलिंगी मुनि ११ अंग और ९ पूर्व का भी पाठी हो और यदि वह अपनी शुद्धात्मा को नहीं जानता *तो वह भी मिथ्यादृष्टि ही है, अज्ञानी ही है। कहा भी है –*

जाना नहीं निज आत्मा, ज्ञानी हुए तो क्या हुए।
ध्याया नहीं शुद्धात्मा, ध्यानी हुए तो क्या हुए॥[४१]

यही कारण है कि अध्यात्मग्रन्थ **समयसार** में वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त के भावों *को*

शुद्धजीवद्रव्य से भिन्न बताया है, क्योंकि ये सभी भाव पुद्गलद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण पौद्गलिक हैं – ऐसा कहा है ।[४२] **आचार्य कुन्दकुन्द** के **'णियभावणा णिमित्तं'** बनाये गये **नियमसार** ग्रन्थ में भी इसी प्रकार की भावना शुद्धभावना अधिकार में पायी गई है ।[४३]

पर्यायमूढ़ता को तोड़ने हेतु आचार्यों ने अनेक मार्ग प्रशस्त किये हैं, कहीं तो उन्होंने सीधे-सीधे शब्दों में पर्याय से अपना सम्बन्ध विच्छेद किया है तथा कहीं-कहीं आत्मा की पर्यायों को आत्मा ही हैं, अत: तुम आत्मा की शरण में जाओ, पर्यायों की शरण में क्यों जाते हो–ऐसा कहकर, उससे दृष्टि को मोड़ा है, इसी प्रकार आत्मानुभूति की प्रक्रिया अपनाते हुए-चिद्विवर्तों की चेतना में ही संक्षेपण करने का उपदेश दिया गया है ।

समयसार की छठवीं गाथा में **आचार्य कुन्दकुन्द** प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायों से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने शुद्धस्वरूप का परिचय निम्न शब्दों में देते हैं –

ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्ध णादो जो सो दु सो चेव ॥[४५]

अर्थ – जो ज्ञायकभाव है – वह न ही अप्रमत्त है और न प्रमत्त है – इस प्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो स्वरूप जानने की अवस्था में भी ज्ञायक ही है ।

हम णमोकार मन्त्र के माध्यम से अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठियों का ध्यान करते हैं, परन्तु आचार्यदेव ने पर्याय को मोह तुड़ाने के उद्देश्य से पूछा कि वे पंच परमेष्ठी क्या करते हैं ? उत्तर दिया गया कि वे तो अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं तो आचार्यदेव ने अपना निर्णय दिया कि यदि वे अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं तो हम भी अपनी आत्मा का ध्यान क्यों न करें, हम भी अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र और सम्यक्तप के सम्बन्ध में भी आचार्य ने अपने विचार प्रकट किये हैं । उक्त विषय का प्रतिपादन करने वाली गाथायें दृष्टव्य हैं –

"अरूहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेष्ठी ।
ते वि हु चिट्ठहिं आदे तम्हा आदा हु में शरणं ॥

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्त्वं चेव ।
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥"[४६]

"**अर्थ –** अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु-पाँच परमेष्ठी हैं, सो ये पाँचों परमेष्ठी भी जिस कारण आत्मा में स्थित हैं, उस कारण आत्मा ही मेरे लिए शरण हो ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप – ये चारों आराधनायें आत्मा में ही स्थित हैं, इसलिए आत्मा ही मुझे शरण है ।"[४७]

अन्त में इतना ही कहना चाहूँगा कि हमें इस पर्यायमूढ़ता से अवश्य दूर रहना चाहिए तथा जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित सर्व पदार्थों की समग्र द्रव्य-गुण-पर्याय-स्वभाव की प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था को स्वीकार करना चाहिए। तभी हम पर्यायमूढ़ता–मिथ्यात्व के अभिशापरूप दर्शनमोह से बच सकते हैं। **मूलाचार टीका** का यह कथन कहकर विराम लेता हूँ –

"मूढत्वं मोहः परमार्थरूपेन ग्रहणं तद्दर्शनधाति, सम्क्त्वविनाशं ज्ञात्वा तस्मात्तन्मूढत्वं सर्वशक्त्या न कर्त्तव्यम् ।"[४८]

"**अर्थ –** जो मूढता या मोह है, उसे परमार्थरूप से जो ग्रहण करता है, वह दर्शन का घात करने वाला है, – उसे सम्यक्त्व का विनाश जानकर, सर्वशक्ति से इनमें मोह को प्राप्त नहीं होना चाहिए।"[४९]

संदर्भ

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३० (आचार्य उमास्वामी)

२. पं० रामवतार शर्मा, यूरोपीय दर्शन

३. णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि ।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ॥
(आचार्य वीरसेन्-धवला पु०-१, खण्ड १, भाग २, गा०६८, पृ०९१)

४. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक २ (आचार्य अमृतचन्द्र) (श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास)

५. परिक्षामुख सूत्र, पंचम समुदेश, सूत्र १ (आचार्य माणिक्यनन्दि)

६. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४ (आचार्य समन्तभद्र)

७. वही, श्लोक २३

८. वही, श्लोक २४

९. वही, श्लोक २२

१०. मूलाचार, पूर्वार्ध, श्लोक २५६-२६० (आचार्य वट्टकेर)

११. प्रवचनसार, गाथा ९३-९४ (आचार्य कुन्दकुन्द)

१२. प्राकृत हिन्दी कोश, पृ०६६७, सूरशब्द सागर, पृ०४९१, विशाल शब्द सागर, पृ०१११६

१३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ०८१० (वामन शिवराम आप्टे)

१४. विशाल शब्द सागर, पृ०१११६ (नालन्दा)

१५. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ०२५ (पण्डित टोडरमल)

१६. परसमयो मिच्छत्तं । (धवला पु०१, पृ०२८, पंक्ति ७)

१७. आचार्य जयसेन (पंचास्तिकाय टीका, गाथा १६५)

१८. वही

१९. वही, (समयसार टीका, गाथा २)

२०. वही, (प्रवचनसार टीका, गाथा ९३)

२१. आचार्य अमृतचन्द्र, (प्रवचनसार टीका, गाथा ९३)

२२. वही

२३. प्रवचनसार टीका, गाथा ९४ (आचार्य अमृतचन्द्र)

२४. प्रवचनसार, गाथा ९४ का भावार्थ

२५. षट्द्रव्यात्मकलोकाद् ज्ञेयाद् व्यक्तादन्यत्वात् । कषायचक्रद्भावकाद्व्यक्तत्वादन्यत्वात् । चित्सामान्य निमग्न समस्त व्यक्तित्वात् क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात् । व्यक्ताव्यक्तविमिश्रितप्रतिभासेऽपि व्यक्तास्पर्शत्वात् । स्वयमेव हि बहिरंतः स्फुटमनुभूयमानत्वेऽपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वात् चाव्यक्तः । (— आचार्य अमृतचन्द्र, समयसार आत्मख्याति टीका, गाथा ४९)

२६. आचार्य जयसेन (प्रवचनसार टीका, गाथा ९४)

२७. स्वभावपर्याय और विभाव पर्याय — (नियमसार, गाथा १५, २८, द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गाथा १७-२५, २९-३४, परमात्मप्रकाश टीका, गाथा ५७, पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा ५, १६, आलाप पद्धति नयचक्र परिशिष्ट, पृ०२११)

२८. कारणशुद्धपर्याय और कार्य शुद्ध पर्याय (— नियमसार टीका, गाथा १५) (मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव)

२९. नियमसार, गाथा १५, २८ (मूल एवं टीका) आचार्य कुन्दकुन्द एवं मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव)

३०. प्रवचनसार टीका, गाथा ९३ (आचार्य अमृतचन्द्र) एवं पंचास्तिकाय टीका, गाथा १६ (आचार्य जयसेन)

३१. प्रवचनसार, गाथा ८३ (आचार्य कुन्दकुन्द)

३२. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा ८३ (आचार्य अमृतचन्द्र)

३३. परमात्मप्रकाश, दोहा ७७ (मुनिराज योगीन्दु)

३४. मोक्षपाहुड, (अष्टपाहुड़/षट्पाहुड) गाथा १५ (आचार्य कुन्दकुन्द)

३५. वही, गाथा १६

३६. समयसार आत्मख्याति टीका, गाथा ४९ (आचार्य अमृतचन्द्र)

३७. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २, सूत्र ८ (आचार्य उमास्वामी)

३८. अट्ठचदुणाणदेसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं । (— द्रव्यसंग्रह गाथा ६, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदे

३९. अरसमरूपमगंधं अव्यत्तं चेदणागुणमसद्दं ।

जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ (— समयसार गाथा ४९, आचार्य कुन्दकुन्द) (— भावपाहुड गाथा ६४ (अष्टपाहुड), प्रवचनसार, गाथा १७२, नियमसार गाथा ४६, पं०का० १२७

४०. अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय ही में तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है। (— मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २५७, आचार्य कल्प पण्ड़ित टोडरमल)

४१. वही

४२. समयसार, गाथा ५०-५६ (आचार्य कुन्दकुन्द)

४३. नियमसार, गाथा ३८-४२ ()

४४. प्रवचनसार, टीका, गाथा ८० (आचार्य अमृतचन्द्र)

४५. समयसार, गाथा ६ (आचार्य कुन्दकुन्द)

४६. अष्टपाहुड (मोक्षपाहुड, गाथा १०४-१०५)

४७. अर्थ—पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य

४८. मूलाचार टीका, गाथा २५६ (आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती)

४९. अर्थ—आर्यिका ज्ञानमती

१७
पर्यायाधिकार★

ब्र० कु० कौशल

१. सहभावी व क्रमभावी पर्याय

१. पर्याय किसे कहते हैं ?

द्रव्य के विशेष को पर्याय कहते हैं ।

२. पर्याय व विशेष कितने प्रकार के होते हैं ?

दो प्रकार के—सहभावी व क्रमभावी अथवा तिर्यक् विशेष व ऊर्ध्व विशेष ।

३. सहभावी व क्रमभावी विशेष अर्थात् क्या ?

सर्व अवस्थाओं में एक साथ रहने से गुण सहभावी विशेष हैं और क्रमपूर्वक आगे पीछे होने से पर्याय क्रमभावी विशेष हैं ।

४. तिर्यक् व ऊर्ध्व विशेष अर्थात् क्या ?

जिनका काल एक हो पर क्षेत्र भिन्न ऐसे विशेष तिर्यक् विशेष हैं; जैसे द्रव्य की अपेक्षा एक जाति के अनेक द्रव्य, क्षेत्र की अपेक्षा एक द्रव्य के अनेक प्रदेश, भाव की अपेक्षा एक द्रव्य के अनेक गुण । जिनका क्षेत्र एक हो पर काल भिन्न ऐसे विशेष ऊर्ध्व विशेष हैं; जैसे द्रव्य की अपेक्षा एक ही जीव की आगे पीछे होने वाली नर नरकादि व्यञ्जन पर्यायें; और भाव की अपेक्षा एक ही गुण की क्रमवर्ती अर्थपर्यायें ।

५. आगम में तो अवस्थाओं को ही पर्याय कहा है ?

द्रव्य, गुण व पर्याय तीनों प्रकार के विशेष ही पर्याय शब्द वाच्य हैं, पर रूढि वश केवल अवस्थाओं के लिए ही पर्याय शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

२. द्रव्य व गुण-पर्याय

६. क्रमभावी पर्याय कितने प्रकार की होती हैं ?

दो प्रकार की—द्रव्य पर्याय व गुण पर्याय

७. द्रव्य पर्याय किसे कहते हैं ?

अनेक द्रव्यों में एकता की प्रतिपत्ति को द्रव्य पर्याय कहते हैं।

८. अनेक द्रव्यों में एकता की प्रतिपत्ति क्या ?

अनेक द्रव्यों के मिलकर परस्पर एकमेक हो जाने से जो संयोगी द्रव्य बनता है, उसे एक द्रव्यरूप ग्रहण करना ही अनेकता में एकता की प्रतिपत्ति है; जैसे ताम्बे व जस्ते के संयोग से उत्पन्न एक पीतल नाम का द्रव्य।

९. द्रव्य पर्याय कितने प्रकार की होती हैं ?

दो प्रकार की – एक समान जातीय दूसरी असमान जातीय।

१०. समान जातीय द्रव्य पर्याय किसे कहते हैं ?

अनेक परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न स्कन्ध समान जातीय द्रव्य पर्याय हैं; क्योंकि उसके कारणभूत मूल परमाणु सब एक ही पुद्गल जाति के हैं।

११. असमान जातीय द्रव्य पर्याय किसे कहते हैं ?

जीव पुद्गल के संयोग से उत्पन्न नर, नारकादि पर्यायें असमान जातीय द्रव्य पर्याय हैं, क्योंकि उसके कारणभूत मूल जीव व पुद्गल भिन्न जातीय द्रव्य हैं।

१२. अन्य प्रकार के द्रव्य पर्याय किसे कहते हैं ?

द्रव्य के आकार की अवस्थाओं को अथवा उसकी गमनागमन रूप क्रिया को अथवा प्रदेश *परिस्पन्दन को द्रव्य पर्याय कहते हैं।*

१३. आकार आदि को द्रव्य पर्याय कैसे कहते हैं ?

क्योंकि गुणों का आश्रयभूत द्रव्य क्षेत्रात्मक है, इसलिए उसके क्षेत्र या प्रदेशों की सर्व अवस्थायें द्रव्य पर्यायें कहलायेंगी, भले ही वह उनकी रचना विशेष हो या क्रिया व परिस्पन्दन।

१४. द्रव्य पर्याय कितने प्रकार के होती हैं ?

दो प्रकार की—स्वभाव द्रव्य पर्याय व विभाव द्रव्य पर्याय

१५. स्वभाव व विभाव अर्थात् क्या ?

जो बिना किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा किये द्रव्य में स्वतः व्यक्त हो, वह स्वभाव होता है और पर संयोग के निमित्त से प्रकट हो सो विभाव कहलाता है। स्वभाव शुद्ध होता है और विभाव अशुद्ध ।

१६. स्वभाव द्रव्य पर्याय किसे कहते हैं ?

शुद्ध द्रव्यों के आकार को स्वभाव द्रव्य पर्याय कहते हैं; जैसे मुक्तात्मा का अथवा धर्मास्तिकाय का आकार।

१७. विभाव द्रव्य पर्याय किसे कहते हैं ?

अनेक द्रव्यात्मक संयोगी आकार को विभाव द्रव्य पर्याय कहते हैं, जैसे शरीरधारी संसारी जीव का आकार या स्कन्ध ।

१८. एक द्रव्यात्मक होने से स्वभाव द्रव्य पर्याय नहीं होती ?

नहीं होती है, क्योंकि वह भी अनेक प्रदेश प्रचय रूप है ।

१९. क्रिया व परिस्पन्दन को द्रव्य पर्याय कहना ठीक नहीं ?

ठीक है, साधारणतः, उसे द्रव्य पर्याय न कहकर, क्रियावती शक्ति की पर्याय कह दिया जाता है, पर वास्तव में वह भी द्रव्य पर्याय ही है। कारण कि एक तो वह प्रदेशों में प्रदेश प्रचयरूप सम्पूर्ण द्रव्य में होती है और दूसरे द्रव्य के आकार निर्माण में कारण है ।

२०. गुण पर्याय किसे कहते हैं ?

आकार से अतिरिक्त अन्य सर्व भावात्मक गुणों की पर्याय गुणपर्याय कहलाती हैं, जैसे चारित्र गुण की राग पर्याय और रस गुण की मीठी पर्याय ।

२१. गुण पर्याय कितने प्रकार की होती हैं ?

दो प्रकार की–स्वभाव गुण पर्याय व विभाव गुण पर्याय ।

२२. स्वभाव गुण पर्याय किसे कहते हैं ?

शुद्ध द्रव्यों के गुणों की पर्याय को स्वभाव गुण पर्याय कहते हैं; जैसे मुक्तात्मा के ज्ञान गुण की केवल ज्ञान पर्याय तथा परमाणु के इस गुण की तद्योग्य सूक्ष्म पर्याय ।

२३. विभाग गुण पर्याय किसे कहते हैं ?

अशुद्ध द्रव्यों के गुणों की पर्याय को विभाव गुण पर्याय कहते हैं; जैसे संसारी आत्मा के ज्ञान गुण की मति ज्ञान पर्याय और स्कन्ध के रस गुण की मीठी पर्याय ।

३. अर्थ व व्यञ्जन पर्याय

२४. पर्याय किसे कहते हैं ?

गुण के विकार को पर्याय कहते हैं ।

२५. विकार अर्थात् क्या ?

यहाँ विकार का अर्थ विकृत भाव ग्रहण न करना । इसका अर्थ है, विशेष कार्य अर्थात् गुण की परिणति से प्राप्त अवस्था विशेष ।

२६. पर्याय के कितने भेद हैं ?

दो हैं—व्यञ्जन पर्याय और अर्थ पर्याय (या द्रव्य पर्याय व गुण पर्याय)

२७. व्यञ्जन पर्याय किसे कहते हैं ?

प्रदेशत्व गुण के विकार को व्यञ्जन पर्याय कहते हैं ।

२८. प्रदेशत्व गुण के विकार से क्या समझे ?

द्रव्य का आकार ही प्रदेशत्व गुण का विकार या विशेष कार्य है; जैसे मनुष्य पर्याय का दो हाथ पैर वाला आकार ।

२९. द्रव्य पर्याय व व्यञ्जन पर्याय में क्या अन्तर है ?

दोनों एकार्थवाची हैं, क्योंकि दोनों का सम्बन्ध प्रदेशत्व गुण से है ।

३०. व्यञ्जन पर्याय के कितने भेद हैं ?

दो हैं – स्वभाव व्यञ्जन पर्याय और विभाव व्यञ्जन पर्याय ।

३१. स्वभाव व्यञ्जन पर्याय किसे कहते हैं ?

बिना दूसरे निमित्त से जो व्यञ्जन पर्याय हो, उसे स्वभाव व्यञ्जन पर्याय कहते हैं । जैसे जीव की सिद्ध पर्याय।

३२. विभाव व्यञ्जन पर्याय किसे कहते हैं ?

दूसरे के निमित्त से जो व्यञ्जन पर्याय हो, उसे विभाव व्यञ्जन पर्याय कहते हैं, जैसे जीव की नारकादि पर्याय।

३३. अर्थ पर्याय किसे कहते हैं ?

प्रदेशत्व गुण के सिवाय अन्य समस्त गुणों के विकार को अर्थ पर्याय कहते हैं ।

३४. गुण पर्याय व अर्थ पर्याय में क्या अन्तर है ?

दोनों एकार्थवाची हैं, क्योंकि दोनों का सम्बन्ध द्रव्य के भावात्मक गुणों से है ।

३५. अर्थ पर्याय के कितने भेद हैं ?

दो हैं – स्वभाव अर्थ पर्याय व विभाव अर्थ पर्याय ।

३६. स्वभाव अर्थ पर्याय किसे कहते हैं ?

बिना दूसरे निमित्त के जो अर्थ पर्याय हो, उसे स्वभाव अर्थ पर्याय कहते हैं; जैसे जीव की केवल ज्ञान पर्याय।

३७. विभाव अर्थ पर्याय किसे कहते हैं ?

पर के निमित्त से जो अर्थ पर्याय हो, उसे विभाव अर्थ पर्याय कहते हैं; जैसे जीव के रागद्वेषादि।

३८. व्यञ्जन व अर्थ पर्याय की अन्य विशेषतायें दर्शाओ ?

व्यञ्जन पर्याय छद्म ज्ञानगम्य, चिरस्थायी, वचन गोचर व स्थूल होती है, और अर्थ पर्याय केवलज्ञानगम्य, क्षणस्थायी, वचन अगोचर व सूक्ष्म होती है ।

३९. स्थूल व सूक्ष्म पर्याय से क्या समझे ?

बाहर में व्यक्त होने वाली पर्याय स्थूल तथा अव्यक्त रहकर, अन्दर ही अन्दर होने वाली सूक्ष्म होती है।

४०. चिर स्थायी व क्षण स्थायी से क्या समझे ?

कुछ मिनट, घन्टे, दिन, महिने, वर्ष या सागरों पर्यन्त टिकने वाली पर्याय चिरस्थायी होती है और एक समय या क्षुद्र अन्तर्मुहूर्त मात्र टिकने वाली क्षण स्थायी कही जाती है ।

४१. व्यञ्जन व अर्थ पर्याय पर ये लक्षण घटित करो ?

व्यञ्जयन या द्रव्य पर्याय चिरकाल स्थायी हैं, क्योंकि द्रव्य का आकार क्षण-क्षण में बदलता दिखाई नहीं देता, सारी आयु पर्यंत एक ही रहता है, जैसे मनुष्य का आकार । बाहर में व्यक्त होने से यह स्थूल व छद्मस्थ ज्ञान गम्य है । अर्थ या गुण पर्याय अन्दर ही अन्दर परिणमन करने से अव्यक्त है और इसलिए सूक्ष्म। परिणमन क्षण प्रति क्षण बराबर होता रहता है, इसलिए केवल ज्ञान गम्य है ।

४२. व्यञ्जन पर्याय भी तो क्षण प्रति क्षण बदलती है ?

एक ही मनुष्य पर्याय में बालक, युवा, वृद्ध आदि पर्यायों के रूप में । यद्यपि व्यञ्जन पर्यायें भी क्षण-क्षण में बदलती हैं, पर उसका बाह्य व्यक्त रूप फिर भी चिरस्थायी ही रहता है; जैसे २ वर्ष शिशु, २ वर्ष किशोर, ४ वर्ष बालक, २० वर्ष युवा, २० वर्ष प्रौढ़ आदि । इनमें जो क्षण-क्षण प्रति सूक्ष्म परिवर्तन होता है, वह व्यवहार गम्य नहीं है ।

४३. विभाव व स्वभाव व्यञ्जन पर्यायें कितनी-कितनी देर टिकती हैं ?

विभाव व्यञ्जन पर्यायें अन्तर्मुहूर्त से लेकर सागरों पर्यंत टिकती हैं, जैसे निगोदिया पर्याय व सर्वादेव पर्याय। स्वभाव व्यञ्जन पर्याय सदा एक-सी रहती हैं, बदलती नहीं, न ही वहाँ प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, जैसे सिद्ध पर्याय या धर्मास्तिकाय का आकार।

४४. विभाव व स्वभाव अर्थ पर्याय कितनी-कितनी देर टिकती हैं ?

विभाव अर्थ पर्याय कम से कम क्षुद्र अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक कुछ बड़ा अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही टिकती हैं। जैसे सूक्ष्म व स्थूल क्रोध। स्वभाव अर्थ पर्याय केवल एक समय स्थायी है।

४५. विभाव अर्थ पर्याय तो छद्मस्थ ज्ञान गम्य होती है ?

हाँ अन्तर्मुहूर्त स्थायी होने से क्रोधादि विभाव अर्थ पर्याय स्थूल व छद्मस्थ ज्ञान गोचर होती हैं, और इसलिए उन्हें भी कदाचित व्यञ्जन पर्याय कहा जा सकता है, पर रूढ़ न होने से उसके लिए उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता।

४६. एक समय स्थायी पर्याय कैसी होती है ?

वह केवल ज्ञान गम्य ही है तथा अत्यन्त सूक्ष्म। षट्गुण हानि वृद्धि ही उसका रूप है।

४७. षट्गुण हानि वृद्धि किसे कहते हैं ?

अगुरुलघुत्व गुण के कारण गुणों में जो निरन्तर परिणमन होता रहता है वही षट्गुण हानि वृद्धि का वाच्य है। गुणों के अविभाग प्रतिच्छेदों में अन्दर ही अन्दर बराबर घटोतरी बढ़ोतरी द्वारा सूक्ष्मतरतमता आते रहना ही उसका रूप है।

४८. यह सूक्ष्म अर्थ पर्याय स्वाभाविक होती है या विभाविक ?

सूक्ष्म अर्थ पर्याय शुद्ध पर्याय शुद्ध द्रव्यों में ही होती है, अशुद्ध में नहीं, अतः वह स्वभाव अर्थ पर्याय है।

४९. विभाव अर्थ पर्याय भी तो प्रति क्षण बदलती ही होगी ?

बदलती अवश्य है, पर वह रूढ़ नहीं है।

४. सादि सान्तादि पर्याय

५०. आदि अन्त की अपेक्षा पर्याय के कितने भेद हैं ?

चार भेद हैं – सादि सान्त, आदि अनन्त, अनादि सान्त, अनादि अनन्त।

५१. सादि सान्त पर्याय किसे कहते हैं ?

जिस पर्याय का आदि भी हो और अन्त भी, जैसे हर्ष, विषाद आदि।

५२. सभी पर्यायों का आदि अन्त होता है ?

सूक्ष्म रूप से सभी अर्थ पर्याय सादि सान्त है, पर स्थूल रूप से कुछ सादि सान्त व सादि अनन्त आदि भी है ।

५३. व्यञ्जन पर्याय क्या नियम से सादि सान्त नहीं होती ?

नहीं; अशुद्ध द्रव्यों में वे नियम से सादि सान्त होती हैं और शुद्ध द्रव्यों में सादि सान्त व सादि अनन्त भी ।

५४. सादि अनन्त पर्याय किस कहते हैं ?

जो पर्याय उत्पन्न तो होती हो पर जिसका अन्त न होता हो; जैसे जीव की सिद्ध पर्याय ।

५५. अनादि सान्त पर्याय किसे कहते हैं ?

जो पर्याय कभी उत्पन्न न हुई हो, अर्थात् अनादि से हो पर जिसका अन्त हो जाता है; जैसे जीव की संसारी पर्याय ।

५६. अनादि अनन्त पर्याय किसे कहते हैं ?

जिस पर्याय का न आदि हो न अन्त; जैसे धर्मास्तिकाय की शुद्ध द्रव्य पर्याय और अभव्य जीव की अशुद्ध पर्यायें ।

५७. सादि सान्त स्वभाव व्यञ्जन पर्याय व स्वभाव अर्थ पर्याय किस द्रव्य में होती है ?

परमाणु में; क्योंकि स्कन्ध से बिछुड़कर शुद्ध हो जाता है, और पुनः स्कन्ध में बंधकर अशुद्ध हो जाता है।

५८. सादि अनन्त स्वभाव व विभाव अर्थ व्यञ्जन पर्याय किन द्रव्यों में होती है ?

स्वभाव रूप दोनों पर्यायें मुक्त जीवो में होती हैं; क्योंकि एक बार सिद्ध हो जाने पर वह पुनः संसारी नहीं होता । विभाव पर्याय में आदि अनन्त का विकल्प संम्भव नहीं, क्योंकि वह नियम से नष्ट होने वाला होता है ।

५९. अनादि सान्त स्वभाव व विभाव पर्यायें किसमें हैं ?

अनादि सान्त विभाव पर्याय तो संसारी जीव में होती हैं । स्वभाव पर्यायों में अनादि सान्त का विकल्प नहीं, क्योंकि न कोई जीव अनादि से शुद्ध है और न परमाणु ।

६०. अनादि अनन्त स्वभाव व विभाव पर्याय किसमें होती है ?

अनादि अनन्त स्वभाव पर्यायें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल इन चार नित्य शुद्ध द्रव्यों में हैं, जीवन पुद्गल में सम्भव नहीं, क्योंकि उनमें अनादि से कोई शुद्ध नहीं है । अनादि

अनन्त विभाव पर्याय केवल अभव्य जीव में ही सम्भव है, क्योंकि वह कभी शुद्ध नहीं होता। स्थूल रूप से अकृत्रिम चैत्यालय, सूर्य बिम्ब आदि पुद्गल स्कन्धों की अनादि अनन्त विभाव व्यञ्जन पर्यायें मानी गई हैं। वहाँ भी अर्थ पर्याय सादि सान्त ही होती हैं, अनादि अनन्त नहीं।

५. अभ्यास

६१. पर्याय किसका अंश है ?

द्रव्य व गुण दोनों का अंश है। द्रव्य का अंश होने से वह सहभावी कहलाती है और गुण का अंश होने से क्रमभावी।

६२. किन-किन द्रव्यों में कौन-कौन पर्यायें होते हैं ?

जीव व पुद्गल में वैभाविकी शक्ति होने से स्वभाव विभाव दोनों प्रकार की अर्थ व व्यञ्जन पर्यायें होती हैं। शेष चार द्रव्यों में उस शक्ति का अभाव होने से केवल स्वभाव व्यञ्जन व अर्थ पर्याय ही होती हैं, विभाव नहीं।

६३. द्रव्य में कौन सी पर्याय एक होती है और कौन सी अनेक ?

व्यञ्जन पर्याय एक होती है और अर्थ पर्याय अनेक, क्योंकि उनके कारणभूत प्रदेशत्वगुण एक है और अन्य गुण अनेक।

६४. एक समय में जीव कितनी पर्याय धारण कर सकता है ?

व्यञ्जन पर्याय तो स्वभाव या विभाव में से कोई एक हो सकती है, क्योंकि वह एक ही गुण की होती है, और अर्थ पर्याय एक ही समय में स्वभाव व विभाव दोनों हो सकती हैं, क्योंकि वे अनेक हैं। कुछ गुणों की स्वभाव अर्थ पर्याय हो सकती है और कुछ की विभाव। जैसे – चौथे गुण स्थान में सम्यक्त्व गुण की स्वभाव पर्याय है और शेष गुणों की विभाव।

६५. एक समय में पुद्गल कितनी पर्याय धारण कर सकता है ?

केवल दो-दोनों ही प्रकार की स्वभाव पर्याय या दोनों ही विभाव पर्याय। क्योंकि स्कन्ध सर्वथा अशुद्ध द्रव्य होने के कारण उसमें दोनों विभाव पर्याय होती है और परमाणु सर्वथा शुद्ध होने के कारण उसकी दोनों पर्याय शुद्ध होती है।

६६. पुद्गल में स्वभाव व विभाव दोनों पर्याय क्यों नहीं हो सकती और जीव में क्यों हो सकती है ?

पुद्गल में कर्तृत्व का अभाव होने के कारण वह दो ही अवस्था में उपलब्ध होता है – सर्वथा शुद्ध या सर्वथा अशुद्ध। वह अपनी अशुद्ध अवस्था को कर्तृत्वपूर्वक शुद्ध करने का प्रयत्न करते हुए आंशिक शुद्ध दशा को स्पर्श नहीं कर सकता। जबकि जीव में कर्तृत्व बुद्धि होने से वह

अपनी अशुद्ध दशा को करने की साधना करता हुआ आंशिक शुद्ध दशा को स्पर्श कर सकता है। वहाँ आंशिक शुद्ध में ही स्वभाव व विभाव दोनों सम्भव हैं, केवल शुद्ध या केवल अशुद्ध में नहीं।

६७. अर्हन्त भगवान व सम्यग्दृष्टि में कितनी-कितनी पर्याय हैं ?

दोनों में तीन-तीन प्रकार की पर्याय होती हैं – विभाव व्यञ्जन तथा स्वभाव व विभाव अर्थ पर्याय; क्योंकि अर्हंत भगवान के भावात्मक अंश या उपयोग शुद्ध हो जाने पर भी द्रव्यात्मक भाव अशुद्ध है, जिसके कारण कि उन्हें योगों का सद्भाव बर्तता है।

६८. सिद्ध भगवान में कितनी पर्याय हैं ?

केवल दो-स्वभाव व्यञ्जन व स्वभाव अर्थ।

६९. सिद्ध भगवान की व्यञ्जन पर्याय कैसी होती है ?

अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून।

७०. क्या कोई सिद्ध, गाय के आकार के भी होते हैं ?

सिद्ध पुरुषाकार ही होते हैं, अन्य किसी आकार के नहीं, क्योंकि अन्य पर्याय से मुक्ति सम्भव नहीं, स्त्री पर्याय से भी नहीं।

७१. ऐसे द्रव्य बताओ जिनकी व्यञ्जन पर्याय समान हो ?

केवल समुद्घातगत अर्हंत, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, इन तीनों की व्यञ्जन पर्याय लोकाकाश प्रमाण है। कालाणु व परमाणु दोनों की व्यञ्जन पर्याय अणुरूप है।

७२. सबसे बड़ी व सबसे छोटी व्यञ्जन पर्याय किसकी ?

आकाश की सबसे बड़ी और कालाणु व परमाणु की सबसे छोटी।

७३. व्यञ्जन व अर्थ पर्याय में परस्पर क्या सम्बन्ध ?

व्यञ्जन पर्याय शुद्ध होने पर तो सभी अर्थ पर्याय भी अवश्य शुद्ध होगी, जैसे सिद्ध भगवान। परन्तु अर्थ पर्याय शुद्ध होने पर व्यञ्जन पर्याय शुद्ध हो अथवा न भी हो; जैसे अर्हंत।

७४. अर्थ पर्याय के शुद्ध होने पर व्यञ्जन पर्याय को भी शुद्ध होना पड़े क्या यह ठीक है ?

नहीं, जीव में सम्यक्त्वादि गुणों की अर्थ पर्याय शुद्ध होने पर भी व्यञ्जन पर्याय अशुद्ध रह सकती है।

७५. बड़ी व्यञ्जन पर्याय में अधिक पर्याय समा सकती है ?

नहीं, व्यञ्जन पर्याय के छोटे व बड़े होने से, अर्थ पर्याय की संख्या में अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सभी पर्याय द्रव्य के सर्व क्षेत्र में व्यापकर एक साथ रहती हैं।

७६. ज्ञान गुण की कितनी पर्याय होती हैं ?

मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्याय से चारों विभाव अर्थ पर्याय हैं और केवल ज्ञान स्वभाव अर्थ पर्याय ।

७७. रूप-रस-गन्ध व स्पर्श वर्ण की कितनी-कितनी पर्याय होती हैं ?

रूप गुण की पाँच – काला, पीला, लाल, नीला, सफेद;

रस गुण की पाँच – खट्टा, मीठा, कडुवा, कसैला, चरपरा;

गन्ध गुण की दो – सुगन्ध, दुर्गन्ध

स्पर्श गुण की आठ – ठण्डा-गर्म, चिकना-रूखा, हल्का-भारी, कठोर-नर्म ।

७८. रूप-रस-आदि की स्वभाव व विभाव पर्याय क्या होती हैं ?

उपरोक्त सर्व पर्यायें विभाव हैं । उन गुणों की स्वभाव पर्याय स्वत्व योग्य कुछ होती अवश्य हैं, पर सूक्ष्म होने से केवल ज्ञान गम्य है, छद्मस्थ ज्ञान गम्य नहीं । वे परमाणु में ही होती हैं ।

७९. परमाणु में एक समय कितनी पर्याय होती हैं ?

पाँच-रूप, रस, गन्ध-पर्यायों में एक-एक तथा स्पर्श की दो पर्याय । ये सभी वहाँ स्वभाव रूप सूक्ष्म होती हैं ।

८०. परमाणु में हल्का भारी तथा कठोर नर्म क्यों नहीं ?

क्योंकि वे स्कन्ध के ही धर्म हैं ।

८१. स्कन्ध में एक समय में कितनी पर्याय होती हैं ?

सात-रूप, रस, गन्ध की एक-एक और स्पर्श की चार युगल पर्यायों में से एक-एक कर कोई सी चार; जैसे ठण्डा-गर्म युगल में से कोई एक, चिकने-रुखे में से कोई एक । ये सभी विभाव रूप होती हैं ।

८२. 'शब्द' क्या है ?

पुद्गल द्रव्य की विभाव पर्याय है, क्योंकि स्कन्ध के प्रदेशों में परिस्पन्दन रूप से होती है, परमाणु में नहीं।

८३ आकार को द्रव्य पर्याय क्यों कहा ?

क्योंकि पदार्थ के प्रदेशात्म विभाग को द्रव्य कहते हैं, इसलिए उसकी पर्याय को द्रव्य पर्याय *कहना ठीक ही है ।*

८४. द्रव्य गुण पर्याय को मापने के यूनिट क्या हैं ?

द्रव्य पर्याय को मापने का यूनिट प्रदेश है, और गुण पर्याय को मापने का अविभाग प्रतिच्छेद है; क्योंकि द्रव्य पर्याय क्षेत्रात्मक होती है और गुण पर्याय भावात्मक।

८५. अनेक द्रव्यों की एक पर्याय और एक द्रव्य की अनेक पर्यायें क्या ?

शरीरधारी जीव तथा पुद्गल स्कन्ध अनेक द्रव्यात्म एक द्रव्य पर्याय है। प्रत्येक द्रव्य अनेक अर्थ पर्याय होती ही हैं।

८६. द्रव्य, गुण व पर्याय इन तीनों में साक्षात् प्रयोजनीय क्या ?

केवल पर्याय ही साक्षात् व्यक्त होने से उपभोग्य है; गुण व द्रव्य तो उनके कारण रूप में मात्र ज्ञेय हैं।

८७. द्रव्य व गुण का अनुभव क्यों नहीं होता ?

क्योंकि वे सामान्य हैं। अनुभव विशेष का होता है सामान्य का नहीं; जैसे आम ही खाया जाता है, मात्र वनस्पति नहीं।

८८. द्रव्य गुण का अनुभव नहीं होता तो वे हैं ही नहीं।

नहीं, पर्यायों पर से उनका अनुमान होता है, क्योंकि सामान्य के विशेष कुछ नहीं होता; जैसे वनस्पति के अभाव में आम कल्पना मात्र बनकर रह जायेगा।

८९. व्यञ्जन व अर्थ पर्याय में कौन पहले शुद्ध होती है ?

जीव की अर्हंत अवस्था में पहले अर्थ पर्याय शुद्ध होती है, पीछे सिद्ध होने पर व्यञ्जन पर्याय शुद्ध होती है। पुद्गल में परमाणु के पृथक् हो जाने पर उसकी दोनों पर्याय युगपत हो जाती हैं।

९०. जीव में विभाव पर्याय कहाँ तक रहती है ?

चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक, अर्थात् मुक्त होने से पहले तक।

९१. व्यञ्जन पर्याय असमान होने पर भी अर्थ पर्याय समान हों, ऐसे द्रव्य कौन से ?

मुक्त जीव; क्योंकि उनके आकार भिन्न हैं, पर भाव समान।

९२. ५०० हाथ अवगाहना वाले सिद्धों में ज्ञान व आनन्द अधिक तथा ७ हाथ अवगाहना वालों में कम है ?

नहीं, अवगाहना व्यञ्जन पर्याय है और ज्ञान व आनन्द अर्थ पर्याय। अवगाहना छोटी बड़ी होने से अर्थ पर्याय छोटी बड़ी नहीं होती, क्योंकि वे भावात्मक हैं।

९३. विभाव अर्थ पर्याय कितने प्रकार की होती हैं ?

दो प्रकार की–गुण की शक्ति घट जाना तथा गुण विकृत हो जाना ।

९४. शक्ति घट जाने से क्या समझे ?

जिस पर्याय में गुण की कुछ शक्ति व्यक्त रहे और कुछ अव्यक्त । जैसे घनाच्छादि सूर्य प्रकाश की कुछ शक्ति व्यक्त होती है और शेष ढकी रहती है ऐसे ही संसारी जीव के मति ज्ञानादि में व अल्प वीर्य में कुछ मात्र ही शक्ति व्यक्त होती है, शेष नहीं ।

९५. विकृत गुण से क्या समझे ?

जिस पर्याय में गुण की शक्ति विपरीत दिशा में व्यक्त हो । जैसे दूध सड़ जाने की भाँति जीव के सम्यक्त्व व चारित्र गुण विकृत होकर, आनन्दरूप से व्यक्त होने की बजाय मिथ्यात्व व व्याकुलता रूप बन जाते हैं।

९६. क्या आम्रफल की व्यञ्जन पर्याय उसके ऊपरी आकार में ही होती है ?

नहीं, व्यञ्जन पर्याय प्रदेशों की घनाकार रचना को कहते हैं, जो भीतर व बाहर सर्वत्र रहती है।

९७. स्वभाव व्यञ्जन पर्याय के साथ विभाव अर्थ पर्याय रहे ऐसा द्रव्य कौन ?

ऐसा कोई द्रव्य सम्भव नहीं; क्योंकि व्यञ्जन पर्याय शुद्ध होने पर तो सभी पर्याय अवश्य शुद्ध ही होती हैं ।

९८. विभाव व्यञ्जन पर्याय के साथ स्वभाव अर्थ पर्यायें रहें, ऐसा द्रव्य कौन सा ?

सम्यग्दृष्टि जीव अथवा अर्हन्त भगवान, इन दोनों की व्यञ्जन पर्याय विभाविक है, पर सम्यग्दृष्टि का एक सम्यक्त्व गुण और अर्हन्त भगवान के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनेक गुणों की स्वाभाविक पर्याय होती है ।

संदर्भ

★. **"जैन सिद्धान्त सूत्र"** से साभार उद्धृत

"जैन सिद्धान्त सूत्र" की लेखिका परमपूज्या **ब्र.कु.कौशल जी** है । इसका प्रकाशन आचार्य देश भूषण ट्रस्ट, ४१७ कूंचा बुलाकी बेगम, दिल्ली–११०००६ से सन् १९७६ ई.में हुआ है । ग्रंथ के महत्त्व को देखते हुए इसके पृष्ठ १५० से १६३ तक यहाँ उद्धृत हैं । इसकी अनुमति प्राप्ति के लिये डो. वीरसागर जैन के हम आभारी हैं । हम विदुषी लेखिका के भी कृतज्ञ हैं, जिन्होंने बड़े सरल और स्पष्ट रुप से 'पर्याय' के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है ।

१८
क्रमबद्धपर्याय

हुकमचन्द भारिल्ल

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रंथराज **समयसार** की गाथा ३०८ से ३११ तक की आत्मख्याति नामक टीका में **आचार्य अमृतचंद्र** लिखते हैं –

''जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीव; एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः ।

प्रथम तो जीव क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसी प्रकार अजीव भी क्रमनियमित (क्रमबद्ध) अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं ।''

यहाँ समस्त जीवों और अजीवों के परिणमन को क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है । जीव और अजीव के अतिरिक्त जगत् में और है ही क्या ? जीव और अजीव द्रव्यों के समूह का नाम ही तो विश्व अर्थात् जगत् है । इस प्रकार समस्त जगत् का परिणमन ही क्रमनियमित अर्थात् क्रमबद्ध कहा गया है ।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ मात्र यह नहीं कहा गया है कि पर्यायें क्रम में होती हैं, अपितु यह भी कहा गया है कि वे नियमित क्रम में होती हैं । आशय यह है कि 'जिस द्रव्य की, जो पर्याय, जिस काल में, जिस निमित्त व जिस पुरुषार्थपूर्वक, जैसी होनी है; उस द्रव्य की, वह पर्याय, उसी काल में, उसी निमित्त व उसी पुरुषार्थपूर्वक वैसे ही होती है; अन्यथा नहीं' – यह नियम है ।

जैसा कि **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** में कहा गया है –

''जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं व अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठी ॥ ३२३ ॥

जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियतरूप से जाना; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है । उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है ? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता है ।

इस प्रकार निश्चय से जो द्रव्यों को और उनकी समस्त पर्यायों को जानता है; वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है ।"

जिनागम में और भी अनेक स्थानों पर इस प्रकार भाव व्यक्त किया गया है –

"प्रागेव यदवाप्तव्यं येन यत्र यथा यतः ।
तत्परिप्राप्यतेऽवश्यं तेन तत्र तथा ततः ॥[१]

जिसे जहाँ, जिस कारण से, जिस प्रकार से, जो वस्तु प्राप्त होनी होती है; उसे वहाँ, उसी कारण से, उसी प्रकार, वही वस्तु अवश्य प्राप्त होती है ।

जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे ।
बिन देख्यो होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे ॥
समयो एक बढै नहिं घटसी, जो सुख-दुख की पीरा रे ।
तू क्यों सोच करे मन कूड़ो, होय व्रज ज्यों हीरा रे ॥[२]

तथा

जा करि जैसें जाहि समय में, जो होतव जा द्वार ।
सो बनिहै टरिहै कुछ नाहीं, करि लीनौं निरधार ॥
हमकौं कछु भय ना रे, जान लियो संसार ॥ टेक ॥[३]

उक्त प्रकरणों में प्रायः सर्वत्र ही सर्वज्ञ के ज्ञान को आधार मानकर, भविष्य को निश्चित निरूपित किया गया है और उसके आधार पर अधीर नहीं होने का एवं निर्भय रहने का उपदेश दिया गया है। **स्वामी कार्तिकेय** ने तो ऐसी श्रद्धा वाले को ही सम्यग्दृष्टि घोषित किया है और इस प्रकार नहीं मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहने में भी उन्हें किंचित् भी संकोच नहीं हुआ । इस प्रकार हम देखते हैं कि *'क्रमबद्धपर्याय'* की सिद्धि में सर्वज्ञता सबसे प्रबल हेतु है ।

निष्पन्न पर्यायों की क्रमबद्धता स्वीकार करने में तो जगत् को कोई बाधा नजर नहीं आती; किन्तु जब अनिष्पन्न भावी पर्यायों को भी निश्चित कहा जाता है तो जगत् चौंक उठता है । उसे लगता है कि *यदि सब कुछ निश्चित ही है तो फिर हमारा यह करना-धरना सब बेकार है । कर्तृत्व के अभिमान की जिस दीवार को वह ठोस आधार मानकर खड़ा था, अकड़ रहा था; जब वह ढहती नजर आती है, तो* एकदम बौखला जाता है ।

चूँकि अभी तक सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार करता रहा है; अतः एकदम तो उससे मुकर नहीं पाता; अतः सर्वज्ञता की व्याख्यायें बदलने लगती है। कभी कहता है कि वे भूतकाल और वर्तमान को तो जानते हैं, पर भविष्य को नहीं; क्योंकि भूतकाल में तो जो कुछ होना था, सो हो चुका और वर्तमान में जो होना है, वह हो ही रहा है; अतः उन्हें जानने में तो कोई आपत्ति नहीं; पर भविष्य की घटनाएँ जब अभी घटित ही नहीं हुई तो उन्हें जानेंगे ही क्या? कभी कहता है कि भविष्य को जानते तो हैं, किन्तु सशर्त जानते हैं। जैसे-जो पुण्य करेगा वह सुखी होगा और जो पाप करेगा वह दुःखी होगा। जो पढ़ेगा वह पास होगा और जो नहीं पढ़ेगा वह पास नहीं होगा–आदि न जाने कितने रास्ते निकालता है।

पर उसका यह प्रयास निष्फल ही रहता है; क्योंकि कोई रास्ता है ही नहीं तो निकलेगा कहाँ से ? यह कैसे हो सकता है वह सर्वज्ञ तो माने, पर भविष्यज्ञ नहीं। सर्वज्ञ का अर्थ त्रिकालज्ञ होता है। जो भविष्य को न जान सके वह कैसा सर्वज्ञ ? सर्वज्ञ की व्याख्या तो ऐसी है कि जो सबको जाने सो सर्वज्ञ। कहा भी है –

"**सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवल्य**[४] – केवलज्ञान का विषय तो समस्त द्रव्य और उनकी तीनकाल सम्बन्धी समस्त पर्यायें हैं।"

जो कुछ हो चुका है, हो रहा है और भविष्य में होने वाला है; सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में तो वह सब वर्तमानवत् स्पष्ट झलकता है। **आचार्य कुन्दकुन्द** कहते हैं –

"**जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं व णाणस्स।**
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥[५]

यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत की) पर्याय सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?"

धवला पुस्तक ६ में इसी बात को इस प्रकार व्यक्त किया है – "**णट्ठाणुप्पण्ण अत्थाणं कधं तदो परिच्छेदो। ण, केवलत्तादो बज्झत्थावेक्खाए विणा तदुप्पत्तीए विरोहाभाव।**

प्रश्न – जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका केवलज्ञान से कैसे ज्ञान हो सकता है ?

उत्तर – नहीं, क्योंकि केवलज्ञान के सहाय-निरपेक्ष होने से बाह्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना उनके (विनष्ट और अनुत्पन्न के) ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है।[६]"

आचार्य अमृतचन्द्र ने सर्वज्ञ द्वारा समस्त ज्ञेयों को एक क्षण में सम्पूर्ण गुण और पर्यायों सहित अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इस प्रकार की है –

"**अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखतनिखातकीलितमज्जितसमा-वर्तित प्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भा-विविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यताजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं।**[७]

एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से, क्रमशः प्रवर्त्तमान, अनन्त, भूत-वर्त्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर ऐसे समस्त द्रव्यमात्र को-मानो वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों; इस प्रकार—एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है।"

और भी देखिए – "**अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेन जानीयात**।[8]

अथवा अतिविस्तार से बस हो – जिसका अनिवार फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को जानता है।"

सर्वज्ञता की सिद्धि **आचार्य समन्तभद्र** ने **आप्तमीमांसा** में, **आचार्य अकलंकदेव** ने उसकी टीका **अष्टशती** में एवं **आचार्य विद्यानंदि** ने **अष्टसहस्त्री** में विस्तार से की है। **'सर्वज्ञसिद्धि'** जैनन्याशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। एक प्रकार से सम्पूर्ण न्यायशास्त्र ही सर्वज्ञता की सिद्धि में समर्पित है। फिर भी जब न्यायविषयक अनेक उपाधियों से विभूषित विद्वद्वर्ग सर्वज्ञता में भी आशंकाएं व्यक्त करने लगता है या उसकी नई-नई व्याख्यायें प्रस्तुत करने लगता है, तो आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

सर्वज्ञ भगवान का भविष्य सम्बन्धी ज्ञान 'पढ़ेगा तो पास होगा' के रूप में अनिश्चयात्मक न होकर 'यह पढ़ेगा और अवश्य पास होगा' अथवा 'नहीं पढ़ेगा और पास भी नहीं होगा' के रूप में निश्चयात्मक होता है।

भविष्य को निश्चित मानने में अज्ञानी को वस्तु की स्वतंत्रता खण्डित होती प्रतीत होती है; पर उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि भविष्य को अनिश्चित मानने पर ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान काल्पनिक सिद्ध होंगे, जबकि सूर्यग्रहण आदि की घोषणाएँ वर्षों पहले कर दी जाती हैं, और वे सत्य निकलती हैं।

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान भी अपनी सीमा में भविष्य को जानते ही हैं। लाखों वर्षों आगे के भविष्य की निश्चित घोषणाओं से सर्वज्ञ-कथित जिनागम भरा पड़ा है और वे समस्त घोषणाएँ 'ऐसा ही होगा' की भाषा में हैं। सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से इंकार करने का अर्थ समस्त जिनागम को तिलाञ्जलि देना होगा।

इस प्रकार जैनदर्शन के सर्वमान्य **आचार्य श्री कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, समन्तभद्र, उमास्वामी, पूज्यपाद, वीरसेन, अमृतचन्द्र, रविषेण** आदि अनेक दिग्गज आचार्यों के प्रबल प्रमाणों से सर्वज्ञता और त्रिकालज्ञता सहज सिद्ध है।

उपर्युक्त अनेक प्रमाण देने के बाद भी लोगों को आग्रह रहता है कि आप हमें स्पष्ट रूप से बताइये कि क्रमबद्धपर्याय की बात कौन से शास्त्र में है ? पर मेरा कहना है कि ऐसा कौनसा शास्त्र है, जिसमें क्रमबद्धपर्याय की बात नहीं है ? चारों ही अनुयोगों के शास्त्रों में यहाँ तक कि पूजन-पाठ में भी कदम-कदम पर क्रमबद्धपर्याय का स्वर मुखरित होता सुनाई देता है।

"भामण्डल की द्युति जगमगात, भवि देखत निजभव सात-सात"[१]

तीर्थंकर भगवान के प्रभावमण्डल में भव्यजीव को अपने-अपने सात-सात भव दिखाई देते हैं। उन सात भवों में तीन भूतकाल के, तीन भविष्य के एवं एक वर्तमान भव दिखाई देता है।

इसके अनुसार प्रत्येक भव्य के कम से कम भविष्य के तीन भव तो निश्चित रहते ही हैं, अन्यथा वे दिखाई कैसे देते ? तीन भव की आयु एक साथ बंध नहीं सकती। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता हि आयुकर्म बंध जाने से भव निश्चित हो गए थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे पहले से ही निश्चित रहते हैं, आयुकर्म के बंध से निश्चित नहीं होते।

प्रथमानुयोग के सभी शास्त्र भविष्य की निश्चित घोषणाओं से भरे पड़े हैं।

भगवान नेमिनाथ ने द्वारका जलने की घोषणा बारह वर्ष पूर्व कर दी थी। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि किस निमित्त से, कैसे और कब – यह सब – कुछ घटित होगा। अनेक उपायों के बाद भी वह सब कुछ उसी रूप में घटित हुआ।

भगवान आदिनाथ ने मारीचि के बारे में एक कोड़ा-कोड़ी सागर तक कब क्या घटित होने वाला है – सब कुछ बता ही दिया था। क्या आप उसकी सत्यता में शंकित हैं ? क्या वह सब-कुछ पहले से निश्चित नहीं था ? असंख्य भव पहिले ये बता दिया गया था कि वे चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। तब तो उनके तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी नहीं हुआ था ? क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति बंध जाने के बाद असंख्य भव नहीं हो सकते। तीर्थंकर प्रकृति को बांधने वाला तो उसी भव में, या तीसरे भव में, अवश्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म बंध जाने से उनका उतना भविष्य निश्चित हो गया था।

यह सब तो यही सिद्ध करता है कि आदिनाथ के समय से ही यह निश्चित था कि वे चौबीसवें तीर्थंकर होंगे। जब चौबीसवें तीर्थंकर होने का निश्चित था तो फिर बीच के भव भी निश्चत ही थे। निश्चित थे – तभी तो जाने जा सके और बताये भी जा सके।

तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४, श्लोक १००२ से १०१६ तक में अष्टांग निमित्तज्ञान द्वारा भविष्य जाने जाने का स्पष्ट उल्लेख है। **आचार्य भद्रबाहु** ने निमित्तज्ञान के आधार पर उत्तर भारत में बारह वर्ष के अकाल की घोषणा की थी, जो पूर्ण सत्य उतरी। **सम्राट चन्द्रगुप्त** को स्वप्न आए थे, जिनके आधार पर भी भविष्य की घोषणाएँ की गई थीं।

क्या करणानुयोग में यह नहीं लिखा है कि छह महीने आठ समय में छह सौ आठ जीव निगोद से निकलेंगे और इतने ही समय में इतने ही जीव मोक्ष भी जावेंगे। क्या इससे अधिक जीव निगोद से निकल सकते हैं या मोक्ष जा सकते हैं ? क्या यह निश्चित नहीं है ? है, तो फिर क्या इससे वस्तु की स्वतंत्रता खण्ड़ित नहीं होती ? इतने ही जीव मोक्ष क्यों जावेंगे, इससे अधिक क्यों नहीं ?

करणानुयोग में यह भी लिखा है कि जीव नित्यनिगोद से दो हजार सागर के लिए निकलता है – उसमें भी दो इन्द्रिय के इतने, तीन इन्द्रिय के इतने, चार इन्द्रिय के इतने भव धारण करता है, मनुष्य के अड़तालीस भव मिलते हैं। यह सब क्या है ?

भरतक्षेत्र में जो आगामी चौबीस तीर्थंकर होने वाले हैं, उनके नामों की घोषणायें जिनागम में हो ही चुकी हैं। साथ ही उन जीवों के नाम भी घोषित हो चुके हैं, जिन्हें भावी तीर्थंकर होना है। वह सब निश्चित था तभी तो घोषित हुआ है।

जब अपने को प्रथमानुयोग या करणानुयोग का विशेषज्ञ कहने वाले विद्वान भी सम्पूर्ण पर्यायों के क्रमनियमित होने का विरोध करते हैं, तब आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता; क्योंकि प्रथमानुयोग और करणानुयोग में तो कदम-कदम पर इसका प्रबल समर्थन किया गया है।

प्रसिद्ध तार्किक **आचार्य समन्तभद्र स्वयंभूतस्तोत्र** में लिखते हैं –

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादी ॥ ३३ ॥

यहाँ भगवान को सम्बोधित करते हुए **आचार्य समन्तभद्र** कहते हैं कि हे जिनदेव ! आपने यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वय से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है, ऐसी जो भवितव्यता, उसकी शक्ति अलंध्य है अर्थात् उसकी शक्ति का उल्लंघन नहीं किया जा सकता; जो होना होता है, हो के ही रहता है। फिर भी यह निरीह संसारी प्राणी 'मैं इस कार्य को कर सकता हूँ' – इस प्रकार के अहंकार से पीड़ित रहता है, जबकि भवितव्यता के बिना अनेक सहकारी कारणों को मिलाकर भी कार्य सम्पन्न करने में समर्थ नहीं होता।

कषायपाहुड़ व **धवल** में भी कहा है –

प्रश्न – इन (छयासठ) दिनों में दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति किसलिए नहीं हुई ?

उत्तर – गणधर का अभाव होने के कारण।

प्रश्न – सौधर्म इन्द्र ने उसी समय गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया ?

उत्तर – नहीं किया, क्योंकि काललब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र के, उनको उपस्थित करने की शक्ति का उस समय अभाव था।[१]"

जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन कहा जाता है। अकर्त्तावाद का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि इस जगत् का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। ज्ञानी आत्मा तो अपने विकार का भी कर्ता नहीं होता। यह बात **समयसार** के कर्त्ता-कर्म अधिकार एवं सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में विस्तार से स्पष्ट की गई है।

स्वकर्तृत्व कहो, सहजकर्तृत्व कहो—सबका एक ही अर्थ है। जैनदर्शन अकर्त्तावादी दर्शन है – इसका भाव यही है कि सहजकर्त्तावादी या स्वकर्त्तावादी है, परकर्त्तावादी या फेरफारकर्त्तावादी नहीं है।

सहज होना और करना एक ही बात है। भविष्य में हमारा जो होना है, वही होगा अर्थात् हम पुरुषार्थपूर्वक वही करेंगे। इसमें पुरुषार्थ की कहीं कोई उपेक्षा नहीं हैं, कहीं कोई पराधीनता नहीं है; सर्वत्र स्वाधीनता का साम्राज्य है। इसमें सभी कुछ है – स्वभाव है, पुरुषार्थ है, भवितव्य है, काललब्धि है और निमित्त भी है – पाँचों ही समवाय उपस्थित हैं।

इसी बात को यदि वस्तुस्वरूप की ओर से विचार करें, तब भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे; क्योंकि नित्यता के समान परिणमन भी प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, उसके होने में पर के सहयोग की क्या आवश्यकता है ? यदि द्रव्य को अपने परिणमन में पर की अपेक्षा हो तो फिर वह उसका स्वभाव ही क्या रहा ? द्रव्य शब्द ही द्रवणशीलता-परिणमनशीलता का द्योतक है। जो स्वयं द्रवे-परिणमे, उसे ही द्रव्य कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य में एक द्रव्यत्व नाम का सामान्यगुण है – शक्ति है। उसके कारण ही द्रव्य परिणमनशील है। परिणमनशील द्रव्य का सामान्य धर्म है, सहज धर्म है, स्वाभाविक धर्म है, परनिरपेक्ष धर्म है। जब प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने से द्रव रहा है, अपने नियमित प्रवाह में बह रहा है, सहज क्रमबद्ध परिणमन कर रहा है; तो फिर ऐसी क्या आवश्यकता है कि वह अपने क्रम को भंग करे ? वस्तु के स्वरूप में ऐसा क्या व्यवधान है कि वह अपनी चाल बदले ? और क्यों बदले ? उसे क्या जरूरत है अपनी चाल बदलने की ?

आखिर वस्तुस्वरूप ही सहज स्वीकृति क्यों नहीं, बलात् परिवर्तन का हठ क्यों ? धर्म तो वस्तुस्वरूप की सहज स्वीकृति का नाम है। वस्तुस्वरूप की सहज परिणति की स्वीकृति ही धर्म का आरम्भ है। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि सहज अन्तरोन्मुखी होती है। क्रमबद्ध परिणमन की सहज स्वीकृति वाले जीव की क्रमबद्ध में भी सहज स्वभाव-सन्मुख परिणमन होता है। वस्तुस्वरूप में ही ऐसा सुव्यवस्थित सुमेल है।

क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति बिना दृष्टि का स्वभाव-सन्मुख होना सम्भव नहीं है; क्योंकि पर्यायों में अपनी इच्छानुकूल फेरफार करने का भार उस पर बना रहता है। फेर-फार करने के भार से बोझिल दृष्टि में यह सामर्थ्य नहीं कि वह स्वभाव की ओर देख सके। दृष्टि के सम्पूर्णतः निर्भर हुए बिना अन्तर प्रवेश सम्भव नहीं।

जैनदर्शन की मूलाधार सर्वज्ञता ही आज संकट में पड़ गई है। हमारे कुछ धुरंधर धर्मबन्धु पक्षव्यामोह में इतने उलझ गये हैं कि सर्वज्ञता में भी मीनमेख निकालने लगे हैं। **आचार्य समन्तभद्र** को **'कलिकालसर्वज्ञ'** इसलिए ही कहा गया था कि उन्होंने कलिकाल में डंके की चोट पर सर्वज्ञता सिद्ध की थी। वे कोई स्वयं सर्वज्ञ नहीं थे, पर उन्होंने कलिकाल के जोर से संकटापन्न सर्वज्ञता को पुनर्स्थापित किया था; इसलिए वे 'कलिकालसर्वज्ञ' कहलाए। आज फिर कलिकाल जोर मार रहा है, आज युग को फिर एक समन्तभद्र चाहिए; जो डंके की चोट पर सर्वज्ञता को सिद्ध कर सके, पुनः स्थापित कर सके।

मोह का नाश कर आत्मश्रद्धान-ज्ञान और आत्मलीनता के इच्छुकजनों को अनन्त पुरुषार्थपूर्वक मर-पच के भी सर्वज्ञता का निर्णय अवश्य करना चाहिए। सर्वज्ञता के निर्णय में क्रमबद्धपर्याय का निर्णय

समाहित है । सर्वज्ञता और क्रमबद्धपर्याय का निर्णय ज्ञायक स्वभाव के सन्मुख होकर ही होता है । ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता ही मुक्ति महल की प्रथम सीढ़ी है; उस पर आरोहण का अनन्त पुरुषार्थ क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में समाहित है ।

इस प्रकार 'सर्वज्ञता' और 'कर्मबद्धपर्याय' एक प्रकार से परस्परानुबद्ध है। एक का निर्णय (सच्ची समझ) दूसरे के निर्णय के साथ जुड़ा हुआ है। दोनों का ही निर्णय सर्वज्ञस्वभावी निज आत्म के सन्मुख होकर होता है। यदि कोई व्यक्ति परोन्मुखी वृत्ति द्वारा 'सर्वज्ञता' या 'क्रमबद्धपर्याय' का निर्णय करने का यत्न करे तो वह कभी सफल नहीं होगा ।

सर्वज्ञता के निर्णय से, क्रमबद्धपर्याय के निर्णय से मति व्यवस्थित हो जाती है, कर्तृत्व का अहंकार गल जाता है, सहज ज्ञातादृष्टापने का पुरुषार्थ जागृत होता है, पर में फेर-फार करने की बुद्धि समाप्त हो जाती है; इस कारण तत्सम्बन्धी आकुलता-व्याकुलता भी चली जाती है, अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होने के साथ-साथ अनन्त शांति का अनुभव होता है। सर्वज्ञता के निर्णय और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा से इतने लाभ तो तत्काल प्राप्त होते हैं । इसके पश्चात् जब वही आत्मा, आत्मा के आश्रय से वीतराग-परिणति की वृद्धि करता जाता है, तब एक समय वह भी आता है कि जब वह पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता को स्वयं प्राप्त कर लेता है । आत्मा से परमात्मा बनने का यही मार्ग है ।

इस विषय की विशेष जानकारी के लिए लेखक की '**क्रमबद्धपर्याय**' नामक कृति का गहरा अध्ययन अपेक्षित है । सभी प्राणी 'क्रमबद्धपर्याय' और 'सर्वज्ञता' का सही स्वरूप समझकर स्वभाव-सन्मुख हों और अनन्त शांति व अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करें, कालान्तर में यथासमय सर्वज्ञता को प्राप्त कर परम सुखी हों—इस भावना के साथ विराम लेता हूँ ।

संदर्भ

१. आचार्य रविषेण : पद्मपुराण, सर्ग ११० श्लोक ४०

२. भैया भगवतीदास : अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ ८१

३. बुधजन : अध्यात्मपद संग्रह, पृष्ठ ७९

४. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ०१, सूत्र २९

५. प्रवचनसार, गाथा ३९

६. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ १५१

७. *प्रवचनसार, गाथा २०० की तत्त्वप्रदीपिका टीका*

८. वही, गाथा ४७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका

९. कविवर वृन्दावन कृत चन्द्रप्रभ पूजन, जयमाल

१०. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ६१४

१९
जैनदर्शन में बौद्धसम्मत 'पर्याय' की समीक्षा

भागचन्द्र जैन

पर्याय, द्रव्य का अभिन्न तत्त्व है जो हर दर्शन की मूल भित्ति है। अतः सभी दर्शनों ने तत्त्व या द्रव्य और पर्याय की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। वस्तु के असाधारण स्वतत्त्व को 'तत्त्व' कहा जाता है (**राजवार्तिक**, २.१.६)। तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, परम, परम्परम, ध्येय, शुद्ध—ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं। जैन-बौद्धदर्शन ने इसके लिए 'सत्' शब्द का भी प्रयोग किया है।

पर्याय, द्रव्य में छिपा रहता है। वह द्रव्य की अवस्था विशेष को भेदक या परिणन के रूप में प्रस्तुत करता है। वह द्रव्य का ही अंश या विकास है – '**दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो**'। व्यवहार, विकल्प भेद, पर्याय, अंश, भाग, प्रकार, छर्द, भंग आदि शब्द समानार्थक हैं।

जैनदर्शन द्रव्य की अनेकान्तिक व्यवस्था में विश्वास करता है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक द्रव्य अनन्तधर्मात्मक है। उसमें कुछ धर्म सामान्यात्मक होते हैं और कुछ विशेषात्मक। वह द्रव्य स्वरूपास्तित्व में किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्य से संकीर्ण नहीं होता, उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है, पर वह अपनी पर्यायों में अनुगत भी रहता है, क्रमिक पर्यायों में द्रवित रहता है, प्राप्त होता है। दूसरा सादृश्यास्तित्व विभिन्न अनेक द्रव्यों में गौ इत्यादि प्रकार का अनुगत प्रत्यय कराता है, जो व्यवहार का कारण बनता है।

इसी प्रकार विशेष के भी दो प्रकार हैं, तिर्यक् विशेष और ऊर्ध्वता विशेष। यह विशेष दो द्रव्यों में व्यावृत्त प्रत्यय करा देता है। अपनी ही दो पर्यायों में विलक्षणता का प्रत्यय कराने वाला पर्याय नाम को विशेष होता है। इस प्रकार एक द्रव्य की पर्यायों में अनुगत प्रत्यय या समानता ऊर्ध्वतासामान्य से होती है तथा व्यावृत्त प्रत्यय या पृथकता का आभास पर्याय विशेष से होता है। दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगत प्रत्यय सादृश्य सामान्य या तिर्यक् सामान्य से होता है और व्यावृत्त प्रत्यय व्यतिरेक विशेष से होता है। इस तरह पदार्थ न केवल द्रव्य रूप है, न केवल पर्याय रूप, बल्कि वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप वाला है, सामान्य-विशेषात्मक है। प्रत्येक वस्तु की पर्याय अतीत से सम्बद्ध है और वह भविष्य क्षण को भी उसी वर्तमान पर्याय से प्राप्त करती है। यह परिणमन उसे कूटस्थ नित्य नहीं बनाता बल्कि यह सिद्ध

करता है कि तीनों क्षणों की एक अविच्छिन्न कार्य-कारण परम्परा है। वह न बिल्कुल स्थायी नित्य है और न इतना विलक्षण परिणमन करने वाला है कि उसकी प्रतीति ही न हो।

बौद्धधर्म में प्रज्ञप्त्यर्थ कल्पित है, भ्रमजनित है, अतः व्यावहारिक धर्म है तथा परमार्थ को वास्तविक धर्म की संज्ञा दी गई है। वहाँ वस्तु सत् को संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। हीनयान में संस्कृत धर्म वस्तु सत् है, पर महायान उसे शून्य कहता है। महायान में धर्म शून्य है, केवल धर्मता (धर्मकाय) वस्तु सत् है। क्षणिक संस्कृत धर्म के अतिरिक्त हीनयान में आकाश और निर्वाण को असंस्कृत धर्म कहा गया है। यहाँ संसार और निर्वाण दोनों वस्तु सत् हैं और प्रज्ञप्ति सत् भी हैं। महायान में वस्तु को शान्त, अद्वय, अवाच्य, विकल्पातीत और निष्प्रपञ्च कहा गया है। उसकी दृष्टि से जो परतन्त्र है, वह वस्तु नहीं है। अतः संस्कृत-असंस्कृत पदार्थ वस्तु सत् नहीं है। वे तो शून्यता के प्रतीक हैं। इस प्रकार हीनयान का बहुधर्मवाद महायान में अद्वयवाद बनकर आया है।

रूप के लक्षण के प्रसंग में बौद्धधर्म में उसे उपचय (उत्पाद), सन्तति, जरता (स्थिति) एवं अनित्यतामय माना है (**अभिधम्मत्थसंगहो**, ६.१५)। इसी को अहेतुक, संप्रत्यय, सास्रव, संस्कृत, लौकिक, कामावचर, अनालम्बन और अप्रहातव्य कहा है (वही, ६.१९)। उपचय एवं सन्तति उत्पत्ति का प्रतीक है, जरता स्थिति का और अनित्यता भंग का प्रतीक है। यहाँ सम्बद्ध बुद्धि को 'सन्तति' कहा गया है, जिसका सम्बन्ध उत्पत्ति के साथ अधिक है। उत्पत्ति के बाद निष्पन्न रूपों के निरुद्ध होने से पूर्व ४८ क्षुद्रक्षण मात्र के स्थिति काल को जीर्ण स्वभाव होने से जरता कहा जाता है। प्रत्येक क्षण में उत्पाद, स्थिति और भंग नामक तीन क्षुद्रक्षण होते हैं। रूप का एक क्षण चितर्वाथि के १७ क्षणों के बराबर होता है। इन-इन १७ क्षणों में भी क्षुद्रक्षण ५१ होते हैं, जिनके बराबर रुप का एक क्षण होता है। ५१ क्षुद्रक्षणों में से सर्वप्रथम उत्पादक्षण को और अंतिम भंगक्षण को निकाल देने पर चित्त के ४८ क्षुद्रक्षण के बराबर रूप की जरता का काल होता है। एक चित्त-क्षण में ये उत्पाद-स्थिति-भंग इतनी शीघ्रता पूर्वक प्रवृत्त होते हैं कि एक अच्छरा काल (चुटकी मारने या पलक मारने के बराबर समय) में ये लाखों करोड़ों बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते हैं। इन उत्पाद-व्यय-भंग स्वभावी रूपों को 'संस्कृत' कहा जाता है।

संस्कृत पदार्थ में परिवर्तन की शीघ्रता अन्वय की भ्रान्ति पैदा करती है। उसे ही अन्वयवशात् स्थायी कह देते हैं। वस्तुतः प्राणी का जीवन विचार के एक क्षण तक रहता है। उस क्षण के समाप्त होते ही प्राणी भी समाप्त हो जाता है। विशुद्धिमग्ग में इसे भेदवाद कहते हैं। वैभाषिक-सौत्रान्तिक भेदवादी हैं। क्षणभंगवाद उनका परम सत्य है। वे धर्म नैरात्म्य (बाह्य पदार्थ क्षणिक और निरंश परमाणुओं का पुंज है और पुद्गलनैरात्म्य (अनात्मवाद) को मानते हैं। सारा व्यवहार सन्ततिवाद और संघातवाद पर आश्रित है। संस्कृत पदार्थ प्रतीत्य-समुत्पन्न और अनित्य है। जिस पदार्थ का समुत्पाद सकारण होता है, वही स्वतन्त्र नहीं है। अतः मध्यान्तिकवादियों ने पदार्थ को शून्यात्मक कहा है (**चतुःशतक**, ३४८)।

सूत्रान्त पालि में "**जरा मरणं भिक्खवे ! अनिच्चं, सङ्कमं पटिच्च समुप्पन्नं**" (**संयुक्त निकाय**, भाग २,१,२४) संस्कृत के तीन ही लक्षण दिये हैं। यहाँ स्थिति का कोई उल्लेख नहीं। सौत्रान्तिकों की दृष्टि में संस्कृत के लक्षण चार ही हैं। उन्होंने 'जरा' के साथ 'स्थिति' को प्रज्ञप्त किया है। वे वस्तुतः

इन लक्षणों को पृथक् द्रव्य न मानकर उन्हें प्रवाह रूप मानते हैं। यह प्रवाह ही उनकी स्थिति का सूचक है। सौत्रान्तिक जीवित आयु को द्रव्य नहीं मानते। विज्ञानवादी संस्कृत-असंस्कृत धर्मों को प्रज्ञप्तिसत् मानते हैं। और माध्यमिक उनका निषेध कर निःस्वभावता की सिद्धि करते हैं।

बौद्धदर्शन में स्वलक्षण और सामान्य लक्षण दो तत्त्व माने गये हैं। स्वलक्षण का तात्पर्य है — वस्तु का असाधारण तत्त्व। इसमें प्रत्येक परमाणु की सत्ता पृथक् और स्वतंत्र स्वीकार की गई है। इसके साथ ही वह सजातीय और विजातीय परमाणुओं से व्यावृत्त है। परमाणुओं में जब कोई सम्बन्ध ही नहीं, तो अवयवी के अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। 'बौद्ध दर्शन में सामान्य तत्त्व को एक कल्पनात्मक वस्तु माना गया है। परन्तु चूँकि वह स्वलक्षण की प्राप्ति में कारण होता है, अतः मिथ्या होते हुए भी उसे पदार्थ की श्रेणी में रखा गया है। मनुष्यत्व, गोत्व आदि को सामान्य तत्त्व कहा गया है। स्वलक्षण तत्त्व अर्थ-क्रियाकारी है, अतः परमार्थसत् है। पर सामान्य अर्थ-क्रियाकारी नहीं। अतः उसे संवृति सत् माना है (**प्रमाण वार्तिक,** २.१-३; २७-२८; ५०-५४)। सामान्य की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, स्वलक्षण प्रत्यक्षगम्य है और सामान्य लक्षण अनुमानगम्य है। अनुमान परोक्ष के अन्तर्गत आता है।

जैन दर्शन वस्तु को अनन्तधर्मात्मक सामान्य-विशेषात्मक तथा द्रव्य-पर्यायात्मक मानता है। अतः वहाँ प्रमेय भी एक ही है। वह किसी को स्पष्ट प्रतिभासित होता है और किसी को अस्पष्ट। यह ज्ञाता की शक्ति पर अवलम्बित है। अतः यहाँ भी प्रमेय की प्रतीति प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूप से होती है। जैनों का प्रत्यक्ष बौद्धों का स्वलक्षण है और जैनों का परोक्ष बौद्धों का सामान्य है। दोनों मान्यताओं में अन्तर इस प्रकार है —

१. जैनदर्शन वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानता है, जबकि बौद्धदर्शन उसका निषेध करता है।

२. जैनदर्शन की दृष्टि में वस्तु का स्वरूप और पररूप, दोनों सापेक्षिक और वास्तविक हैं, जबकि बौद्धों की दृष्टि में दोनों का अस्तित्व होते हुए भी पररूप कल्पित और वासनाजन्य है।

३. बौद्धदर्शन की दृष्टि में पररूप अर्थ से सम्बद्ध है, पर जैनदर्शन उसे इस स्थिति में अर्थ से कथंचित असम्बद्ध मानता है।

४. बौद्धों ने स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के प्रतिपादन में क्षणभंगवाद की स्थापना की है। जैन भी क्षणभंगवाद मानते हैं, पर पर्याय की दृष्टि से। यह पर्याय उत्पाद और व्यय का प्रतीक है।

५. तथागत बुद्ध ने पर्यायों को प्रधानता देकर, त्रैकालिक वस्तु की स्थिरता का निषेध किया है। इसलिए वे ज्ञानपर्याय को तो मानते हैं, किन्तु ज्ञानपर्याय विशिष्ट द्रव्य को नहीं स्वीकार करते। पर जैनदर्शन में दोनों का समन्वय है। दोनों की पारमार्थिकता का समर्थन किया गया है।

जैनदर्शन का ध्रौव्य, बौद्धधर्म का 'सन्तान' कहा जा सकता है। ध्रौव्य में उत्पाद-व्यय के माध्यम से न तो शाश्वतवाद और न उच्छेदवाद का प्रसंग उपस्थित होता है और न उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य रूप से परिणमन होता है। 'सन्तान' भी अपने नियत पूर्वक्षण और नियत उत्तरक्षण के साथ कार्यकारण भाव रूप में सम्बद्ध रहते हैं।[१] अन्तर यह है —

१. इस 'सन्तान' को बौद्धदर्शन ने पंक्ति और सेना के समान मृषा और व्यवहारतः कल्पित माना है – **सन्तानः समुदायश्च पंक्ति सेनादिवन्मृषा-बोधिचर्यावतार**; पर जैनदर्शन ध्रौव्य को परमार्थ सत् मानता है । वह उसे तद्द्रव्यत्व का नियामक प्रस्थापित करता है । हर पर्याय अपने स्वरूपास्तित्व में रहती है । वह कभी न तो द्रव्यान्तर में परिणत हो सकती है और न विलीन हो सकती है ।

२. सन्तान की अन्तिम परिणति तो निर्वाण में चितसन्तति की समूलोच्छिन्नता के रूप में दृष्टव्य है।[२] परन्तु द्रव्य का समूलोच्छेद कभी नहीं होता । वह तो अर्थपर्याय के रूप में परिणमन करता रहता है ।

३. द्रव्य, ध्रौव्य और गुण समानार्थक शब्द हैं । ध्रौव्य या द्रव्य में जो अन्वयांश है, वह सन्तान में नहीं ।

बौद्धदर्शन सामान्य को वस्तु सत् नहीं मानता । वह तो उसे कल्पित मानता है । एकाकार प्रत्यय होने से अभेद दिखाई देने लगता है । वस्तुतः उनमें अभेद नहीं, भेद ही है । एकाकार परामर्श होने का कारण विजातीय व्यावृत्ति है । एक ही गो की अगो व्यावृत्ति होने से गो कहा जाता है, अपशु व्यावृत्त होने से पशु कहा जाता है, अद्रव्य व्यावृत्त होने से द्रव्य कहा जाता है और असद् व्यावृत्त होने से सत् कहा जाता है । इस प्रकार व्यावृत्ति के भेद से जातिभेद की कल्पना की जाती है । जितनी परवस्तुएं हों, उतनी व्यावृत्तियाँ उस वस्तु से कल्पित की जा सकती हैं । अतएव सामान्य बुद्धि का विषय सामान्य नहीं, किन्तु अन्यापोह को ही मानना चाहिए ।[३]

बौद्धों के इस अवस्तुरूप सामान्यवाद को जैनों ने स्वीकार नहीं किया । उन्होंने अनेकान्तवाद पर आधारित सामान्य की कल्पना की । उनका मत है कि सादृश्य प्रत्यय पर्यायनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ रहता है, अतः अनेक है। तिर्यक्सामान्य एक काल में अनेक देशों में स्थित अनेक पदार्थों में समानता की अभिव्यक्ति करता है और ऊर्ध्वतासामान्य उसके ध्रौव्यात्मक तत्त्व पर विचार करता है । जैनों का यह सामान्यवाद सांख्य के परिणामवाद से मिलता जुलता है । वेदान्त का ब्रह्माद्वैत और शब्दाद्वैतवाद का शब्दब्रह्म भी लगभग इसी प्रकार का है । नैयायिकों का सामान्य नित्य और व्यापक है, जबकि जैनों का सामान्य अनित्य और अव्यापक है । मीमांसकों का सामान्य अनेकान्तवादी होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अधिक झुका हुआ है, बौद्धों ने प्रतीत्य समुत्पाद के माध्यम से पदार्थ को एकान्तिक रूप से क्षणिक माना । जैनाचार्य प्रतीत्य समुत्पाद के स्थान पर उपादानोपादेयभाव को मानते हैं । उनका द्रव्य कूटस्थ नित्य न होकर अन्वयी पर्याय प्रवाह के रूप में अविच्छिन्न है । यही उसका ऊर्ध्वता सामान्य है । वैशेषिक एवं नैयायिकों के समवायिकारण से इसकी तुलना की जा सकती है ।

जैनदर्शन की दृष्टि गौ इत्यादि रूप से अबाधित प्रत्यय के विषयभूत गोत्वादि सामान्य का अभाव नहीं किया जा सकता है । यदि अबाधित प्रत्ययभूत विषय का असत्त्व माना जाय तो विशेष को भी असत्त्व मानना पड़ेगा । बुद्धि में जो अनुगताकार की प्रतीति होती है, वह किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होती।

वह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में अबाधित ही रहती है और पदार्थ में सामान्य के व्यवहार का हेतु होती है। अतः अनुगताकार का प्रतिभास करने वाली अबाधित बुद्धि अनुगताकाररूप वस्तुभूत सामान्य की सिद्धि करती है। यह कहना भी ठीक नहीं कि सामान्य और विशेष में कोई बुद्धिभेद नहीं है। अन्यथा वात और आताप में भी अभेद मानना पड़ेगा। अतः प्रतिभास भेद ही भेदव्यवस्था का हेतु होता है।

वस्तुतः सामान्य और विशेष दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। अनुगताकार जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह बाह्य में साधारण निमित्त गोत्वादि सामान्य के बिना नहीं हो सकता (**प्रमेयकमल मार्तण्ड**, ४.४-५)। असाधारण व्यक्ति विशेष भी सामान्य प्रतिभास के हेतु नहीं हो सकते, क्योंकि वे तो भेद रूप होने के कारण भेद-प्रतिभास ही करायेंगे। अतत्कार्यकारण व्यावृत्ति भी गायों में गोत्व सामान्य के बिना नहीं बन सकती। यदि अनुगत प्रत्यय सामान्य के बिना भी हो जाता है तो फिर व्यावृत्त प्रत्यय भी विशेष के बिना हो जाने का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः सामान्य को परमार्थ सत् मानना युक्तिसंगत है। यहाँ यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सामान्य कल्पनात्मक एवं मिथ्या है तो उसको पदार्थ क्यों माना गया तथा सामान्य को विषय करने वाले अनुमान को प्रमाण क्यों माना गया ? जो भी हो अनुगताकार प्रतिभास का आलम्बन वस्तुभूत सामान्य को मानना बौद्धों के लिए अपरिहार्य है। बौद्धों का सामान्य जैनों का द्रव्य है और बौद्धों का विशेष जैनों का पर्याय है।

बौद्धदर्शन पर्यायवादी है। वहाँ विशेष के अतिरिक्त सामान्य का सद्भाव नहीं है। अभाव रूप सामान्य को यहाँ अन्यापोह कहा जाता है और अन्यापोह को शब्द का वाच्य मानते हैं। किन्तु जब अन्यापोह सर्वथा असत् है तो वह शब्द का वाच्य भी नहीं हो सकता। बौद्धों के अनुसार शब्द वस्तु के वाचक नहीं है और न वस्तु शब्द का वाच्य है। शब्दों के द्वारा अन्यव्यावृत्ति का कथन होता है। गो शब्द गाय का वाचक नहीं है, किन्तु अगोव्यावृत्ति को कहता है। पर जैन इसे तथ्य संगत नहीं मानते। उनका कथन है कि गो शब्द को सुनकर साक्षात् गाय का ज्ञान होता है, अन्यव्यावृत्ति को नहीं। अतः गाय को ही गो शब्द का वाच्य मानना ठीक है। अगोव्यावृत्ति को नहीं। अन्यापोह में संन्देह भी संकेत नहीं है, क्योंकि न तो उसका कोई स्वभाव है और न वह कोई अर्थक्रिया करता है। इसलिए बौद्धों के द्वारा माना गया असत् सामान्य शब्दों का वाच्य नहीं हो सकता है।

बौद्ध यद्यपि धर्मी में स्वतः स्वभावभेद नहीं मानते हैं, किन्तु अन्य व्यावृत्ति के द्वारा स्वभावभेद की कल्पना करते हैं। पर यह तब सही होता जब वहाँ वस्तुभूत असत्, अकृतक आदि रूप कोई पदार्थ होता। जब वैसा कोई पदार्थ ही नहीं है तो उससे किसी की व्यावृत्ति कैसे हो सकती है।

बौद्ध दर्शन में धर्म और धर्मी की सिद्धि आपेक्षिक मानी गई है। अतः विशेषण-विशेष्य, कार्यकारण आदि की सिद्धि आपेक्षिक होने से इन सब का व्यवहार काल्पनिक हो जाता है। पर ऐसी स्थिति में बौद्धदर्शन में तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। नील स्वलक्षण और नील ज्ञान परस्पर सापेक्ष हैं, तो वे भी मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे। अतः सर्वथा आपेक्षिक सिद्धि मानना ठीक नहीं है। कार्य-कारण, सामान्य-विशेष आदि की सत्ता सर्वथा आपेक्षिक नहीं है, स्वतन्त्र सत्ता है। सर्वथा आपेक्षिक मानने पर दोनों के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

बौद्ध दर्शन में पदार्थ को स्वलक्षण कहा जाता है। वह अवाच्य और अनिर्देश्य है। पर ऐसी स्थिति में न शब्द का प्रयोग किया जा सकता है और न कोई उपदेश दिया जा सकता है। वह तो अज्ञेय बन जायेगा। यदि कहा जाये कि शब्द से अन्यापोह का कथन होता है, शब्द न पदार्थ में रहते हैं और न पदार्थ के आधार हैं, पर ऐसा मानने पर जिस प्रकार अर्थ में शब्द नहीं है, उसी प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान में विषय भी नहीं है। इसलिए इन्द्रियज्ञान के होने पर भी विषय का ज्ञान नहीं होगा।

बौद्ध सामान्य और स्वलक्षण में भेद मानते हैं। उनके अनुसार स्वलक्षण का लक्षण या कार्य अर्थक्रिया करना है। इसके विपरीत सामान्य कोई भी अर्थक्रिया नहीं करता है। स्वलक्षण परमार्थ सत् है और सामान्य संवृतिसत्। स्वलक्षण वास्तविक है और सामान्य काल्पनिक। यथार्थ में केवल स्वलक्षण की ही सत्ता है। सामान्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है।

जैन दार्शनिक इसका खण्ड्न करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार स्वलक्षण और सामान्य में भेद करना ठीक नहीं है। "स्वं असाधारणं लक्षणं यस्येति" व्युत्पत्ति के अनुसार जिस प्रकार विशेष (पर्याय) व्यावृत्तिज्ञान रूप अर्थक्रिया करता है, उसी प्रकार सामान्य (द्रव्य) भी अनुवृत्ति ज्ञानरूप अर्थक्रिया करता है। भारवहन आदि अर्थ करने में सामान्य और विशेष दोनों समर्थ नहीं हैं, किन्तु सामान्य विशेषात्मक गौ ही उक्त अर्थक्रिया करती है।

इसी प्रकार बिना सामान्य के विशेष भी नहीं हो सकता है। जिसमें गोत्व नहीं है, वह गौ यथार्थ में गौ नहीं हो सकती है। अतः पदार्थ में न केवल सामान्य रूप है और न केवल विशेष रूप है और न पृथक्-पृथक् सामान्य-विशेष रूप है, किन्तु परस्पर सापेक्ष होने से सामान्य विशेषात्मक है।

स्वलक्षण में विधि-निषेध व्यवहार संवृति (कल्पना) से मानना भी तभी संभव है, जब एक रूप पदार्थ की उपलब्धि होती हो। यदि उसमें अनेकत्व की प्रतीति अविद्या या संवृति के कारण होती है तो एक तो संसार में किसी तत्त्व की व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी और दूसरे पदार्थ स्वतः अनेकान्तात्मक सिद्ध हो जायेगा। अस्तित्व और नास्तित्व अविनाभावी धर्म हैं, विशेषण-विशेष्य हैं। उनके अभाव में वस्तु का अपना कुछ भी स्वरूप शेष नहीं रहता है। दृश्य और विकल्प्य में कथंचित् भी तादात्म्य न हो तो स्वलक्षण के स्वरूप का निर्णय ही नहीं किया जा सकता है। इसलिए न तो सामान्य अवास्तविक है और न विशेष से पृथक् है। सामान्य और विशेष दोनों के तादात्म्य का नाम ही पदार्थ है।

जैन दार्शनिक मानते हैं कि कार्य कथंचित् सत् है और कथंचित् असत् है। द्रव्य की अपेक्षा से कार्य सत् है और पर्याय की अपेक्षा से असत्। घट का उपादान मिट्टी और मिट्टी रूप से घट का स्वभाव सदा रहता है। अन्वय-व्यतिरेक के सद्भाव में ही कार्य-कारण भाव सिद्ध होता है, सर्वथा क्षणिकवाद में नहीं।

इस संदर्भ में बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि जहाँ आगे-आगे सदृश पर्यायों की उत्पत्ति होती जाती है, वहाँ उपादान का नियम होता है। अर्थात् वहाँ पूर्व-पर्याय उत्तर-पर्याय की उपादान होती है और जहाँ सदृश पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है, वहाँ उपादान का नियम नहीं होता है। मिट्टी और घट में

उपादान का नियम है, सदृशता के कारण, पर तन्तु और घट में उपादान का नियम नहीं है, क्योंकि तन्तु से घट विसदृश है। जैन उत्तर देते हैं कि मृत्पिण्ड और घट में अन्वय-व्यतिरेक के अभाव में उसी प्रकार का वैलक्ष्य है, जिस प्रकार तन्तु और घट में है। पूर्व स्वभाव का सर्वथा नाश होने पर और किसी पदार्थ के द्रव्य रूप से स्थित न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति मानने पर न तो उपादान का नियम सिद्ध हो सकता है और न कार्य की उत्पत्ति में विश्वास ही हो सकता है। वास्तव में तन्तुओं की अपेक्षा से पट रूप कार्य सत् है, और घट की अपेक्षा से असत् है। अतः असत्कार्यवाद और निरन्वय क्षणिकवाद में कार्य की उत्पत्ति असंभव है।

सर्वदा क्षणभंगवाद पर एक लम्बी बहस जैन-बौद्ध दार्शनिकों में हुई है। जैन दार्शनिक वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप मानते हैं। इस सन्दर्भ में **समन्तभद्राचार्य** की **आप्तमीमांसा** की एक कारिका बड़ी चर्तित हुई है –

घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

यह उदाहरण पर्याय किंवा अनेकान्तवाद से सम्बद्ध है। वैदिक आचार्यों के समान बौद्धाचार्यों ने भी इस सन्दर्भ में अनेक प्रश्न खड़े किये हैं, जिनका उत्तर जैनाचार्यों ने भलीभाँति प्रस्तुत किया है। विरोध का मूल स्वर है कि अस्तित्व और अनस्तिकाय अथवा भाव और अभाव ये दो विरोधी धर्म एक ही पदार्थ में कैसे रह सकते हैं ? जैनाचार्यों ने कहा कि दो विरोधी धर्म एक ही पदार्थ में स्वद्रव्यचतुष्टय के आधार पर रहते हैं और परद्रव्यचतुष्टय के आधार पर नहीं रहते (**सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च**)।

पदार्थ की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति को अन्यथानुपन्न हेतु' के माध्यम से सिद्ध किया जाता है। बौद्ध भी इसे स्वीकार करते हैं। उनके मत में सजातीयक्षण उपादान कारण बनते हैं। इसे जैन परिभाषा में 'ध्रौव्य' कह सकते हैं और बौद्ध परिभाषा में 'सन्तान'। ध्रौव्य या सन्तान के माने बिना स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, बन्ध-मोक्ष आदि नहीं हो सकते।

प्रत्येक द्रव्य में भेदाभेदात्मक तत्त्व रहते हैं। द्रव्य से गुण और पर्यायों को पृथक् नहीं किया जा सकता। व्यवहार की दृष्टि से उनका संज्ञा आदि में भेद अवश्य हो जाता है। **वादिराज** ने **अर्चट** के खण्डन का खण्डन इसी आधार पर किया है (**न्यायविनिश्चय विवरण**, १०८७)।

जात्यन्तर के आधार पर भी विरोधात्मकता को समझा जा सकता है। उदाहरणतः स्वभाव को देखकर किसी को नरसिंह कह देना। पदार्थ में भेदाभेदात्मक तत्त्वों का संमिश्रण रहता ही है। इसी को जात्यन्तर कहते हैं। अपेक्षा की दृष्टि से वे एक स्थान पर बने रहते हैं। अतः कोई विरोध नहीं है (**अनेकान्तजयपताका**, भाग १. पृ०७२; **न्यायकुमुदचन्द्र**, पृ०३४९)

धर्मकीर्ति का यह तर्क भी व्यर्थ हो जाता है कि सामान्य विशेषात्मक होने से दही और ऊँट एक हो जायेंगे। **अकलंक** ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि '**सर्वेभावास्तदतत्स्वभावा**' के अनुसार दही और ऊँट पदार्थ की दृष्टि से एक हैं पर स्वभावादि की दृष्टि से पृथक् न होते तो दही को खाने वाला, ऊँट क्यों नहीं खा लेता ? सामान्य का तात्पर्य है सदृश परिणाम। दही और ऊँट सदृश परिणाम वाले नहीं। दहीं पर्यायें अलग और ऊँट पर्यायें अलग रहती हैं। न दही को ऊँट कह सकते हैं और न ऊँट को दही। **अकलंक** ने यह भी कहा कि यदि दही और ऊँट की पर्यायें एक हो सकती हैं तो सुगत पूर्व पर्याय में मृग थे, फिर सुगत की पूजा क्यों की जाती और मृग क्यों खाने के काम आता है ? अतः द्रव्य और पर्यायों में तादात्म्य और नियत सम्बन्ध आवश्यक है। कोई भी द्रव्य अपनी सम्भावित पर्यायों में ही परिणत हो सकता है **(न्यायविनिश्चय** विवरण, भाग २, पृ०२३३; **सिद्धिविनिश्चय** स्ववृत्ति, ६.३७)।

आलयविज्ञान, विज्ञानवाद का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। वह समस्त धर्मों का बीज है। इसी विज्ञान से संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। आलयविज्ञान एक चेतना है। चित्त, मन और विज्ञान उसी के नामान्तर हैं। यह लगभग वह सब काम करता है जो बौद्धेतर दर्शनों में आत्मतत्त्व करता है। जैनाचार्यों ने आलयविज्ञान को आत्मा के रूप में देखा है, परन्तु विज्ञानवाद उसे उस रूप में नहीं मानता। उसे वह चित्त संतति के रूप में देखता है। जैनदर्शन में ज्ञानपर्याय प्रत्येक क्षण में बदलते रहते हैं और पूर्वज्ञान के बाद उत्तर ज्ञानपर्याय उत्पन्न होता है। उसी तरह विज्ञानवाद में पूर्व चित्त का नाश और उत्तर चित्त का उत्पाद होता है। इस प्रकार चित्त की सन्तति अनादिकाल से चलती आ रही है। जैन द्रव्यवादी हैं। बौद्ध पर्यायवादी हैं। बौद्ध पर्यायवाद में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य का अस्तित्व नहीं है, परन्तु जैन द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुवादी होने के कारण ज्ञान को जीव द्रव्य का गुण मानते हैं और इसी गुण की विविध अवस्थाओं को पर्याय।

आलयविज्ञानवादी सुख-दुःख को विपाक नहीं मानते। आलय विज्ञान ही उनकी दृष्टि से शुभाशुभ कर्मों का विपाक है (**त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि**, पृ०-१५४)। जैनाचार्य इसे द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से ही उपयुक्त मानते हैं। उनके अनुसार चेतन आत्मा से अभिन्न ऐसे ज्ञान और सुख का चेतनत्वेन अभेद हो सकता है, परन्तु पर्यायनय की अपेक्षा से ज्ञान और सुख ऐसे दो अत्यन्त भिन्न पर्याय एक ही आत्मा के हैं। अतएव ज्ञान और सुख का ऐकान्तिक तादात्म्य नहीं। सुख आल्हादनाकार है और ज्ञान मेय बोधन रूप है। सुख होता है सद्वेद्य नामक अदृष्ट के उदय से और ज्ञान होता है अनावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशमादि से। यह नियम नहीं कि अभिन्न कारणजन्य होने से ज्ञान और सुख अभिन्न ही हैं, क्योंकि कुम्भादि के भंग से उत्पन्न होने वाले शब्द और कपालखण्ड में किसी भी प्रकार से ऐक्य नहीं देखा जाता (**अष्टसहस्री**, पृ०७८, **न्यायकुमुदचन्द्र** प्र०-१२९ **: स्याद्वाद रत्नाकर**, पृ०१७८)। आत्मा ही उपादान कारण है और वहीं ज्ञान और सुख रूप से परिणत होता है। अतएव ज्ञान और सुख का कथंचित् भेद होने पर भी आत्मा से उन दोनों का अत्यन्त भेद नहीं है। सांख्यों ने सुखादि को प्रकृति का परिणाम माना है, अतएव अचेतन भी। किन्तु बौद्धों के अनुसार शब्द वस्तु के वाचक नहीं है और न वस्तु शब्द का वाच्य है। शब्दों के द्वारा अन्यव्यावृत्ति का कथन होता है। गो शब्द गाय का वाचक नहीं है, किन्तु

अगोव्यावृत्ति को कहता है। पर जैन इसे तथ्य संगत नहीं मानते। उनका कथन है कि गोशब्द को सुनकर साक्षात् गाय का ज्ञान होता है, अन्यव्यावृत्ति का नहीं। अत: गाय को ही गो शब्द का वाच्य मानना ठीक है, अगोव्यावृत्ति को नहीं। अन्यापोह में संकेत भी संभव नहीं है, क्योंकि न तो उसका कोई स्वभाव है और न वह कोई अर्थक्रिया करता है। इसलिए बौद्धों के द्वारा माना गया असत् सामान्य शब्दों का वाच्य नहीं हो सकता है।

बौद्ध यद्यपि धर्मी में स्वत: स्वभावभेद नहीं मानते हैं, किन्तु अन्यव्यावृत्ति के द्वारा स्वभावभेद की कल्पना करते हैं। पर यह तब सही होता, जब वहाँ वस्तुभूत् असत् अकृतक आदि रूप कोई पदार्थ होता। जब वैसा कोई पदार्थ ही नहीं है तो उससे किसी की व्यावृत्ति कैसे ही सकती है।

बौद्धदर्शन में धर्म और धर्मी की सिद्धि आपेक्षिक मानी गई है। अत: विशेषण-विशेष, कार्यकारण आदि की सिद्धि आपेक्षिक होने से इन सब का व्यवहार काल्पनिक हो जाता है। पर ऐसी स्थिति में बौद्धदर्शन में तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। नील स्वलक्षण और नील ज्ञान परस्पर सापेक्ष हैं तो वे भी मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे। अत: सर्वथा आपेक्षिक सिद्धि मानना ठीक नहीं है। कार्य-कारण, सामान्य-विशेष आदि की सत्ता सर्वथा आपेक्षिक नहीं है, स्वतन्त्र सत्ता है। सर्वथा आपेक्षिक मानने पर दोनों के अभाव का प्रसंग उपस्थिति हो जाता है।

बौद्धदर्शन में पदार्थ को स्वलक्षण कहा जाता है। वह अवाच्य और अनिर्देश्य है। पर ऐसी स्थिति में न शब्द का प्रयोग किया जा सकता है और न कोई उपदेश दिया जा सकता है। वह तो अज्ञेय बन जायेगा। यदि यह कहा जाये कि शब्द से अन्यापोह का कथन होता है, शब्द न पदार्थ में रहते हैं और न पदार्थ के आकार हैं। पर ऐसा मानने पर जिस प्रकार अर्थ में शब्द नहीं है, उसी प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान में विषय भी नहीं है। इसलिए इन्द्रियज्ञान के होने पर भी विषय का ज्ञान नहीं होगा।

बौद्ध सामान्य और स्वलक्षण में भेद मानते हैं। उनके अनुसार स्वलक्षण का लक्षण या कार्य अर्थक्रिया करना है। इसके विपरीत सामान्य कोई भी अर्थक्रिया नहीं करता। स्वलक्षण परमार्थ सत् है और सामान्य संवृति सत्। स्वलक्षण वास्तविक हैं और सामान्य काल्पनिक। यथार्थ में केवल स्वलक्षण की ही सत्ता है। सामान्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है।

जैन दार्शनिक इसका खण्ड्न करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार स्वलक्षण और सामान्य में भेद करना ठीक नहीं है। "स्वं असाधारणं लक्षणं यस्येति" व्युत्पत्ति के अनुसार जिस प्रकार विशेष (पर्याय) व्यावृत्ति ज्ञान रूप अर्थक्रिया करता है, उसी प्रकार सामान्य (द्रव्य) भी अनुवृत्ति ज्ञानरूप अर्थक्रिया करता है। भारवहन आदि अर्थक्रिया करने में जैन-बौद्ध समान रूप से सुखादि को चैतन्य रूप से ही सिद्ध करते हैं और स्वसंविदित भी। (**न्यायावतार वृत्ति**, पृ०-२०; **प्रमाणवार्तिक** २.३८)।

द्रव्यार्थिकनय के उत्तरभेद तीन हैं — नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक के उत्तरभेद चार हैं — ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। इनमें बौद्धदर्शन का सम्बन्ध ऋजुसूत्र नय से विशेष है। भूत और भविष्यत् काल की अपेक्षा न करके, केवल वर्तमान समयवर्ती एक पर्याय को ग्रहण करने वाले

नय को ऋजुसूत्रनय कहते हैं। पर्याय एक क्षणवर्ती होती है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है, अतीत और अनागत पर्याय को ग्रहण नहीं करता। यथार्थ में अतीत के विनष्ट हो जाने से तथा अनागत को अनुत्पन्न होने से उनमें पर्याय-व्यवहार हो भी नहीं सकता। इसी से ऋजुसूत्रनय का विषय वर्तमान पर्याय मात्र बतलाया गया है। इस नय में द्रव्य सर्वथा अविवक्षित है।

यहाँ हमने संक्षेप में बौद्धदर्शन सम्मत पर्याय की जैन दर्शन की दृष्टि से समीक्षा की है।

संदर्भ

१. यस्मिन्नेव तु सन्ताने अहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव संधत्ते, कार्पासे रक्त यथा॥

— तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, पृ०१८२ में उद्धृत

२. दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित नेवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

— सौन्दरानन्द, १६.२८.२९

३. प्रमाणवार्तिक, ३.४०;३.१३३; ३.६७-६९

२०

जैन साधना पद्धति : मनोऽनुशासनम्

हेमलता बोलिया

साधना वह वैचारिक प्रक्रिया, सामाजिक आचरण अथवा धार्मिक अनुशासन है, जिसके अभ्यास द्वारा हम अपने व्यक्तित्व को सार्थक करते हुए अपने ध्येय को प्राप्त करना चाहते हैं । ''साधना'' शब्द की निष्पत्ति 'सिध्' से प्रेरणार्थ में 'णिच्' प्रत्यय लगने पर धातु को 'साध्' आदेश होकर तथा 'साध्' से भावकर्मार्थ 'युच्' प्रत्यय और स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय लगकर हुई हैं[१] जिसका अर्थ है पूजा, अर्चना, अराधन या प्रसादन । मानवीय क्षमता के विकास को ध्यान में रखकर, तत्त्ववेता महापुरुषों ने खान-पान से लेकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होने वाली क्रियाओं पर सूक्ष्म विचार किया । प्रत्येक क्रिया को धर्ममय कहकर, उसे सावधानीपूर्वक सचेत रूप से करने का निर्देश दिया। इस प्रकार आचार्यों द्वारा निर्देशित सम्पूर्ण जीवन ही साधना बन गया ।

साधना को आचार्यों ने तीन भागों में विभाजित किया है । (१) भौतिक साधना, (२) नैतिक साधना और (३) आध्यात्मिक साधना । भौतिक साधना के अन्तर्गत वे सब वस्तुएँ आती हैं, जो शरीर संचरना से लेकर संरक्षण पर्यन्त उपयोगी है । इसमें शरीरशुद्धि, शरीर की आवश्यकता एवं उपभोग की वस्तु की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास भी सम्मिलित है । नैतिक साधना का क्षेत्र व्यक्ति से बढ़कर समाज तक जाता है । सामाजिक दायित्वों का निर्वाह एवं मर्यादाओं के पालन में प्रयोग होने वाले व्रत, मैत्री आदि भावना, परस्पर उपग्रह नैतिक साधना के अंग है । आध्यात्मिक साधना में व्यक्ति शरीर एवं सामाजिक मर्यादाओं से ऊपर उठकर, आत्मस्वरूप की उपलब्धि को अपना लक्ष्य बनाता है । आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि के प्रयोग इसी क्षेत्र के विषय हैं ।[२]

आध्यात्मिक साधना को प्रायः सभी धर्मों और दार्शनिक सम्प्रदायों ने महत्त्व दिया । अपने-अपने दृष्टिकोण एवं सरणि के अनुसार ज्ञान, जगत् से विराग तथा आत्मस्वरूप में विलय अथवा आत्म प्राप्ति हेतु विभिन्न साधना मार्ग सुझाये। मैत्रायणी उपनिषद[३] में साधना की इस पद्धति को योग नाम देते हुए उसके छः अंगों का विवेचन किया है — (१) प्राणायाम (२) प्रत्याहार (३) ध्यान (४) धारणा (५) तर्क (६) समाधि । महर्षि पतञ्जलि[४] ने इसमें यम, नियम और आसन नामक तत्त्वों को जोड़ा तथा तर्क को हटाकर योग को अष्टांग बना दिया ।

जैनसाधना पद्धति के सूत्र, आगमों में भी मिलते हैं। जहाँ शुद्ध सात्विक जीवन का आधार त्रिरत्न को माना गया है। जैन दर्शन का भव्य प्रासाद सम्यग्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र इन्हीं तीन आधारों पर अवस्थित है। फिर तप को चारित्र के एक अतिरिक्त अंग के रूप में सम्मिलित कर इसे चतुष्पाद बना दिया गया।[५] जैन साधना वीतरागता को प्रमुखता देती है। अतः वह सांसारिक आकर्षण को कषाय का स्वरूप मानते हुए साधक को इनसे बचने की सलाह देती है। यह व्यवहार और निश्चय के रूप में तो द्विविधा है ही, परन्तु श्रमण धर्म श्रावक धर्म के रूप में भी द्विविधा है, जिसे सर्वविरति और देश विरति के रूप में व्याख्यायित किया गया है। **मुनि नथमल** (वर्तमान **आचार्य महाप्रज्ञ**) के शब्दों में – "साधना का क्रम प्राप्त मार्ग यह है कि हम पहले असत्प्रवृत्ति से हटकर सत्प्रवृत्ति की भूमिका में आयें और फिर निवृत्ति की भूमिका को प्राप्त करें।"[६]

तप साधना के विकास क्रम में जैन, बौद्ध और शैव दर्शन छठीं-सातवी शताब्दी के मध्य योग के समीप आये। बौद्धों में वज्रयानशाखा तंत्र-मंत्रसाधना द्वारा लोक-परलोक विजय की कामना करने लगी, तो शैवों में पातञ्जल योग का सहारा लेकर हठयोग की प्रवृत्ति बनी। सिद्ध और नाथों की परम्परा के समकाल में ही जैन आचार्यों ने जैन योग की दृष्टि से विचार करना प्रारम्भ किया। तप के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, द्वादशव्रत और अनुप्रेक्षा को ध्यान में रखते हुए जैन साहित्य में यौगिक क्रियाओं के साहित्यिक और प्रात्यक्षिक अनुप्रयोग होने लगे।

जैनयोग की परम्परा को व्यवस्थित रूप आचार्य हरिभद्र ने दिया। उन्होंने योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय आदि यौगिक ग्रन्थों की रचना कर योग को एक नया रूप दिया। पतञ्जलि के अष्टांगयोग की भांति आठ दृष्टियों[७] की चर्चा की तथा मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में धर्म व्यापार को मानकर, अध्यात्म भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय रूप योग के पाँच भेद किये।[८] आचार्य देवनंदि पूज्यपाद ने इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र, शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव, श्री नागसेनमुनि ने तत्त्वानुशासन, यशोविजय ने अध्यात्मसार, अध्योत्मोपनिषद्, मंगलविजय ने योगप्रदीप, अमितगति ने योगसारप्राभृत, सोमदेवसूरि ने योगमार्ग, आचार्य भास्करनंदि ने ध्यानस्तव तथा योगीन्दुदेव ने परमात्माप्रकाशयोगसारः की रचना कर, जैन योग की परम्परा को समृद्ध किया।

तेरापंथ के नवम् **आचार्य तुलसी** का महत्व सर्वातिशायी है। वे तत्त्ववेत्ता, मनीषी, चिन्तक, साधक, शिक्षाशास्त्री, धर्माचार्य, बहुभाषाविज्ञ, समाजसुधारक, आशुकवि, प्रकाण्डपण्डित और दार्शनिक थे। इन्होंने **जैनसिद्धान्तदीपिका, भिक्षुन्यायकणिका, पंचसूत्रम्, शिक्षाषण्णवति** तथा **कर्त्तव्यषट्त्रिंशिका** का ही प्रणयन नहीं किया अपितु योग एवं मन को अनुशासित करने के लिए आचार्य ने **'मनोऽनुशासन'** की रचना की। मनोऽनुशासन की रचना में दर्शनशास्त्र में बहु प्रचलित सूत्र शैली का आश्रय ग्रहण किया गया है। सूत्र शैली की विशेषता यह है कि इसमें गूढ़ भावों को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है। सूत्रकार विषय की संक्षिप्तता का इतना ध्यान रखते हैं कि किसी बात को कहने में वे एक शब्द भी कम प्रयोग कर सके तो यह उनके लिए उतना ही सुखकारक होता है, जितना पुत्रोत्सव होता है। आचार्य के सूत्र कण्ठस्थ करने के लिए उपयोगी होते हैं, उन्हीं सूत्रों की व्याख्या कर, वे अपने विषय को कितना भी विस्तार दे सकते हैं।

आचार्य तुलसी ने साधक एवं सुधी विद्वानों के सहज स्मरण रखने के लिए १८१ सूत्रों में "**मनोऽनुशासन**" का संस्कृत में प्रणमन किया, वहीं उनके पट्ट शिष्य **मुनि नथमल** ने इसकी विशद हिन्दी व्याख्या कर, इसकी उपादेयता में चार चाँद ही नहीं लगाये अपितु इसे सर्वबोधगम्य बना दिया।

"**मनोऽनुशासनम्**" के प्रणयन में **आचार्य तुलसी महर्षि पतञ्जलि** से प्रभावित है, जिसे निम्न विवेचन से समझा जा सकता है –

पतञ्जलि[९] आचार्य **तुलसी**[१०]

अथ योगानुशासनम् । अथ "मनोऽनुशासन" ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । इन्द्रियसापेक्ष सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं संज्ञानं मनः ।

"मनोऽनुशासन" का परिचय :–

यह ग्रन्थ सात प्रकरणों में विभाजित है। प्रथम प्रकरण में मन, इन्द्रिय और आत्म निरूपण के साथ योग के लक्षण, शोधन और निरोध की प्रक्रिया और उपायों का वर्णन हैं। द्वितीय प्रकरण में मन के प्रकार और निरोध के उपाय। तृतीय प्रकरण में ध्यान का लक्षण और उसके सहायक तत्त्व, स्थान (आसन), प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार) की परिभाषा, प्रकार, स्वाध्याय, भावना, व्युत्सर्ग की प्रक्रिया। चतुर्थ प्रकरण में ध्याता, ध्यान, धारणा, समाधि, लेश्या आदि का विवेचन हैं। पंचम प्रकरण में प्राणायाम का विस्तृत विवेचन के साथ होने वाली सिद्धियाँ वर्णित है। षष्ठ प्रकरण में महाव्रतों (यमों) के साथ संकल्प का निरूपण है और श्रमण धर्म के प्रकारों के रूप में नियम का वर्णन है। सप्तम् प्रकरण में भावना एवं फल निष्पत्ति का विवेचन हैं।

"**मनोऽनुशासनम्**" को **आचार्य तुलसी** कृत जैन योग का सूत्रग्रन्थ कहा जा सकता है। इसके विषय में तेरापंथ के दसवें **आचार्य महाप्रज्ञ** जी ने कहा है – "इसमें योगशास्त्र की सर्वसाधारण द्वारा अग्राह्य सूक्ष्मताएँ नहीं है। किन्तु जो हैं, अनुभवयोग्य और बहुजनसाध्य हैं। इस मानसिक शिथिलता के युग में मन को प्रबल बनाने की साधन-सामग्री प्रस्तुत कर आचार्य श्री ने मानव-जाति को बहुत ही उपकृत किया है।"[११] यह आकार में लघु और प्रकार में गुरु है।[१२]

"मनोऽनुशासनम्" का प्रयोजन :–

आचार्य तुलसी[१३] ने '**मनोऽनुशासनम्**' की रचना के पीछे अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए लिखा है –

'मानसिक सन्तुलन के अभाव में व्यक्ति का जीवन दूभर हो जाता है। सब संयोगों में भी एक विचित्र खालीपन की अनुभूति होती है। अनेक व्यक्ति पूछते हैं – शान्ति कैसे मिले ? मन स्थिर कैसे हो ? मैं उन्हें यथोचित समाधान देता। ये प्रश्न कुछेक व्यक्तियों के नहीं हैं। ये व्यापक प्रश्न हैं। इसलिए इनका समाधान भी व्यापक स्तर पर होना चाहिए। '**मनोऽनुशासनम्**' निर्माण का यही प्रयोजन है।

जैसा कि कहा भी जाता है – **"मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।"**

अर्थात् मनुष्य का मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है । "वह अनुशासन से ही प्राप्त होता है । बल-प्रयोग से वे (इन्द्रियों ओर मन) वशवर्ती नहीं किये जा सकते । हठ से उन्हें नियंत्रित करने का यत्न करने पर वे कुण्ठित बन जाते हैं । उनकी शक्ति तभी हो सकती है, जब ये प्रशिक्षण के द्वारा अनुशासित किए जाए ।"१४

'मनोऽनुशासनम्' की विशेषताएँ :–

१. **आचार्य तुलसी** ने इसे सर्वग्राह्य बनाने के लिए सीधे मन से प्रारम्भ किया । मन को प्राथमिकता देने के कारण ही सर्व प्रथम मन की परिभाषा दी, अनन्तर मन और इन्द्रियों का सम्बन्ध निरूपण करते हुए आत्मा के स्वरूप का विवेचन कर, मन के स्वामी आत्मा द्वारा मन के अनुशासन की प्रक्रिया को योग कहा । ऐसी स्थिति में मन को इन्द्रिय और आत्मा को मध्यस्थ मानकर, इन्द्रियों के द्वारा मन से प्राप्त ज्ञान शुद्ध हो, इस हेतु मन के संसाधन स्वरूप इन्द्रियों के शोधन की बात प्रथम प्रकरण में कहीं है । इस प्रथम प्रकरण में वे अनेक स्थलों पर **पतञ्जलि** से भिन्न दृष्टिकोण लिए हुए भी हैं । यथा –

(१) जहाँ दर्शन में मन को संकल्प-विकल्पात्मक माना जाता है, वहीं **आचार्य तुलसी** ने इसकी परिभाषा में लिखा है – **इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहित्रैकालिकं संज्ञानं मनः**[१५] यहाँ मन की स्थिति ज्ञान के संग्राहक की है । अतः मन के संग्राहक के शोधन और निरोध की प्रक्रिया इसमें महत्त्वपूर्ण हो गई है ।

(२) *योग की परिभाषा भी विशिष्ट है । जहाँ योगदर्शनकार* **पतञ्जलि**[१६] *चित्तवृत्तिनिरोध को योग* कहते हैं वहीं मन, वाणी, काय, आनापान (प्राणापान), इन्द्रिय और आहार के निरोध को योग कहते हैं ।[१७] अतः वे इन्द्रिय आहार के निरोध से पूर्व शोधन की बात करते हैं ।

(३) द्वितीय प्रकरण में मन के छः भेदों का वर्णन है – मूढ़, विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट, सुलीन और निरुद्ध ।[१८] जबकि **आचार्य हेमचंद्र** ने **योगशास्त्र**[१९] में चार प्रकारों का वर्णन किया है । योग दर्शन में **मूढ़**, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध भेद से चित्त की पाँच भूमियों (अवस्थाएँ) मानी गयी हैं ।[२०] मन के छः प्रकार **आचार्य तुलसी** की अपनी मौलिक उद्भावना हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि, उन्होंने एकाग्रभूमि के ही दो स्तर माने हैं – श्लिष्ट (स्थिर मन) और सुलीन (सुस्थिर मन) ।

(४) **महर्षि पतञ्जलि**[२१] ने चित्तवृतियों के निरोध का साधन जहाँ अभ्यास और वैराग्य बतलाया है, वहीं जैनाचार्यों[२२] ने ज्ञान और वैराग्य को । **आचार्य तुलसी**[२३] ने ज्ञान – वैराग्य के साधन के रूप में श्रद्धाप्रकर्ष, शिथिलीकरण, संकल्प, निरोध, ध्यान, गुरूपेदश और प्रयत्न की बहुलता का निरूपण किया है ।

(५) मन को नियंत्रित करने की प्रक्रिया में ध्यान को विशेष महत्त्व देते हुए आचार्य ने अपने

तीसरे प्रकरण का विषय ध्यान की सामग्री को बनाया है। ध्यान की परिभाषा मन को आलम्बन पर टिकाना अथवा योग का निरोध करना ही है।[२४] साधना में मन लगा रहे, इसलिए इन्द्रिय जप को आधार-बनाकर एकाग्र सन्निवेश की सामग्री के रूप में ऊनोदरिका, रसपरित्याग, उपवास, स्थान, मौन, प्रतिसंलीनता, भावना, व्युत्सर्ग आदि का समावेश कर दिया गया।[२५] यह आचार्य की अपनी उद्‌भावना है। इतना ही नहीं, उन्होंने स्थान (आसान) को भी तीन भागों में विभक्त किया है – ऊर्ध्व, निषीदन और शयन के रूप में और इन्हीं के अन्तर्गत योग वर्णित आसनों का वर्णन किया है।

(६) इसी प्रकरण में ध्यान की समग्र सामग्रियों की परिभाषा एवं उसकी उपयोगिता प्रतिपादित की है। इसी क्रम में प्रतिसंलीनता का विवेचन किया है, जो योग के प्रत्याहार के समकक्ष प्रतीत होती है। जो जैनयोग का अपना पारिभाषिक शब्द है – जिसका भाव है, अशुभ प्रवृत्तियों से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का संकोच करना है। दूसरे शब्दों में स्व को अप्रशस्त से हटा प्रशस्त की ओर प्रयाण करना है। इसके चार भेद हैं[२६] – (१) इन्द्रिय–प्रतिसंलीनता (२) मन–प्रतिसंलीनता (३) कषाय प्रतिसंलीनता और (४) उपकरण प्रतिसंलीनता। **आचार्य तुलसी** ने – **"इन्द्रिय-कषाय-निग्रहो – विविक्तवासश्च प्रतिसंलीनता"**[२७] लक्षण किया है, जिसके अनुसार तीन रूप हैं। मन का अन्तर्भाव इन्द्रिय में कर दिया और उपकरण विविक्तवास का ही रूप हैं। इन्द्रियनिग्रह के उपाय के रूप में द्वादश भावना[२८] और मैत्री – प्रमोद – करुणा – मध्यस्था आदि चार भावना का[२९], कषायनिग्रह के लिए व्युत्सर्ग[३०] का निरूपण किया है। द्वादश भावना और व्युत्सर्ग जैन धर्म की अपनी विशेषता है। व्युत्सर्ग का आचार्य श्री ने विशेष विवेचन किया है।

(७) चतुर्थ प्रकरण में ध्याता, ध्यानस्थल, ध्यान के भेद, धारणा, प्रेक्षा का विवेचन किया। जहाँ पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत **आचार्य हेमचन्द्र**[३१], **शुभचन्द्र**[३२] और **श्री नागसेनमुनि**[३३] ने धारणा के पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तात्त्विकी (तत्त्वभू) के भेद से पाँच प्रकार माने, वहीं आचार्य ने धारणा के चार प्रकार ही माने।[३४] धारणा के बाद समाधि[३५] का विवेचन भी आचार्य ने इसी प्रकरण में कर दिया और लेश्या से अभिन्न बताया है।

(८) पंचम प्रकरण में प्राणायाम का २७ सूत्रों में विशद विवेचन किया जो उसके महत्त्व का सूचक है, जिसे जैनाचार्यों[३६] ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकरण में जिस कुशलता से आचार्य ने प्राणायाम के प्रकार, वर्ण स्थान, ध्वनि बीज, किस स्थान पर निरोध से क्या लाभ होता है ? आदि का विवेचन किया वह अपने आप में विशिष्ट हैं। प्राणायाम के लिए एक स्वतंत्र प्रकरण का प्रणयन इस बात को द्योतक है कि योगांगों में उसका कितना महत्त्व है। **आचार्य तुलसी** की दृष्टि में चित्त (मन) प्राणायाम से ही स्थिर होता है।[३७]

(९) षष्ठ प्रकरण में योगांगों में यम के नाम से प्रसिद्ध पञ्चमहाव्रतों[३८] की मीमांसा की गई है।

इनको साधना के साधन मानने के स्थान पर साध्य मान लिया गया है। आचार्य मन के नियमन से प्रारम्भ की गई यात्रा को ध्यान की सामग्री, ध्याता के भेद, धारणा, समाधि और प्राणायाम से बढ़कर पंच महाव्रतों और श्रमण धर्म[३९] के रूप में नियमों की सिद्धि तक ले आये हैं। इसी प्रकरण में समाधि से प्राप्त होने वाली '**अहं ब्रह्माऽस्मि**' की भावना के समान **ज्योतिर्मयोऽहं, आनन्दमयोऽहं, स्वस्थोऽहं, निर्विकारोऽहं, वीर्यवानऽहं**' – की भावना का उदय दिखाया, जो आत्मा के विकास की अन्तिम सीढ़ी है।[४०]

सप्तम प्रकरण में तो एक प्रकार से साधना से होने वाली फलश्रुति के समान जिन भावना का उदय[४१] और कार्योत्सर्ग का विवेचन किया है।[४२]

आचार्य तुलसी ने '**मनोऽनुशासनम्**' की रचना कर, जैन जगत् की एक अलौकिक योग दृष्टि का विकास किया है। आचार्य तुलसी का '**मनोऽनुशासनम्**' उसी प्रकार जैनयोग का सूत्रग्रन्थ सिद्ध होगा जिस प्रकार वैदिक योगदर्शन का सूत्रग्रन्थ पतञ्जलि का योगसूत्र है। इन्होंने **पतञ्जलि** की शैली अपनायी, उनके विषय भी लिये, परन्तु उन्होंने अपनी दृष्टि से अपने क्रम से प्रस्तुत किये हैं, एक तरह से उन्होंने योग का जैन तत्त्व-मीमांसा के आलोक में देखकर, तदनुरूप व्यवस्थित किया है, जो जैन एवं जैनेत्तर सभी साधकों के लिए उपयोगी है। **आचार्य तुलसी** पर **हेमचन्द्राचार्य** और श्री **नागसेन मुनि** आदि का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है, फिर भी उनकी अपनी सर्वातिशायी शेमुषीदृष्टि और सर्वकषाप्रज्ञा ने '**मनोऽनुशासनम्**' को एक नवीन रूप प्रदान किया है।

संदर्भ

१. संस्कृत – हिन्दी – शब्दकोष, वामनशिवराम आप्टे, पृ०१०९५

२. पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, जमनालाल जैन, जैन साधना का रहस्य, पृ०४१७-४१९

३. प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधि षडंग इत्युच्यते। ६/१८

४. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांगानि। योगसूत्र – २/२९

५. उत्तराध्ययनसूत्र, २८/२

६. मनोऽनुशासनम् – आचार्य तुलसी, पृ०१४

७. मिता तारा बाला स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नमामि योगदृष्टिनां लक्षणं च निबोधतः॥ योगदृष्टिसमुच्चयः-१४

८. आध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृतिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योगः, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ योगबिन्दुः, ३१

९. योगसूत्र – १/१,२

१०. *मनोऽनुशासनम्, १/१,२*

११. *मनोऽनुशासनम्–मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ), आमुख*

१२. वही,

१३. वही, आचार्य तुलसी, भूमिका

१४. मनोऽनुशासनम्, आचार्य तुलसी, भूमिका

१५. वही, १/२

१६. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र-१/२

१७. मनोऽनुशासनम्-१/११

१८. मूढ – विक्षिप्त-यातायातं – श्लिष्ट – सुलीन – निरुद्धभेद् मनः षोढा। मनोऽनुशासनम् २/१

१९. इहं विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च।
चेतश्चतुः प्रकारं तज्ज्ञचमत्कारकारी भवेत॥ १२/२

२०. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धिमिति चित्तभूमयः। योगसूत्र, व्यासभाष्य १/२

क्षिप्तं मूढं विक्षिप्त एकाग्रं निरुद्धं चित्तस्य भूमयः चित्तस्य अवस्थां विशेषाः। भोजवृत्ति – १/२

२१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योगसूत्र – १/१२

२२. (१) ज्ञान वैराग्यरज्जूभ्यां नित्यमुत्थवर्तिनः।
जितचितेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रियवाजिनः॥ तत्त्वानुशासनम् – श्लोक, ७७

(२) ज्ञान – वैराग्याभ्यां तन्निरोधः। मनोऽनुशासनम् – २/१६

२३. श्रद्धाप्रकर्षेण। शिथिलीकरणे न च। संकल्पनिरोधेन। ध्यानेन च।

गुरुपदेश – प्रयत्नबाहुल्याभ्यां तदुपलब्धिः। वही, २/१७ से २१ सूत्र

२४.

२५. ऊनोदरिका – रसपरित्यागोपवास – स्थान–मौन–प्रतिसंलीनता स्वध्याय–भावना–व्युत्सर्गास्तत् समग्रयम। वही, ३/२

२६. औपपात्तिकसूत्र, बाह्य तप अधिकार तथा व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, २५/७/७

२७. मनोऽनुशासनम्, ३/१३

२८. अनित्य – अशरण – भव – एकत्व – अन्यत्व – अशौच – आस्रव – संवर – निर्जरा – धर्म – लोक – संस्थान – बोधिदुर्लभता। वही, ३/१९

२९. मैत्री – प्रमोद – कारुण्य मध्यथताश्च। वही, ३/२०

३०. शरीर – गण – उपधि – भक्तपान कषायाणा विर्जनं व्युत्सर्गः। वही, ३/२२

३१. पार्थिवी स्यादथग्नेयी मारुति वारुणी।

तत्त्वभूः पंचमी चेति पिंडस्थे पंचधारणाः॥ योगशास्त्र, ७/९

३२. ज्ञानावर्णव, सर्ग - ३७

३३. तत्त्वानुशासनम्, श्लोक – १८३/१८७

३४. पार्थिवी – आग्नेयी – मारुति – वारुणीति चतुर्थ । वही, ४/१६

३५. शुद्धचैतन्यानुभवः समाधिः । विकल्पशून्यत्वेन चित्तस्य समाधानं वा । संतुलनं वा । मनोऽनुशासनम्, ४/२७ से २४

३६. सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्ते ।
मुनिभिर्ध्यानसिद्धयर्थ स्थैर्यार्थ चान्तरात्मनः ॥ ज्ञानार्णवः, २९/१

३७. स्थिरी भवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् । वही, २९/१४

३८. सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम् । मनोऽनुशासनम्, ६/१

३९. क्षमा – मार्दव – आर्जव – शौच – संयम – तपस्त्याग – आकिंचन्य – ब्रह्मचर्याणि श्रमणधर्मः ॥ वही, ६/१५

४०. मनोऽनुशासनम्, ६/२७

४१. वही, ७/१-५

४२. वही, ७/६-९

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर के निदेशक प्रो. जितेन्द्र बी. शाह भारतीय धर्म एवं दर्शन के विद्वान हैं, आपने एम.ए. एवं पीएच.डी. (भारतीय दर्शन एवं विश्व के धर्म) तथा जैन दर्शन में आचार्य की उपाधियाँ प्राप्त की है। आपका द्वादशारनयचक्र एक समीक्षात्मक अध्ययन सहित दर्शनशास्त्र की विविध शाखाओं में १४ संशोधन परक ग्रंथों, ५० संपादित ग्रंथों तथा लगभग ७० शोधलेखों का भारतीय विद्या के क्षेत्र में योगदान रहा है।

प्रो. शाह १९९८ से बी. एल. इन्स्टिट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली के वाईस-चेयरमेन सहित देश एवं विदेश के एक दर्जन शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्थानों में सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं।

जैन धर्म में पर्याय की अवधारणा
Pages : 8 + 202
Price: Rs. 300/-
ISBN : 81-85857-53-9

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर
अहमदाबाद